संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कवि का सर्जन पक्ष. एक समीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
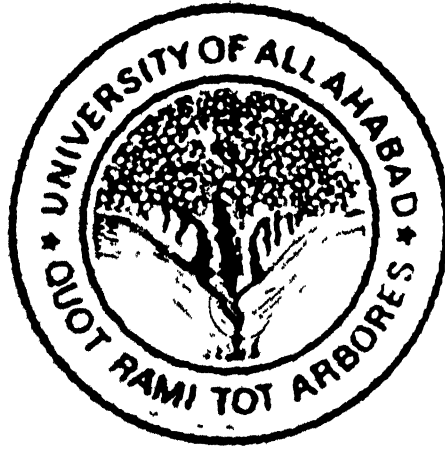
पर्यवेक्षक
डॉ० हरिदत्त शर्मा
संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्यभाषा-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ०प्र०)

प्रस्तोता
गया प्रसाद दूबे
अस्थायी प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
फिरोज गाँधी कालेज
रायबरेली (उ०प्र०)

2003

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

समर्पण

नत्वा स्वौ पितरो पूज्यौ,

सावित्रीं च सभापतिम् ।

वाग्देवीपुष्परूपोऽयं,

प्रबन्धः सुसमर्प्यते।।

कवि-सर्जनसम्बद्धः

शोधग्रन्थः सुयोजितः।

मातृ-पितृ प्रसादेन

साधना फलिता मम।।

गया प्रसाद दूबे

आत्म-विवृति

काव्य-सर्जना कवि के अन्तर्मन का वह स्वच्छ दर्पण है जिसमे उसका सम्पूर्ण मानस-व्यापार सहज ही दृष्टिगोचर होता है। शाश्वत संचरणशील जगत् के प्रतिक्षण अभिनव परिवर्तन से कवि की संवेदना एवं अनुभूति निरन्तर प्रवर्धित होकर शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होती हुई सरस्वती-भण्डार के अक्षयकोष को संपुष्ट करती रही है। कवि के विशाल एवं विलक्षण काव्य-जगत् को देखकर उसके रहस्य को जानने का कौतूहल ही मेरे इस शोध का निमित्त बनकर फलितार्थ हुआ। जगत् मे नित्य-प्रति दृष्टिगोचर होने वाली स्थूल से सूक्ष्म क्रियाओ की आन्तर अनुभूति कर उसकी अद्भुत अभिव्यक्ति मे समर्थ कवि सामान्यजन से किन अर्थो मे भिन्न होता है? उसकी भिन्नता के मूल तत्त्व को उद्भावित करने की परम आवश्यकता महसूस होती रही। अस्तु, इसका सम्यक् विचार इस शोध मे किया गया है। सर्जनात्मकता किस रूप मे कवि मे निहित होती है? इस दृष्टि से भी स्वतन्त्र रूप से इस प्रबन्ध मे प्रकाश डाला गया है।
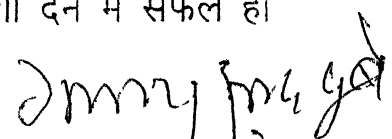
वस्तुतः काव्य-सर्जना जैसे विश्वविश्रुत एवं गम्भीर विषय का तत्त्व-विमर्श काव्य धारा के आदिमकाल से होता रहा है। शब्दब्रह्म के रमणीयरूप एवं अर्थविवर्त के आकार मे स्थित काव्य-पुरुष को वाग्देवता के आलोक मे आबद्धकर उसके स्वरूप बोध का प्रयास भारतीय आचार्यो की निर्मल प्रज्ञा का परिचायक है। आत्माभिव्यक्ति की जिस सहज प्रेरणा से अनुप्रेरित होकर कवि अपने स्वसंविद् को प्रतिभाप्रकर्ष द्वारा शब्दार्थ रूप प्रदान करता है, उसी की सहजानुभूति से प्रेरित होकर वह अपनी सर्जना का तत्त्वविश्लेषण भी करता है। अतः काव्य-सर्जना का स्रष्टा होने के साथ-साथ वही इसका प्रथम

आस्वादयिता भी है। अतः कवि की काव्य-निर्झरिणी मे आकण्ठ डूबकर भारतीय आचार्यो ने अपनी प्रज्ञा द्वारा उसका जो प्राशस्त्य प्रस्तुत किया उसके दो पक्ष मूल रूप मे सामने आये- सर्जनापक्ष और आस्वादनपक्ष। कवि काव्य की सर्जना करता है और सहृदय उसका आस्वादन।

संस्कृत-काव्यशास्त्र की महती परम्परा मे दीर्घकाल तक काव्य की आत्मा का अन्वेषण होता रहा। इस प्रक्रिया मे रस-सिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त जैसी व्यापक अवधारणाये सामने आयी, परन्तु उनमे काव्य के आस्वादोन्मीलन का पक्ष अधिक प्रबल रहा है। कवि के काव्य-सर्जन-प्रक्रिया पर चर्चा तो हुई परन्तु परिमित क्षेत्र मे। अनेकशः आचार्यो ने काव्य के लक्षण, हेतु, प्रयोजनादि पर स्वाभिमत प्रस्तुत किये, पर काव्य-सर्जन-प्रक्रिया का उतना गहन चिन्तन नही हुआ। कविशिक्षा, कविसमय, कविचर्या जैसे विषयो का व्यापक परिशीलन हुआ। इस प्रकार काव्य-निर्माण के विविध पक्षो का सम्यक् आलोडन हुआ, परन्तु काव्य के मूल मे निहित कवि की सर्जन-प्रक्रिया के गहन बिन्दुओ पर विचार की आवश्यकता अनुभूत होती रही।

कवि का कर्म काव्य की प्रक्रिया क्या है? क्या कोई एक प्रक्रिया है जिसका परिणाम काव्य है अथवा यह विभिन्न क्रियाओ के योग का परिणाम है? सर्जक-मन क्या होता है? उसके सर्जना की प्रक्रिया क्या है? क्या यह मात्र शब्दार्थ-व्यापार है अथवा कवि का अहं है? आखिर सर्जनात्मकता है क्या चीज? इसके अन्तः और बाह्य कारण कौन-कौन से है? क्या बाह्य परिस्थिति सर्जनात्मकता मे साधक या बाधक होती है? आदि सर्जनात्मकता से जुड़े ऐसे गम्भीर प्रश्नो का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास इस शोध के माध्यम से मैने किया है। कवि की अन्तर्दृष्टि जिसके द्वारा वह वस्तु मे निहित अन्तश्तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, वह आती तो एक क्षण मे ही है, किन्तु उसके पहले लम्बे अभ्यास की जरूरत होती है।

लगकर सम्पन्न किया। अल्पसमय मे इसकी पूर्णता हेतु मै डॉ० शर्मा का आजीवन कृतज्ञ रहूँगा, जिनकी प्रखर मेधा के आलोक मे शोध-विषय की जटिलाएं मुझे सहज ही अववोधित हुई, और उनके सहयोग से मैने उन पर सम्यग् विचार किया, मै डॉ० सुरेशचन्द पाण्डेय के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होने शोध के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को सरल बनाया। मै अपने विभागाध्यक्ष डॉ० इन्द्रदेव द्विवेदी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जो इस कार्य को शीघ्रातिशीघ्रपूर्ण करने हेतु मुझे सतत् प्रेरित करते रहे और यथावसर कालेज से शोध हेतु अवकाश प्राप्ति मे मेरा सहयोग करते रहे, इसे पूर्ण कराने मे प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद लखनऊ, गंगानाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद आदि पुस्तकालयो के कर्मचारियो का प्रशंसनीय योगदान रहा। मै उनका आभारी हूँ। मै अपने ममतामयी माता और आदर्श की प्रतिमूर्ति पिता का आजीवन आभारी रहूँगा जिनकी सतत् त्याग और तपस्या के समन्वित योग से प्रेरित होकर मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और मै अपने अध्ययन को एक दिशा देने मे सफल हो सका।

गया प्रसाद दूबे

विषय-सूची

अध्याय - 9

कवि और काव्य

अध्याय-१

कवि और काव्य

'कवि और सहृदय'

अन्तः सम्बन्ध और प्रक्रियाभेद

काव्य के दो पक्ष है- कारकपक्ष और भावकपक्ष। यदि कारकपक्ष के मूल मे कवि बैठा है, तो भावकपक्ष का केन्द्र-बिन्दु सहृदय है। दोनो काव्य के अन्योन्याश्रित आधार स्तम्भ है। **'कवेर्भावः काव्यम्'** कवि का भाव काव्य कहलाता है, और काव्य का परम प्रयोजन है- सहृदयहृदयाह्लाद। कवि अपनी कारयित्री प्रतिभा के सहारे काव्य का सर्जन करता है, अपने प्रातिभचक्षु के द्वारा मूर्त-अमूर्त का साक्षात्कार कर शब्दतूलिका से उसका उन्मीलन करता है तो सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभा के बल पर कवि के शब्दार्थमय चित्रण के अन्तर्निहित आनन्द का आस्वादन करता है। अतः कवि का अन्तस् काव्योत्पत्ति का मूल है तो सहृदय उसकी परमप्रयोजन की सिद्धि का अविनाभावी घटक। इसी आशय से आचार्य अभिनवगुप्त ने दोनो को एक ही सारस्वततत्त्व का अंग स्वीकार किया है।

सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयते।[१]

कवि शब्द **'कवृवर्णने'**, **'कु वर्णे'** अथवा **'कुङ् शब्दे'** धातु से **'इ'** प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है- वर्णनकर्ता।[१] 'भट्टतौत' ने

---

१ ध्वन्यालोक लोचन टीका मगलश्लोक

भी कवि को 'वर्णनानिपुण' कहा है।[2] और उसका कर्म काव्य बताया है, अत कवि का प्रधान कार्य वर्णन है। मम्मटाचार्य के मत मे 'काव्य' लोकोत्तरवर्णना म निपुण कवि का 'कर्म' होता है।[3] वह क्रान्तदर्शी होता है- **'कवयः क्रान्तदर्शिनः'** कवि वस्तु के अन्तर्निहिततत्त्व, धर्म, उसके विचित्रभाव को तत्स्वरूप से जानकर उसका लोकोत्तरवर्णन करता है। कवि की अन्त अनुभूतियो की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य है। ये अनुभूतियॉ प्रथमत सहृदय की ही भॉति कवि-हृदय मे आकर उसके द्वारा अभिव्यक्ति का मार्ग पाती है, परन्तु लौकिक अनुभव के समय कवि भी सहृदय की भॉति वस्तुओ एवं विषयो का ग्राहयिता होता है। कवि इन विषय-वस्तुओ का सर्वप्रथम दर्शन करता है तत्पश्चात वर्णन। अत कवि संज्ञा लोक मे **'दर्शन'** और **'वर्णन'** के कारण एक विशिष्ट अर्थ मे रूढ़ है।[4] पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय विद्वानो ने भी कवि के दार्शनिकपक्ष को अंगीकार किया है। 'कॉलरिज' का मानना है कि 'कोई व्यक्ति तब तक महान् कवि नही बन सकता जब तक कि वह महान् दर्शनिक न हो'।[5]

काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। सुख-दुःख मोहरूपात्मक जगत् की मार्मिक अनुभूति सहसा जब मानव-मानस को

---

१ कविशब्दश्च 'कवृवर्णने' इत्यस्य धातो, काव्यकर्मणो रूपम्। - काव्यमीमासा, अध्याय-३

२ तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुण कवि।।
तस्य कर्म स्मृत काव्य . । - हेमचन्द्र-काव्यानुशासन् पृ० ३

३ यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म। - काव्य प्रकाश १/२ वृत्तिभाग

४ स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठित कवि।
दर्शनात् वर्णनाच्चापि रूढा लोके कविश्रुति।।
- भट्टतौत-काव्यानुशासन, पृ० ३९७

५ No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound Philosopher - Coleridge

उद्वेलित करती है तभी वह इन अनुभूतियो से संपृक्त होकर अपने भावो को प्रकट करता है। कवि के बाह्यनिर्गत उद्बुद्ध भाव काव्यधारा रूप मे प्रवाहित होने लगते है। 'भाव रससिक्त होकर, शाब्दिक कलेवर लेकर लोक के समक्ष प्रकट हाते है। तभी तो तमसा के तट पर व्याध के बाण से विद्ध क्रौञ्ची को देखकर एवं क्रौञ्च के करूणक्रंदन को सुनकर निर्विकारचेता आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के अन्तश्तल से करूणा छन्दोमयी वाणी के रूप मे छलक पड़ी।

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहिम् ।।[१]

यहाँ किस प्रकार **क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ** शोक काव्योचित सर्जनात्मक रूप मे परिणत होता हुआ श्लोक रूप मे छलक पड़ा।[२] निश्चय ही तथाविध लौकिक शोक मुनि के रूप मे विकसित व्यक्ति से टकराने के कारण सर्जनात्मक हो पाया। काव्य के बाह्याभिव्यक्ति के क्रम मे यद्यपि मानसी साक्षात्कृति का पुनः रूपान्तरण होता रहता है फिर भी कवि की मूल संवेदना मे अन्तर नही आता है। कवि अपनी मानसीसाक्षात्कृति को बाह्यरूप देने के लिए सर्जनात्मक व्यापार मे प्रवृत्त होता है। इस क्रिया के द्वारा वह अपने भावो एवं संवेदनाओ को भाषा से संश्लिष्ट कर देता है, परन्तु कवि के इस रसभावमय काव्य की सार्थकता तभी है जब वह सहृदय के हृदय मे यथावत् पुनः विराजमान हो जाय। सहृदय का आस्वाद ही काव्य की कसौटी है। आचार्य आनन्दवर्धन कहते है कि सहृदय के हृदय का आह्लादन ही काव्य तत्त्व है।[३] उनके मन की प्रसन्नता हेतु ही उन्होने काव्य स्वरूप को उद्घाटित

---

१ आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक कारिका १/५ वृत्ति

२ शोक श्लोकत्वमागतः। - ध्वन्यालोक, कारिका-५

३ सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । - वही कारिका-१, वृत्तिभाग

किया है 'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्' ।[१] यही कारण है कि पश्चिम मे काव्य कविप्रतिभाव्यापारगोचर होता है तो वह भारत में सहृदयचर्वणागोचर माना जाता है।

'सहृदय' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- समान हृदय वाला। कवि हृदय के साथ संवाद-साम्य, एकरूपता धारण करने वाला व्यक्ति ही सहृदय पद का अधिकारी है- **'स्वस्य हृदयं संवादः संवादकं प्रमाणकं तद्भजति',**[२] अथवा सहृदय वह है जो अपनी संवादशालिता के कारण कवि हृदय को आत्मसात कर ले- **स्वस्मिन् हृदय कविहृदयं संवादकत्वेन भजति।**[३] काव्य पढ़ते समय हृदय का हृदय कविहृदय के साथ इतना साम्य रखता है कि स्फुट तथा प्रकीर्णपद्यो के श्रवणमात्र से ही उसे रसप्रतीति होने लगती है। आचार्य भरत ने रस को अथर्ववेद से लिया है।[४] वहाँ पर 'सहृदयं सांमनस्यविद्वेषं कृणोमि वः' पंक्ति मिलती है।[५] इस पंक्ति मे सहृदय का अर्थ 'समान हृदय' ही है। काव्यास्वाद के सन्दर्भ मे नायक कवि और श्रोता अनुभवसाम्य की दृष्टि से समान हृदय कहे जाते है।[६] नाट्यशास्त्र मे सहृदय के लिए **'सुमनस्'** शब्द का प्रयोग मिलता है।[७] नाटक लोकधर्मी होने के कारण प्रेक्षक की अपेक्षा रखता है। प्रेक्षक भावानुभावव्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न रस का मानसा आस्वादन कर हर्षादि को प्राप्त करते है।

---

१ ध्वन्यालोक कारिका-१

२ ध्वन्यालोक लोचन, टीका बालप्रिया, पृ०-३०८

३ ध्वन्यालोक लोचन, बालप्रिया, पृ०-३०८

४ रसा नाथर्वणादपि- नाट्यशास्त्र - १/१७

५ अर्ववेद संहिता- चतुर्थ संस्करण काण्ड-३ सू० ३० मन्त्र १

६ नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।
- ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा संस्करण, पृ०९३

७ भरत-नाट्यशास्त्र, ६/३१ वृत्ति

इस प्रकार 'सहृदय' शब्द वैदिक काल से लेकर भरत, भामह, दण्डी, वामन तक मे भले ही प्रयोग मे रहा हो, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' मे उसे एक नया अर्थ प्रदान कर ध्वनिकाव्य का अधिकारी स्वीकार किया है। सहृदयता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते है कि- "क्या रसभाव की अपेक्षा के बिना ही काव्याश्रित संकेत विशेष का ज्ञान रखना ही सहृदयत्व है, अथवा रसभावमय काव्य के स्वरूप परिज्ञान की निपुणता? द्वितीय पक्ष मे रसज्ञता का नाम ही सहृदयत्व है"।[१]

क्योकि रसज्ञ होने के कारण ही काव्यार्थ मे निहित व्यंङ्गयार्थ सहृदयो की तत्त्वदर्शनसमर्थ बुद्धि मे झटिति अवभासित हो जाता है।[२] आचार्य अभिनवगुप्त के मत मे सहृदय वह है जिसका मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से नितान्त विशद हो जाता है। जिससे वह वर्णनीयवस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है।"[३]

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे

वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता तेस्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

कवि की सूक्ष्म भावनाओ को अपनी बना लेने के लिए सहृदय को अपनी दृष्टि तेज बनानी पडती है। अन्तःकरण को वशवर्ती रखना पड़ता है। कवि का भाव हमेशा उक्ति की परिधि से बाहर होता है, उसकी वह केवल शब्दो के माध्यम से सूचना भर दे देता है। कवि के सम्पूर्ण उक्त-अनुक्त भावो

---

१ किमिदं सहृदयत्त्वं नाम। किं रसाभावानपेक्षकाव्याश्रित-समयविशेषाभिज्ञत्वम् उत् रसभावादिमयकाव्य-स्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। 'द्वितीयेस्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। - ध्वन्यालोक ३/१६ वृत्ति

२ तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ विमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।। - ध्वन्यालोक १/१२

३ ध्वन्यालोक लोचन १/१

की कल्पना सहृदय को करनी पड़ती है। अतः इसके लिए सहृदय मे प्रतिभा होनी चाहिए। रसास्वाद के योग्य कौन है? इस सन्दर्भ मे स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त कहते है-

'अधिकारीचाऽत्रविमलप्रतिभाशाली सहृदयः।'[1]

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने कविप्रतिभा के साथ सामाजिक की प्रतिभा को स्वीकार कर न केवल सामाजिक के अनुभव को कवि के समान सिद्ध किया है वरन् उसे रस का आधार मानकर कवि की समकक्षता प्रदान की है। कवि की मूलअनुभूति पाये बिना, उसके प्रातिभ आवेश को अपने मे प्रस्फुरित किये बिना, रस की सिद्धि नही होती है।[2] अतः कविप्रतिभा का कार्य सृष्टि है तो सहृदयप्रतिभा का कार्य अनुसृष्टि। यदि कविप्रतिभा उसके अन्तः अनुभूतियो को आस्वादमय रसभावरूप अर्थतत्त्व मे प्रवाहित करती है,[3] उसे छान्दस् वाणी प्रदान करती है तो सहृदय प्रतिभा के बल पर कवि भावो के अन्तः मे प्रविष्ट हो उस प्रतीयमान अर्थतत्त्व का आस्वादन कर उससे चमत्कृत होता है। राजशेखर ने सहृदय की इस प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा के नाम से अभिहित किया है।

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च।

कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री ....

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रमाभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरूः।[4]

---

[1] अभिनवभारती भाग-१, पृ० २७९

[2] प्रतिपतृन प्रति सा प्रतिभा न अनीयमाना अपितु तदावेशेन भासमाना।
- ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २९

[3] ध्वन्यालोक १/६

[4] काव्यमीमांससा अध्याय- ४, चौखम्बा प्रकाशन, तृतीय सस्करण, पृ० २७

भावयित्री प्रतिभा कवि के परिश्रम तथा अभिप्राय का मूल्यांकन करती है। उसी के आश्रय से कवि का काव्य-व्यापार रूपी वृक्ष फलता है, अन्यथा काव्यवृक्ष बन्ध हो जाता है। कवि और भावक दोनो की प्रतिभा से काव्य पूर्ण होता है।[१] आचार्य मम्मट ने सहृदय के लिए 'प्रतिभाजुष' शब्द का प्रयोग किया है।[२] इस पद की व्याख्या मे 'काव्यप्रदीपकार' का कहना है कि "व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभावानो को ही होती है। प्रतिभा को वासना भी कहते है। सहृदय अपनी वासना के बल से ही काव्यार्थ रूपी समुद्र मे अवगाहन कर रसरूप मोती का अन्वेषण करता है, जिसकी प्राप्ति होने पर वह आह्लादित हो उठता है।[३]

सहृदय नाटक के श्रवण मात्र से आनन्द की अनुभूति कर लेता है। वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता के क्षण मे उसकी चित्तदशा और कवि की चित्तदशा का अन्तर मिट जाता है। उसके चित्त की संकोच परिधि टूट जाती है। स्व-पर भाव विगलित हो जाता है, तथा वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होकर वह काव्यजगत् मे तल्लीन हो, कवि भावो मे निमग्न होकर रसास्वादन करता है। हृदय की यह योग्यता एक-दो दिन मे नही आती है तदर्थ काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास अपेक्षित है और वह इस अभ्यास मे कालगत 'दैर्घ्य' और 'नैरन्तर्य' होना चाहिए,[४] परन्तु अभिनवगुप्त के मत मे अभ्यास

---

१ वक्तृप्रतिपतृप्रतिभासहकारित्वं हि अस्माभि द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम् ।
- ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १९

२ काव्यप्रकाश तृतीय उल्लास कारिका २१, सू० ३७

३ प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा। या वासना इत्युच्यते।
- काव्यप्रदीप, पृ० ४९

४ योगदर्शन पतञ्जलि सं० १४

ही पर्याप्त नही है, अपितु प्राक्तनपुण्य का परिपाक भी अपेक्षित है।[१] अतः सहृदयता के उन्मेष मे अभ्यासनैर्मल्य के साथ-साथ विमल प्रतिभाशालित्त्व का मञ्जुल समन्वय होना चाहिए।

कवि अपने काव्य का अनुभव करता है या नही यह एक विचारणीय प्रश्न है? इस सन्दर्भ मे दो बाते उभरकर सामने आती है- एक तो यह कि **कविता रसमाधर्यं रसिको वेत्ति नो कविः** अर्थात् क्या काव्य का स्वाद केवल रसिक ही जानता है उसके रचयिता कवि के भाग्य मे वह नही। सारा परिश्रम कवि का और उसका फल औरो को प्राप्त हो, यदि इतना ही इसका तात्पर्य है तो मानना कठिन है, किन्तु पढ़कर अपने काव्य का आस्वादन करते समय वह कवि नही रहता, अपितु एक भावक बन जाता है, क्योकि यदि कवि को रसानुभूति न हो तो काव्य मुखरित ही नही होगा। उसी अनुभूति के प्राप्ति की अभिलाषा सहृदय को होती है।

कवि की प्रथम भावना जब शब्दो मे रूपायित होकर काव्य का स्वरूप धारण करती है तो उसमे कवि की मूल अनुभूतियो से किञ्चिद् अन्तर होता है। अतः रचना समाप्त होने पर सम्पूर्ण काव्य के कुछ अंशो की कवि को उसी प्रकार से नवीन प्रतीति होती है जिस प्रकार सहृदयो को उस काव्य की नवीन प्रतीति हुआ करती है। इसी दृष्टि से कवि अपने सम्पूर्ण काव्य का एक भावक के रूप मे आस्वादन करता है। प्राचीन आचार्य कहते है- कवि और भावक मे भेद नही, क्योकि कवि भावक है और भावक भी कवि होता है।[२] इन दोनो के मेल से काव्य बनता है इसके एक छोर पर कवि रहता है तो दूसरे पर सहृदय विराजमान है। दोनो की स्तुति करने वाले आचार्य कुन्तक

---

१ प्राक्तनपरिपाकि प्रौढा प्रतिभा काचिदेव शक्तिः। - अभिनवभारती भाग १, पृ० २८६

२ कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः। - राजशेखर काव्यमीमांसा, अध्याय- ४

का मानना है कि पदार्थो मे छिपे हुए सूक्ष्म, सुन्दर तत्त्व को एक वाणी द्वारा बाहर खीचता है तो दूसरा केवल वाणी द्वारा ही नूतन और मनोहर रूप का निर्माण करता है पर जो इन दोनो के परिश्रम का अहसास करके उसके भार को उतारता है उसकी मै और अधिक वन्दना करता हूँ।[१]

इस प्रकार प्राचीन आचार्यो ने कवि एवं भावक मे तत्त्वतः अभेद स्वीकार किया है क्यो कि उनके काव्यचिन्तन के मूल मे रसास्वाद मुख्य रूप से लक्ष्य रहा। यह आनन्दवादी रसास्वादमूलक कल्पना उनके अभेद की मूलवर्तिनी कही जा सकती है जिसकी प्रक्रिया मे दोनो समान प्रक्रिया के द्वारा गुजरते है। उनके सम्बन्ध मे बुद्धि की प्रधानता तो इसलिए हो गयी है क्योकि उन्होने सुकवि एवं महाकवि तद्विद एवं सुमेधस को दृष्टिपथ मे रखा। उत्तम काव्यरचना पढ़ते समय भावक के हृदय मे जो प्रकट गूढ़ एवं विचित्र भाव उत्पन्न होते है उन्हे ब्रह्मा ने भी नही देखा। अतः वे कहते है कि कुछ भावक वाणी द्वारा अपने भाव प्रकट करते है कुछ हृदय द्वारा तथा शारीरिक एवंमानसिक चेष्टाओ द्वारा उन्हे व्यक्त करते है।[२]

अतः सहृदय काव्य का अभिन्न अंग ही नही, अपितु कवि तुल्य है। उसे एक ओर अभिनवगुप्त **'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव'** कहते है तो दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान 'ज्यॉपाल सात्र' ने अपनी पुस्तक **'ह्वाट इज लिटरेचर'** मे लेखक का प्रतिरूप स्वीकार किया है जो लेखक के समान ही सर्जन करता है।

---

१ लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्व गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वाक्पतिः।
वंदे द्वावपि तावहं कवितरौ वंदेतरा तं पुनः
र्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः।। - वक्रोक्तिजीवित २/१०७

२ वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः।
सात्विकैराङ्गिकैः कचिदनुभावैश्च भावकः। - काव्यमीमांसा, अध्याय-४

कवि शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

कवि शब्द की उत्पत्ति **'कु वर्णे'** अथवा **'कुङ्शब्दे'** धातु से **'इ'** प्रत्यय करके लघूपध को गुणादेश एवं अवादेश से होती है।[१] काव्यमीमांसाकार राजशेखर के मत मे कवि शब्द 'कवृ वर्णे' धातु से निष्पन्न होता है अतः वह कवि का अर्थ 'वर्णनकर्त्ता' मानते है।[२] दूसरे शब्दो मे 'काव्यकर्म' अथवा 'काव्यरचना'। **'कवेर्भावः काव्यम्'** कवि का भाव काव्य कहलाता है। व्याकरणशास्त्र मे कवि का कर्म 'काव्य' पद वाच्य है।[३] कोष मे कवि पद का अर्थ 'पण्डित' किया गया है।[४] अतः योग तथा रूढ़ दोनो की समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करने पर किसी भी वस्तु का वर्णनकर्ता ही 'कवि' पद का अर्थ सिद्ध होता है। भट्टतौत ने भी 'काव्यकौतुक' मे कवि को 'वर्णनानिपुण' कहकर उसका प्रधान कर्म 'काव्य' बताया है।[५]

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता।

तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।

तस्य कर्म स्मृतं काव्यं .....।

---

१ कु+इ= क् ओ+इ 'पुगन्तलघूपधस्य च' - लघुसिद्धान्तकौमुदी ७/३/८६
क्+अव्= कवि, एचोऽयवायावः - वही ६/१/७८

२ कवि शब्दश्च 'कवृवर्णने' इत्यस्य धातोः काव्य कर्मणो रूपम् ।
काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते।
- काव्यमीमांसा, अध्याय-३

३ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च इति ष्यञ् ।

४ संख्यावान् पण्डितः कविः (अमरकोष)

५ हेमचन्द्र 'काव्यानुशासन पृ०-३ काव्यप्रकाश माणिक्य चन्द्र का 'संकेत' व्याख्यान, पृ० ७

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वज्ञ परमात्मा को कवि कहा गया है।[१] इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित का वर्णन करने वाले वाल्मीकि को आदिकवि की पदवी दी गयी। तदनन्तर महाभारत एवं पुराणो के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये। इस प्रकार प्राय पुराणयुग तक सभी सुन्दर-असुन्दर वर्णन करने वाले विद्वानो मे कवि पद का प्रयोग होता रहा है अतएव राजनीति के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि संज्ञा प्रदान की गयी।[२]

किन्तु पुराणोत्तर काल मे वर्णयितामात्र को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गयी। अब चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाले को कवि कहा जाने लगा, अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पद का अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके रसभावपूर्ण चमत्कारमयवर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओ के मानस मे परमानन्द की रूचिरवीचियॉ उठने लगती थी। आचार्य आनन्दवर्धन ने मुख्यरूप से रसादि को काव्य का विषय बनाकर उसके अनुरूप शब्दार्थ रचना को ही महाकवि का मुख्य कार्य बताया।[३] इसी लिए छन्दोबद्ध ग्रन्थो का प्रणयन करने पर भी मनु, याज्ञवल्क्य आदि को कविपद का सौभाग्य प्राप्त नही हो सका।

मम्माटाचार्य के मत मे कवि का प्रधान कर्म वर्णन है एवं रस के साधक व्यञ्जनव्यापार की प्रधानता वाले लोकोत्तरवर्णन मे निपुण कविकर्म काव्य होता है।[४] किसी वस्तु के यथावस्थित रूप के वर्णन मे कवि के कवित्व

---

१ कविर्मनीषी परिभू स्वयभू (शुक्लयजुसंहिता म० ४० म० ८)

२ उशना भार्गव कवि (अमरकोष)

३ वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवे:।। ध्वन्यालोक ३/३२

४ रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्
काव्यं लाकोत्तरवर्णना निपुण कविकर्म ।। - काव्यप्रकाश, १/२ वृत्ति

का पर्यवसान नही होता है, प्रत्युत उसके वर्णन मे लोकोत्तरता का, आतिशय का पुट वर्तमान होना चाहिए। अत॰ किसी वस्तु या घटना का लोकोत्तरवर्णन कवि का प्रधानकर्म सिद्ध होता है। कवि का यह वर्णन लोक से उत्तर अलौकिक अथवा रस के उद्बोध मे समर्थ होना चाहिए। उसके वर्णन मे रमणीयता हो, जिसके ज्ञान से सहृदयो को लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति हो।[१] उसके प्रत्येक पद मे नित्यनूननता एवं विलक्षणता होना अनिवार्य है,[२] क्यो कि बिना लोकोत्तरवर्णन के कवि का वास्तविक रूप विकसित नही होता।[३] कवि का यह कर्म उसकी सूक्तियो में कुछ अलग ही भासित होता है, जिसके कारण नानाविध कविपरम्पराशाली इस संसार मे दो-तीन अथवा पांच-छः कवि ही गिने जाते है।[४] कवि काव्य का विधाता होता है। इसलिए आचार्य कुन्तक काव्य मे कविव्यापार की प्रधानता स्वीकार करते हुए इसे **'वक्रकविव्यापार'** तथा **'कविव्यापारवक्रता'** के नाम से अभिहित करते है।[५]

कविसृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ होता है। वह एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपभोग करता है, और जब वह उन्मत्त हो जाता है तब उसके प्रलापरूप मे उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसाद सहृदयजनो को मिल जाता है। वह प्रलाप ही काव्य है। कवि

---

१ रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।
पण्डितराजजगन्नाथ-रसगङ्गाधर प्रथमानन

२ पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः। - शिशुपालवध ४/१७

३ The doet does not mesly show the way but giveth so sweet a prospect into the way as will entice any man to euter into it sideny (Apologay for poetry)

४ येन्नास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा एव वा महाकावय इति गण्यत्ते। - ध्वन्यालोक १/६ वृत्ति

५ वैदग्ध्यं विदग्धभाव कविकर्मकौशल तस्य भङ्गी विच्छित्ति तया भणिति
- वक्रोक्तिजीवित १/१० वृत्ति

शब्दो को नही गढ़ता अपितु उसके ललित गुम्फनमात्र को रचता है; तथापि ललित गुम्फन से युक्त पदावली कविकर्म कहलाती है, क्योकि जगत् मे ऐसी कोई प्रतीति नही है जिसके पीछे शब्द न लगा हो । हमारे अन्तर्मन मे अर्थ की चाहे जितनी गरिमा हो, पर बाहर जब अभिव्यक्ति का क्षण आता है तब उसकी गरिमा शब्दो के अक्षरो मे विलीन हो जाती है। काव्य मे कवि शब्दार्थ ही के साथ ही प्रवृत्त होता है। अर्थ प्रकाश्य अवश्य है, पर वह शब्द की ज्योति मे भासित होता है। दण्डी ने ठीक ही लिखा है कि 'यदि शब्द की ज्योति संसार मे दीप्त न होती तो यह तीनो लोग गहरे अन्धकार मे डूबे रहते।[१] परन्तु सारा जगत् यं॰ भासमान हो रहा है मानो शब्दो के साथ गूँथा हुआ हो क्योंकि संसार मे ऐसा कोई ज्ञान नही है जो बिना शब्द के जाना जा सके। अत॰ संसार का सारा ज्ञान और विज्ञान शब्द मे समाया हुआ है और वही से उसकी प्रतीति होती है।[२]

अमूर्त अर्थ को शब्दो के माध्यम से मूर्त शरीर प्राप्त करवाना ही कवि का कार्य है। कवि स्वयं जो दृश्य दर्शन करता है, उसे शब्दो मे सॅजोकर जब तक स्वयं वह अपने हृदय मे आलोडन नही कर लेता तब तक सच्चा कवि नही बन सकता। शायद यही कारण है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने महाकवियो को शब्दार्थ के भलीभॉति पहचानने की सलाह दी है।[३]

भाषावैज्ञानिको का मत है कि 'कवि' शब्द तथा अंग्रेजी की 'T0 Show' धातु का मूल एक ही है। कवि ने अगर खुद कोई तत्त्व देख लिया

---

१ इदमन्धं+तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसार न दीप्यते।। - काव्यादर्श- १/४

२ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य॰ शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते।। - वाक्यपदीय १/१३२

३ यत्नत॰ प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे॰। - ध्वन्यालोकः का० १/८

हो तो काफी नही है, प्रत्युत वह उसे वाणी के द्वारा औरो को बताने मे समर्थ भी होता है। सामान्यजन से कवि इसी अर्थ मे भिन्न होता है। कवि वह होता है, जो सब कुछ देखता है; वह अतीव को देखता है **'कविः क्रान्तदर्शी सर्वद्दक्।'** किसी वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान हुए बिना कोई कवि नही हो सकता। अतएव वस्तु को अनावृत कर उसके मूल तक पहुँचना परमावश्यक होता है। इसके बिना तो वह **'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता'** बनकर इधर उधर से आकृष्टकर कविता की काया को विशालता प्रदान करने वाला तुक्कड़ है, जो वस्तु की ऊपरी सतह पर तैरता रहता है तथा उसके तात्त्विक अन्वेषण मे असमर्थ हो जाता है। अतएव वर्णन के साथ दर्शन भी कवि के लिए अनिवार्य है, परन्तु द्रष्टा होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक कवि नही होता जब तक वह अपने प्रातिभचक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्द के लावण्य मे अलंकृत कर लोक के समक्ष प्रकट न कर दे। अतएव दर्शन और वर्णन के पूर्ण होने पर ही सत्कवि का उन्मेष होता है। हेमचन्द्र के साक्ष्य के अनुसार आचार्य भट्टतौत के मत मे कवि शब्द 'दर्शन और 'वर्णन' के अर्थ मे रूढ़ है उन्होने कवि के इस दर्शन और वर्णन पर स्फुट रूप से विचार किया है।[१]

उनका मानना है कि "कवि अनृषि नही होता, अपितु ऋषि होता है। मन्त्रो का द्रष्टा पुरुष ही ऋषि की महनीय उपाधि धारण करता है - **ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः**। अतएव कवि भी दर्शन से युक्त होने के कारण ऋषि कहलाता

---

१ नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्माशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।। - काव्यानुशासन, पृ० ३९७

है। वस्तुओ के धर्माश का तत्त्व देख पाना ही दर्शन है। जिसने केवल तत्त्वदर्शन को ही पाया उसे शास्त्रो मे कवि की संज्ञा दी गयी।[१] अतएव कवि वही है जिसमे दर्शन के साथ-साथ वर्णन का मञ्जुल समन्वय हो। दर्शन आन्तरिक गुण है और वर्णन बाह्य दोनो के समन्वित रूप से कविता की स्फूर्ति होती है।''

इस प्रकार शास्त्रो मे प्रयुक्त कवि शब्द तो केवल तत्त्वद्रष्टता अर्थ का वाचक है जब कि लोक मे दर्शना और वर्णना इन दोनो को लेकर कवि शब्द प्रचलित है। इस विषय मे वाल्मीकि को उद्धृत कर भट्टतौत इसी तथ्य को उजागर करना चाहते है कि आदि कवि मे स्वच्छदर्शन की सामर्थ्य तो पहले से ही विद्यमान थी किन्तु वे जब वर्णना मे प्रवृत्त हुए तभी लोक मे कविता का जन्म हुआ। इसी प्रकार अभिनवगुप्त ने भी वर्णना के योग से ही कवि संज्ञा स्वीकार की है[२] महिमभट्ट ने कविप्रतिभा को शिव का तृतीय नेत्र मानते हुए कहा है कि उसके द्वारा कवि तैलोक्यवर्ती भावो का साक्षात्कार करता है।[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कृतसाहित्य और विशेषत: अलंकारशास्त्र मे कवि को 'दर्शना' और 'वर्णना' की शक्तियो से सम्पन्न एक अलोकसामान्य व्यक्ति माना गया है वह वस्तुओ की बाह्यरूप का ही अवलोकन नही करता अपितु उनकी सारभूत आत्मा का भी साक्षात्कार करता है।

---

१ कविर्मनीषः परिभू (ईशावास्योपनिषद, ८) . ''कवयोऽप्यत्र मोहिता''
- भगवद्गीता ४/१६

२ 'अतएव ते कवयो वर्णनायोगात् तेषाम्' - ध्वन्यालोक लोचन उद्योत ३

३ येन साक्षात्करोत्येष भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः।। - व्यक्तिविवेक २/११८

परन्तु अब प्रश्न यह है कि दर्शना और वर्णना मे उदयक्रम क्या है? इसके उत्तर मे ध्वन्यालोक लोचन के प्रारम्भ मे अभिनवगुप्त का कहना है कि[१]-

"जो लेशमात्र भी कारण सामग्री की अपेक्षा न रखकर अपूर्ववस्तु को अभिव्यक्त करता है, पत्थर के समान जगत् को अपने रसभार से सारवान् बना देता है, जो क्रमशः दर्शन और वर्णन विधान मे मनोहर होकर भासित होता है, वह सरस्वती का कवि सहृदय नामक तत्त्व विजयी हो।" उक्त पद्य मे तृतीय चरण के 'प्रख्या' पर टिप्पणी करते हुए कौमुदीकार का कहना है कि **"प्रथमं हि प्रख्या तदनन्तरमुपाख्येति क्रमः।"**[२] प्रतिभा व्यापार के द्वारा कवि के मन मे कोई अर्थ पहले दिखाई देता है, परन्तु जब वह विदग्ध कवि की वाणी मे रूपायित होता है तब उसे शब्द का अवगुण्ठन प्राप्त होता है फिर तो यो रमणीय बनता है जैसे सान पर चढ़ाकर चमकदार बना दिया गया हो।[३]

अतएव कवि पहले दर्शन करता है तदनन्तर वर्णन। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि तत्त्वो के द्रष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होने अपने अनुभूत ज्ञान को

---

१ अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् ।
सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्यं विजयते।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।। -ध्वन्यालोक लोचन (मंगलश्लोक)

२ 'प्रख्या - "उपाख्याः क्रमशः दर्शन एव वर्णन के पर्याय है। प्रख्या प्रकृष्टता प्रतिभात्मकं उपाख्या वचनं अभिधानलक्षणं"। -ध्वन्यालोकलोचनकौमुदी, पृ० ७

३ कवि चेतसि प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानम घटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु-विदग्धकवि-विरचितवक्रवाक्योपरूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। - वक्रोक्तिजीवित, १/७ वृत्तिभाग

प्रकट नही किया, तब तक उन्हे कवि की महनीय संज्ञा प्राप्त नही हुई। निर्विकारचेता महर्षि के अन्तश्तल मे भावो ने न जाने कितनी बार घर बनाया होगा परन्तु कवि पद उन्हे तभी प्राप्त हुआ जब क्रौञ्चपक्षी के करुण चीत्कार को सुनकर उनका करूणामय हृदय पिघल उठा। वह अनुभूत करूणा शब्दो मे रूपायित होकर लोक के समक्ष आ निकली।[१]

अमरकोष मे कवि का शाब्दिक अर्थ कः शब्दे, वि विज्ञाने[२] अर्थात् शब्द का विशेष ज्ञानवाला कवि होता है वह अतीतानगताशेष वस्तुओ का द्रष्टा होता है। भानुदीक्षित ने कवि शब्द की मीमांसा इस प्रकार की है-

'कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा कविः' अर्थात् जो जगत् का सूक्ष्मावलोकन कर उसको शब्दार्थरूप मे अथवा चमत्कारपूर्ण ढंग से बन्धन करता है वही कवि है। काव्य कवि का सार्थक शरीर प्रणयन है, जिसमे शब्दार्थ सम्यक् रूप से निवास करते है। इनको पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता है। ये शिव और पार्वती के समान एकाङ्ग है। एक आकार है तो दूसरा शक्ति। शब्दार्थ का भावोद्बोधनक्रम ही काव्य है। इसीलिए कालिदास **'जगतः पितरौ'** कहकर उसकी वन्दना करते है।[३]

काव्य, जो कि कवि का कर्म है, उसमे कवि के 'स्व' और 'सर्व' मे कथमपि विरोध नही होता है। वह जगत् प्राणी होने के कारण जगत् की विविधता और विशालता को अपने विचारो से अवशोषित कर उसे सर्व का

---

१ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। - ध्वन्यालोक का १/५

२ यदेतद्वावाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ। - काव्यमीमांसा अध्याय-३

३ वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ।। - रघुवंशम् मंगलश्लोक १/१

स्वरूप प्रदान करता है। काव्य के साथ एकरुप होने से ही सरस्वतीपुत्र सारस्वतेय भी काव्यपुरुष कहे जाते है।[१]

मानव मन शाश्वत, चेतन एवं संवेदनात्मक है। प्रज्ञाचक्षु कवि सदा उन वस्तुओ तथा दृश्यो को देख लेता है जिसे समान्यजन नही देख पाते। कवि उन पदार्थो का सूक्ष्मावलोकन करके, मानसपटल पर उसे जन्म देकर, सार्थक शब्दो से ललित पदो मे बॉधकर नूतन स्वरुप मे सहृदयो के समक्ष रख देता है। उसके शब्दार्थरूप इस व्यापार मे यह सूक्ष्मावलोकन और नूतनोन्मेष प्रतिभा का आश्रय ग्रहण कर ही सम्भव हो पाता है। इसी कारण अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने कविकर्म को कवि-प्रतिभा के द्वारा विकसित होने वाला कहा है।[२] इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कवि-प्रतिभा के द्वारा निवर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नही हो सकती है। कुन्तक की दृष्टि मे काव्य को **'अम्लानप्रतिभोद् भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर'** होना चाहिए।[३] अकुण्ठित प्रतिभा से उन्मीलित नवीन तथा नूतन अर्थ के साहचर्य से काव्य रमणीय होता है। इन दोनो की अभिव्यक्ति अम्लान प्रतिभा पर ही अवलम्बित है। अभिनवगुपत के साहित्यगुरू भट्टतौत की सम्मति मे 'प्रज्ञा' तथा प्रतिभा पर्यायवाची नाम है इनका तात्पर्य उस काव्यशक्ति से है जो नये-नये अर्थो की उद्भावना किया करती है।

---

१ यदेतद्वावाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यमुपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ। - काव्यमीमांसा अध्याय- ३

२ व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः।
कवि प्रतिभा निवर्तितत्त्वमन्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात् ।
- अलंकार सर्वस्व जयरथ, पृ० ८

३ अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर।
अर्यत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।। - वक्रोक्तिजीवित, १/२५

राजशेखर का कहना है कि "काव्यकर्म मे कवि की समाधि सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते है। समाधिस्थ चित्त ही अर्थो को देखता है।" जगत् मे उस वस्तु का सर्वथा अभाव रहा है जो कवि के चित्त मे वस्तुविशेष को उत्पन्न नही करती। यदि वह वस्तु विशेष को उत्पन्न नही करती तो वह कवि के लिए विषय ही नही बन सकती। पदार्थ की पदार्थता यही है कि वह कविहृदय मे किसी विशिष्ट चित्तवृत्ति को उपजावे। नही तो उसका होना न होना एक समान है। इस दृष्टि से देखने पर जगत् की प्रत्येक वस्तु उसके लिए कवि वर्णना का विषय बनती है। उसके लिए विषय की अवधि नही है। इसीलिए भामह आश्चर्यभरे शब्दो मे कवि-कर्म की महिमा उद्घोषित करते है- **'अहो भारो महान् कवेः।'**[१]

कविता का उद्रेक रस से होता है। प्रत्येक पदार्थ रस का अंग है। उसके स्वरूप पर दृष्टिपात कर कवि अपनी भावना शक्ति से उसमे ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे विशुद्ध आनन्द प्रदान करने लगते है। उसकी शक्ति क्षेत्र के भीतर आते ही उसमे जीवनी शक्ति आ जाती है और आनन्दोत्पादन की विशिष्ट सामर्थ्य उन्हे प्राप्त हो जाती है। अतएव रसोपयोगी समग्र उपकरणो का संग्रह कवि के लिए आवश्यक है। इसी कारण आननदवर्धन ने रसादि को मुख्य रूप से काव्यादि का विषय बनाकर उसके अनुरूप शब्दार्थो की रचना को ही महाकवि का मुख्यकार्य कहा है।

इस प्रकार कवि रस एवं भाव का विमर्शक होता है। पक्षियो के कलकूजन के समान कवि का भी कूजन हमारे कानो मे सुधाधारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन के मधुर अर्थ से हम परिचित भले न हो, पर सत्कवि की भणिति श्रोताओ के कानो मे उसी प्रकार सुधा उड़ेलने लगती है जिस

---

१ न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो! भारो महान् कवे॥ - वामन-काव्यालंकार ५/३

प्रकार मालती की माला, जिसके सुभग सौरभ की मादकता घ्राण तक पहुँचे बिना भी लोगो के नेत्रो को हठात अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।[१]

इस दृष्टि से विचार करने पर कवि शब्द का अर्थ रस एवं भाव से परिपूर्ण जगत् के विषयो का लोकोत्तरवर्णनकर्ता सिद्ध होता है जिसकी ललित पदावली सहृदयो के हृदय मे अखण्डानन्दानुभूति का हेतु बनती है। विश्व के प्रजापति के समान हमारे काव्य के स्रष्टा कवि का सम्माननीयपद है। नीलकण्ठ दीक्षित ने बड़े मार्के की बात कही है- श्रुति परब्रह्म की स्तुति के अवसर उन्हे न तो तार्किक बतलाती है न तो दार्शनिक। वह कवि शब्द का ही प्रयोग उस सर्व शक्तिमान के लिए करता है यह काव्यकल्प का समस्त कलाओ तथा समस्त दर्शनो के ऊपर विजयघोष है।

---

१ अविदित गुणापि सत्कविभणिति कर्णेषु वमति मधु-धाराम् ।
अनधिगत परिमलापि हि, हरति दृशं मालतीमाला।।
- सुबन्धु-वासवदत्ता, श्लोक-११

कवि-प्रेरणा

किसी भी उत्कृष्ट काव्य की रचना हेतु कविनिहित प्रेरणा का उदात्त वैभव एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसका आश्रय ग्रहणकर कवित्वशक्ति परिष्कृत एवं मुखरित होती है। प्रेरणाजन्य काव्य सहृदय पाठक के मानस को प्रभावित कर उस पर अपना एक अखण्ड अङ्कन करता है। उसमे चित्ताकर्षक मधुरता, आह्लादमयी अतिशयिता, चर्वणीय रसमयता, प्रज्ञा, कान्तिमयी कमनीयता, भावोन्मादिनी भव्यता, और प्रबोधकारिणीप्रज्ञा का उन्मेष होता है। वाग्विलासानुप्राणित कवियो ने अपनी असाधारण प्रेरणाशक्ति से ऐसे महान् काव्यो की सृष्टि की है, जो नवरसरूचिर, अनन्यपरतन्त्र नियतिकृतनियमरहित और परमाह्लादक है एवं अपनी रस-निस्यन्दता के साथ-साथ उन्हे विश्वव्यापी कीर्ति और प्रीति प्रदान करने मे समर्थ है।[१] काव्यकार की प्रेरक शक्तियो के आधार पर कवि-सृष्टि की प्राणचेतना और रचनाप्रक्रिया का मूलरहस्य उद्घाटित किया जा सकता है, क्योकि अन्तःकरण की प्रेरणा से विहीन निर्मिति मे वह नैसर्गिक औदात्य प्रस्फुटित नही होता जो सहृदयो के मानस को अनायासआगत्याभिभूत कर उन्हे तन्मयीभवन की उच्चतमदशा मे अधिष्ठित कर सके। अतएव उत्कृष्ट काव्य-रचना को कविप्रेरणा के तीव्रसंवेगो का प्रतिफलन कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योकि कवि-मानस का रहस्य उसकी सर्जन-प्रेरणा मे ही निहित होता है। जिसके अभाव मे कवि-निर्मिति बन ही नही सकती।

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् निमित्त के वह किसी व्यापार मे प्रवृत्तिशील नही होता है। **'प्रयोजनमनुद्दिश्य**

---

१ जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।। - नीतिशतक - २५

मन्दोऽपि न प्रवर्तते'। अतएव प्रतीत होता है कि काव्य-जगत् का प्रजापति अवश्यमेव किन्ही प्रबल कारणो से अनुप्राणित होकर ही अपने ललित एव रस-भवापूर्ण प्रपञ्चात्मक शब्दार्थमय चित्रण मे उद्योगशील होता है। अतएव काव्य-सर्जना के क्षेत्र मे यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कला या साहित्य के मूल मे कौन सी प्रेरणा कार्य करती है? कवि किन शक्तियो से अन्तःप्रेरित होकर कवित्वशक्ति या सर्जना को वाणी प्रदान करता है? सन्ध्याकाल मे रक्ताभवारिदमाला से आवृत एवं मञ्जुलस्वरो मे ध्वनि करने वाले हरे-लाल रंग के खगकुल से गुञ्जायमान आकाशमण्डल की छवि को शब्दतूलिका से चित्रित करने के लिए चित्रकार क्यो व्याकुल होता है? अथवा ऊँची अट्टालिका पर बैठ झरोख़े से झाँकनेवाली, शरदिन्दुविनिन्दक आनन से अन्धकार का तिरस्कार करने वाली सुन्दरी की अनुपम कान्ति को कविता के द्वारा आलोकित करने के लिए कवि क्यो लालायित रहता है? गहराई से चिन्तन करने पर इसका एकमात्र उत्तर प्राप्त होता है- **स्वान्तः सुखाय।** स्वयं को घन-आनन्द मे डुबो देने के लिए वह अपने को ब्रह्मानन्दसहोदर मे निमग्न कर देना चाहता है। अखण्डानन्दानुभूति से मुग्ध कलाकार आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि होने के कारण अपनी कला के विविध साधनो के द्वारा उसका उन्मेष करता है। अपनी अनुभूतियो को दूसरे तक पहुँचाने के लिए ही उसकी कवित्वशक्ति मुखरित होती है। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति का प्रतीक है, क्योकि काव्य-सर्जना मे कवि का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ही भावो की गहनता मे निमग्न होकर उसके तलस्पर्शन मे समर्थ होता है। उच्चकोटिक काव्य का मूल कवि की समाधि पर आश्रित है। समाधिस्थ चित्त ही अर्थो को देखता है। मन की एकाग्रता ही समाधि है।[१] कहा भी गया है-

---

१ काव्यकर्मणि कवेः समाधिः पर व्याप्रियते इति श्यामदेवः।
मनसः एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति।

"सरस्वती का तत्त्व महान रहस्य है। वह केवल विद्वानो को ही दृष्टिगोचर होता है। उस सारस्वततत्त्व की सिद्धि कें लिए एकमात्र यही परम उपाय है कि ज्ञेय की विधि को जानने वाले चित्त की परमसमाधि हो।[१]"

आचार्य वामन ने भी अर्थान्वेषण के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है।[२] उनका कहना है कि चित्त की एकाग्रता अवधान है अवहित चितत ही काव्यार्थ के तत्त्वो का दर्शन करता है। जिस रचना मे कवि का नैसर्गिक मानस जितना अधिक सन्निविष्ट होकर अभिव्यञ्जित होता है, वह कृति उतना ही सहृदय सामाजिको के मनःप्रसादन अथवा चित्ताह्लादन का साधन बनती है। मानव बुद्धि के विकसित उदात्तस्तर पर पहुँच कर अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थयुगल का आश्रय ग्रहण करता है। जब वह काव्यरचना के क्षणो मे स्थित होता है तो विवक्षित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द अनेक होते है उन समस्त शब्दो, जिनमे कवि-सृष्टि अभिव्यक्त होती है, वह शब्द केवल एक होता है, केवल उसी शब्द के प्रयोग से वह सभी सहृदयो को आनन्दित करता है।[३] कवि अपने समाधिस्थचित्त से उस अर्थ के वाचक शब्दविशेष का अन्वेषण करने मे समर्थ होता है। कवि को केवल वह शब्दविशेष ही अभिप्रेत होता है जिसको वह अपने समाहित चित्तपटल पर खोज लेता है।

---

१ सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं यदगोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः।।
-काव्यमीमांसा अध्याय- ४ वृत्ति

२ चित्तैकाग्रयमवधानम् । अवहित हि चित्तमर्थान् पश्यति।
वामन -काव्यालंकार १/३/१७

३ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः।। -वक्रोक्तिजीवित १/९

हमारे मनीषियो की प्रत्यक्ष दृष्टि यह संदेश दे रही है कि आनन्दानुभव के लिए ही ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की है। **'रसो वै सः'**[१] वह स्वयं रस से तृप्त है किसी भी प्रकार ऊन नही है।[२] रसतृप्त जगत्स्रष्टा की सृष्टि भी एक अखण्डरस की धारा से चारो तरफ व्याप्त है। इसके मधुर सरोवर शतसहस्त्र संख्या मे चारो ओर भरे है।[३] उनसे रस का आस्वादन करने हेतु हमारे प्राण सदा व्याकुल रहते है। रसप्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्दानुभूति हेतु बेचैन प्राणी इतस्तत भ्रमण करता रहता है। इस रस का अनुभव प्राप्तकर वह शब्दमय, रेखामय, स्वरमय अथवा चित्रमय माध्यम द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्ति बाहर प्रकटित करता रहता है। कवि-जगत् के पदार्थ और अन्तर्जगत् के भावो मे रस का अक्षय उत्स प्राप्तकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है, परन्तु इतने से ही वह कृतकार्य नही होता। उसी आनन्द का प्रकाशन वह अपनी कला के द्वारा सम्पन्नकर सहृदयपाठक एव दर्शक को आनन्दमय बनाने का प्रयास करता है। वह क्षुद्र स्वभाववाला स्वार्थ का केन्द्रीभूत निकेतन नही है कि समग्र रसपान स्वयं कर जाय, अपितु वह अपने 'स्व' को इत्ना व्यापक और विस्तृत बना देता है कि उसके लिए कोई 'पर' रहता ही नही। इसी व्यक्तित्व के प्रसार हेतु अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य के उन्मीलन हेतु वह अपनी कला को साधन बनाता है क्योकि जबतक कवि-संवित् की आत्मविश्रान्ति विश्वमानस के अधिष्ठान मे नही हो जाती, तब तक उसका प्रयोगविज्ञान साधुत्व को प्राप्त नही करता[४] यह अभिव्यञ्जन ही उसकी अनुभूति का चरमावसान है।

---

१ - तैत्तिरीय उपनिषद २/७/१

२ रसेन तृप्त न कुतश्चनोन। - अथर्ववेद १०/८/४४

३ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
- ऋग्वेद विष्णुसूक्त १/१५४/४

४ आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

उपनिषदे संदेश दे ही है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्म अकेला था।[१] एक होने से वह रमण नही करता था रमण की इच्छा होते ही एक ने बहु के रूप मे उत्पन्न होना चाहा। रमण की इच्छा ही एक को बहु बनाने की प्रेरिका है। **'एकाकी नैव रमते सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम।'** इस 'बहुस्याम्' की अभिलाषा से ही सृष्टि का उद्गम हुआ, क्योकि एषणा की तृप्ति के लिए ही जागतिकप्रपञ्च जागरूक होता है। मानव-जीवन की अशेष प्रवृत्ति का मूल यही है। दुःखी जीवन की लहरिका से प्रताडित मानव सदा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु प्रवृत्तिशील होता है।[२] मानव जीवन का चरमोद्देश्य परमपुरुषार्थ की प्राप्ति है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। इसी की सिद्धि हेतु यावत्कला, यावत्-शास्त्र, यावत्काव्य सतत् प्रवृत्त होते है।[३]

यदि गोस्वामी तुलसीदास के **'स्वान्तः सुखाय'** को समस्तकला की मूल प्रेरकशक्ति माने तो विश्व मे समस्त प्रेरणाओ एवं स्फीत स्फुरणाओ का भव्य आधार आत्म है। आत्मा ही प्रेरकशक्ति का प्रतीक है। आत्मा की शक्ति ही सर्वत्र विकसित होकर नानारूप, रूपान्तरो मे हमारे समक्ष प्रकटित हो रही है। आत्मा विशाल स्थावर, जङ्गमरूप वृत्त का केन्द्र स्थानीय है। ''आत्मा

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।। - अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२

१ आनीदवातं स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।
- ऋग्वेद नासदीयसूक्त १०/१२९/२

२ दुःखत्रयाभिघाताज जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सापाऽर्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ।।
- ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका-कारिका-१

३ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। -काव्यप्रकाश १/२
धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। - वक्रोक्तिजीवितम् १/३

वाऽरे द्रष्टव्यः मन्तव्यःश्रोतव्यः निदिध्यासितव्यश्च।''[१] भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का यही परिणमित फल है- **'आत्मानं विजानीहि।'** पाश्चात्त्य महापुरुषो के वाक्य भी बताते है- "know thyself" आत्मा की यही साक्षादनुभूति कलात्मक-चिन्तन या रसात्मक-रचना का मूल है।

काव्य-प्रेरणा का यह आध्यात्मिक रहस्य महाकवि कालिदास के 'मेघदूतम् ' खण्डकाव्य मे बड़ी मनोज्ञता से प्रतिबिम्बित हो रहा है। आनन्दमय लोक मे जीव कितने सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करता है, परन्तु विषमकर्म की विषमपरिणति ऐसी होती है कि वह उस आनन्दधाम से बहिष्कृत कर दिया जाता है। भगवान् विष्णु के तृतीय क्रम से वह च्युत हो जाता है- "**भूरिशृंगाः अयासः।** उस गोलोक से वह अपने को भूलोक मे पाता है। क्या हम सभी प्राणी उस अलकापुरी के शापग्रस्त यक्ष नही है जिसे स्वामी के अभिशाप के कारण ललित अलका का परित्याग करना पड़ा।" कालिदास का यक्ष स्वर्गधाम से च्युत मानवमात्र का प्रतीक है। वियोग की वेदना हमारे हृदय को अमूल दग्ध कर रही है और आनन्दधाम की स्मृति जीव को आनन्दस्मृति की झलक दिखाकर उसे संयोग के लिए उत्साह दे रही है। अमरत्व की प्राप्ति हमारा अन्तिम ध्येय है और यह तभी सम्भव है जब आत्मानुभूति के द्वारा हम अपने आप को जाने। जगत् के नानाविधप्रपञ्च, रसात्मक कार्यकलाप इस आत्मशक्ति के ही विचित्र स्फुरण है। कलात्मक रचना आत्मशक्ति की स्फुरणा है। काव्य-सृर्जना मे यही प्रेरकशक्ति है, क्योकि आनन्दोन्मीलन ही काव्य का उद्देश्य है।[२] रसानुभूति मुख्यतः आनन्द की अनुभूति है। रस का अनुभवकर्ता सामाजिक अवसर पर अपनी स्वार्थमूलक वृत्ति की ही चरितार्थता नही मानता अपितु साधारणीकरण व्यापार के द्वारा

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद २/४/५

२ सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् । काव्यप्रकाश, कारिका, २ वृत्ति

सामाजिक अपने वैयक्तिक सम्बन्ध का परिहारकर समाज के साधारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने लगता है। फलतः वह द्वैत भावना से ऊपर उठकर अद्वैत भावना मे प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपनी वैयक्तिक आनन्दानुभूति को साधारण सामाजिक की आनन्दानुभूति मे विसर्जित कर देता है।[१] अपनी रसानुभूति के क्षणों। मे जगत् का जैसा स्वरूप उसे दृष्टिगोचर होता है, वह उसका वैसा ही शब्दचित्र प्रस्तुत कर देता है। यदि वह श्रृंगारी है तो सब कुछ रसमय हो जाता है, और वीतराग है तो सब कुछ नीरस।[२] काव्य-सर्जना मे कवि की प्रेरणा का आधार बिन्दु उसकी रस के प्रति अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति ही है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र .मे काव्य हेतुओ के रूप मे जिन काव्याङ्गो की चर्चा की गयी है, वे साधन भी कवि-प्रेरणा के विविध प्रकार है। भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियो ने काव्य-सर्जना की दिव्य-प्रेरणा के रूप मे ईश्वर प्रदत्त शक्ति का महत्त्व स्वीकार किया है, जो दैवी अनुग्रह अथवा प्रेरणा से 'प्रतिभा' के रूप मे परिस्फुरित होती है। भारतीय दृष्टि दैवीशक्ति के सम्मुख सदैव आस्थामयी रही है, और उसी के प्रसाद मे उसने अपनी साधना का प्रसाद स्वीकार किया है। काव्यचिन्तक आचार्यो ने दैवी प्रेरणा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ईश्वरीय अनुग्रह से ही कवि-प्रतिभा का प्रस्फुरण होता है, जिसके दिव्य आलोक मे अज्ञानान्धकार

---

१ नियतप्रमातृगत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेनप्रमात्रां सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार----। -काव्यप्रकाश, २७ वृत्ति

२ अपारेकाव्यसंसारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते।।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतांरागश्चेन्नीरस सर्वमेव तत् ।। - ध्वन्यालोक ३/४३ वृत्ति

का विनाश होता है और उत्कृष्ट काव्य-सर्जना का विकास होता है।[१] प्रतिभाहीन व्यक्ति को पदार्थ समूह अप्रकट रहते है किन्तु प्रतिभावाले को न देखने पर भी प्रत्यक्ष जैसे रहते है।[२] मेधाविरुद्ध, कुमारदास आदि कवि जन्मान्ध सुने जाते है और महाकवि भी दूसरे देशो तथा द्वीपो की कथा तथा पुरुषो के दर्शन से वहाँ के व्यवहार का वर्णन करते है। भामह ने तो स्पष्टरूप से कहा है **"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।"**[३] यह प्रतिभा कवियो को साक्षात् सरस्वती का वरदान है। भारतीय शास्त्रलेखनपरम्परानुसार संस्कृत-कवियो की कृतियो के आरम्भ मे मंगलाचरण के रूप मे वाग्देवता की वन्दना, सरस्वती का आवाहन एवं संस्कृत-नाटको के आरम्भ मे नान्दीपाठ, कवि प्रेरणा के मूल मे निहित दैवी सिद्धान्त का पुष्ट प्रमाण उपस्थित करते है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने लोचन व्याख्यान के आरम्भ मे मंगल श्लोक मे सरस्वती के **'कविसहृदयाख्य तत्त्व'** की विजय के रूप मे प्रस्तुत किया है, जो कारण सामग्री के लेश के बिना अपूर्ववस्तु को उत्पन्न करता है और पत्थर के समान नीरस जगत् को अपने रसभार से सारवान बना देता है। क्रमश· प्रख्या (कवि-प्रतिभा) और उपाख्यान (वचन) के प्रसारण से सुीाग होता हुआ वस्तुतत्त्व को भासित करता है,[४] वह कवि और सहृदय नाम वाला

---

[१] शरदिन्दुसुन्दररूचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी।
अपहृत्य तम· सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु।।
- साहित्यदर्पण आनन-१ मंगलश्लोक

[२] अप्रतिभस्य पदार्थसार्थ· परोक्ष इव, पतिभावत· पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।
- काव्यमीमासा अध्याय-४

[३] -वामन -काव्यालंकार १/५

[४] अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरेण सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।। - ध्वन्यालोकलोचन -मंगलश्लोक।

सरस्वती का तत्त्व काव्य विजयी हो। काव्यमीमांसाकार राजशेखर द्वारा काव्यपुरुषोत्पत्ति के कथानक मे कवि-प्रेरणा का दैवी-सिद्धान्त साक्षात् प्रतिबिम्बित हो रहा है।[१] आदिकवि महर्षि वाल्मीकि को भगवती सरस्वती ने स्वच्छन्द छन्दोमयी वाणी प्रदान की जो निहतसहचरीक्रौञ्च के करुण क्रन्दन से शब्दायित हो गयी और आदिकाव्य रामायण के प्रणयन मे चरितार्थ हुई।[२] दूसरे के अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा से विरत मन वाले सुकवि के लिए यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु संगठित कर देती है। पूर्वजन्मो के पुण्य और अभ्यास के परिपाकवश जिन सुकवियो की काव्य-निर्माण मे प्रवृत्ति होती है। दूसरो के विरचित अर्थग्रहण मे निःस्पृह उन सुकवियो को प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नही होती। भगवती सरस्वती अभिवाञ्छित अर्थ को स्वयं ही प्रकट कर देती है यही महाकवियो का महाकवित्व है।[३]

भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के प्रमुख हेतुओ मे प्रथमतः परिगणित प्रतिभा तत्त्व को अनेक स्थलो पर दैवी-प्रेरणा का ही प्रतिरूप स्वीकार किया गया है।[४] दर्शनग्रन्थो मे जिस आर्षज्ञान के प्रतिबोध का निरूपण हुआ है वह

---

१ यदेतद्वाङ्मय विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।।

सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रायाङ्कपाली ददाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमत। चेतसाप्राचेसापापि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत् । ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात, यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेव मध्येष्यते स सास्वतः कविः संपत्स्यते इति। - काव्यमीमांसा- अध्याय-३

२ ... . .. तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। - ध्वन्यालोक १५

३ परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती।। -ध्वन्यालोक ४/१७

४ सरस्वतो स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम् । -ध्वन्यालोक १/६

भी मूलतः प्रतिभाजन्य है, जिसकी उत्पत्ति उन ऋषियो के समाहित मानस में होती है जिन्हे ईश्वरीय अनुग्रह का वरदान प्राप्त है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि को इसी प्रातिभाज्ञान की अलौकिक अन्तदृष्टि मिली थी, जिसका उल्लेख करते हुए उत्तररामचरितकार महाकवि 'भवभूति' ने ब्रह्मा जी द्वारा महर्षि वाल्मीकि को सम्बोधित किया है- "तुम्हारी दृष्टि अप्रतिहत प्रकाशवाली हो गयी है। "तुम आदि कवि हो" तब उन भगवान प्रचेतापुत्र वाल्मीकि ने मनुष्यो मे सर्वप्रथम शब्दरूप ब्रह्म के अपूर्व रूपान्तर रामायण की रचना की है।[१] **'प्रतिभचक्षुः प्रतिमचक्षुः ते चक्षुः प्रतिभातु'** अर्थात् यहाँ कवि की प्रतिभा 'आर्ष' कही गयी है। आर्षज्ञान का तात्पर्य ऋषि का वह ज्ञान जो योग के प्रयत्न से प्राप्त हुआ। इस प्रातिभज्ञान के सामर्थ्य मे ही योगी जन दृष्ट कारणो के बिना ही सहसा अनागत एवं अतीत वस्तुओ का साक्षात्कार करते है। वाल्मीकि रामायण मे भी कहा गया है कि "दैवीकृपा से योग मे स्थित होकर महर्षि ने सम्पूर्ण रामचरित को हस्तामलक देखा, तभी वे लोकाभिराम राम के चरित को श्लोकबद्ध करने मे तत्पर हुए।[२]

यह प्रतिभा साधना एवं दैवीकृपा से प्राप्त होती है, जिसे आगमो में 'पराशक्ति' के नाम से अभिहित किया गया है। 'योग कालतन्त्र' मे इसे 'प्रज्ञा' कहा गया है।[३] न्यायवैशेषिक एवं वेदान्त मे प्रतिभा या आर्षज्ञानपर्यायरूप मे

---

१ अव्याहतं ज्योतिष ते प्रतिभातु आद्यः कविरसि इत्युक्त्वान्तर्हितः। अथ स भगवान प्राचेसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणास्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायण प्रणिनाय। उत्तररामचरितम् अङ्क-२

२ ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्व योगमास्थितः।
पुरा यत्तत्र निवृत्तपाणावामलक यथा।।६।।
तत्सर्व तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महाद्युतिः
अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्तुमुद्यत।।।७।। -वाल्मीकिरामायण ३/६,७

३ यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थ प्रद्योतयति,

ही प्रयुक्त है। भारतीय साहित्यशास्त्रियो ने प्रतिभा, शक्ति और प्रज्ञा को पर्यायवाची माना है। काव्यशास्त्र के परम मनीषी आचार्यअभिनव गुप्तपाद ने इसे भगवान् शङ्कर का तृतीय नेत्र कहा है, जिसकी विवृत्ति से कवि त्रिकालद्रष्टा बनकर सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यो के उद्‌घाटन की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।[१] यह प्रतिभा एक ऐसी पारलौकिक प्रभा है, जो अपूर्ववस्तु के निर्माण मे सक्षम या समर्थ होती है। इससे युक्त कवि का चित्त रसानुकूल शब्दार्थ के चित्तन मे एकाग्र हो जाता है उस समय क्षणभर के लिए भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करते हुए उसकी जो प्रज्ञा स्फुरित होती है वही प्रतिभा है।[२] यो तो प्रतिभा के अनेक रूप माने गये है, किन्तु उसमे सहजप्रतिभा का महत्त्व ही सर्वोपरि है ऐसी प्रतिभा मे ही दैवी-प्रेरणा और आर्षज्ञान सन्निहित रहते है।

वस्तुतः कवि प्रेरणा के प्रसंग मे प्रतिभा के उल्लेख का मुख्य अभिप्राय इतना ही उसके बिना काव्यप्रेरणा का एक मूलभूत पक्ष अस्पृष्ट रह जाता है। वस्तुतः कवि-प्रेरणा का मूलसिद्धान्त प्रतिभा की बीजरूपा कल्पना मे विद्यमान है जिसका सम्यक् अभिमर्श करने पर ऐसी अनेक समस्याओ का निराकरण हो जाता है जो कवि-सर्जना के विचार-पथ मे समय-समय पर उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के अवरोध उत्पन्न करती रही है।

कवि-प्रेरणा का यह भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्त्य मनीषियो के चिन्तन एवं मनोवैज्ञानिक सत्य के आलोक मे देखा जाय तो कुछ अन्य ही तत्त्व

क्षिणोति च क्लेशकर्मबन्धनानि श्लथयति। योगभाष्य १/१

१ यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तं तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥
-ध्वन्यालोकलोचन प्रथमोन्मेष-अन्तिम श्लोक

२ रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वल्पस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभाकवेः॥ -व्यक्तिविवेक २/११७

उभर कर सामने आते है। प्राचीन मनोवैज्ञानिको ने जीवो को जागतिकप्रपञ्च मे जोड़ने वाली उनकी तेरह मूलप्रवृत्तियो को स्वीकार किया है, जिनका उपजीव्य मानव-मन मे उद्भूत होने वाले मूलमनोभाव है। ये विभिन्न प्रकार की मूलप्रवृत्तियॉ विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओ से उत्पन्न होकर विशेष प्रकार की क्रियाओ मे पर्यवसित होती है, परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के जन्मदाता 'सिग्मण्ड फ्रायड' मनुष्य की विभिन्न क्रियाओ के मूल मे एक ही शक्ति को स्वीकार करते है जिसे उन्होने **'लिबिडो'** के नाम से अभिहित किया है। यह मूलशक्ति काममयी है। मानव की क्रियाकारिता और चेष्टा की प्रेरिका यह कामवासना ही है जो अपनी तृप्ति हेतु अनेक मार्गो का अन्वेषण कर लेती है। जब इसकी तृप्ति साधारण मार्ग से नही होती तो यह अपनी अभिव्यक्ति मे असाधारण मार्ग प्राप्त कर लेती है। मानीवय प्रवृत्ति मे यह काममयी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है।

मनोवैज्ञानिको का परीक्षित सत्य है कि जब कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है तो मानव-जीवन मे उत्कृष्ट घटनाऐ जन्म लेती है। प्रपञ्चात्मक जगत् मे मानव के विभिन्न कार्यकलाप इस काममयी शक्ति के विभिन्न रूपान्तरण है। काममयी शक्ति के निरोध तथा परिशोधन मे ही कला का जन्म होता है। कामशक्ति के अधःप्रसरण से व्यावहारिक जीवन का उदय होता है तथा उर्ध्वप्रसरण एवं उदात्तीकरण से साहित्यिक जीवन (काव्य) का उदय होता है। अतः फ्रायड के मत मे काव्य की प्रेरिका शक्ति काममयी है। भोग विलास मे नित्य प्रवाह को रोककर जब उसका प्रवर्तन किसी उदात्त भावना के अभिव्यञ्जन मे किया जाता है तो कला या काव्य का स्फुरण होता है।

मेरे विचार मे फ्रायड की उक्त धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है क्योकि यदि कामवासना की अटूट तृप्ति ही काव्यकला की जननी है, तो नैतिक जीवन के

विरूद्ध आचरण करने वाले व्यभिचारी पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ कवि होते। महाकवियो एवं वाल्मीकि आदि महर्षियो के उज्ज्वल चरित्र ही इसके पुष्ट प्रमाण सिद्ध होते है। कामेच्छा का प्राबल्य हमारे शास्त्रो ने अवश्य स्वीकार किया है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त मे सृष्टि के आरम्भ मे काम के उदय की चर्चा प्राप्त होती है।[१] वासनारूप काम सृष्टि के मूल मे दृष्टिगोचर अवश्य होता है। बहुमुखी मानव-विकास मे किसी एक मूलशक्ति को स्वीकार कर लेना अन्य शक्तियो का तिरस्कार नही तो और क्या कहा जा सकता है। अत कवि-प्रेरणा के मूल मे कामवासना के परिमार्जन का मत सीमित चिन्तन का परिणाम है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने काव्य को स्वप्न का सरोदर कहा है। काव्यलोक स्वप्नलोक की ही एक प्रतीकात्मक झॉकी है। स्वप्न अन्तःसंज्ञा मे निहित अतृप्त वासनाओ की अन्तर्व्यञ्जना है। सामाजिक नियमो के बाड़े मे बॅधी अनभिव्यक्त मानव-इच्छाएँ निरूद्ध होकर अन्तःसंज्ञा के भीतर दब जाता है, और स्वप्न को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है। काव्य की भी ठीक यही दशा होती है। विशालता, भव्यता एवं सौन्दर्यादि की भावनाएँ अतृप्त बनकर अन्तश्चेतना मे अज्ञात रूप से दबी पड़ी रहती है। काव्य इन्ही अतृप्त इच्छाओ की बाह्याभिव्यक्ति का कलात्मक नाम है, जो केवल कवि-हृदय के भार को ही हल्का नही करती, अपितु सहृदय के हृदय मे भी आनन्द का सञ्चार करती है।

परन्तु काव्य, जो मानव की अन्तश्चेतना का रसात्मक प्लवन है, को स्वप्न का प्रतिनिधि मानना समीचीन नही। दोनो मे समत्व मात्र इतना है कि जैसे बाह्येन्द्रियो के समक्ष स्वप्न नही रहता, वैसे ही काव्यवस्तु भी नही रहती। कल्पना के द्वारा जिन काव्य-वस्तुओ की प्रतीति होती है, उनका रूप

---

१ कामस्तदग्रे समवर्तताधि॰ १०/१२९/४

स्वप्न-वस्तुओ की प्रतीति के समान नही रहता। स्वप्नानुभूत वस्तुएँ प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट और प्रभावोत्पादक होती है। कल्पना-प्रसूत वस्तु का स्वरूप ऐसा नही होता।

एलडर ने अपने वैयक्तिक मनोविज्ञान मे संसारिक प्रवृत्तियो का मूल प्रभुत्व-शक्ति को माना है। उनकी सम्मति मे प्रत्येक मानव मे कोई न कोई व्यापक दोष होता है, जो उसके महत्त्व को समाज मे हीन बनाये रहता है। अतः वह उसे दबाकर उस दोष के ठीक विरूद्ध गुण के सम्पादन मे व्यस्त हो जाता है। अपनी पत्नी से तिरस्कृत तुलसीदास ने अपनी चरित्र-शुद्धि के निमित्त अलौकिक कार्य किया। वे इसी सिद्धान्त के दृष्टान्त के रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते है। मूर्खता के कारण अपनी विदुषी पत्नी से तिरस्कृत कालिदास 'कविकुलकुमुदसुधाकर' के रूप मे उभर कर सामने आये, परन्तु हम एलडर के इस मत से सहमत नही है, क्योकि जगत् मे ऐसे भी व्यक्ति विद्यमान है। जिनमे हीनता की विरोधी उदात्तता की ग्रन्थि विद्यमान है उनकी प्रवृत्ति का मूल कहां खोजा जायेगा?

यॅुग ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव को दो कोटियो मे विभाजित किया है- (१) बहिर्मुख (२) अन्तर्मुख। बर्हिमुख मानवो की दृष्टि संसार के भौतिक आनन्द मे निमग्न रहती है, परन्तु अन्तर्मुख प्राणी सदैव अपनी दृष्टि बाह्य जगत् के भौतिक विषयो से हटाकर अन्तर्गत् के अन्तःवस्तु की ओर ले जाता है, और मानसिक शान्ति हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। मनुष्य की प्रगति और प्रत्याचरण दिखलाने वाली मानसिक क्रियाओ का अन्तिम लक्ष्य मानव जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना है।

हेफील्ड ने मानसिक विकास का लक्ष्य पूर्णआत्मसाक्षात्कार को माना है, जिसका तात्पर्य है- मानव की प्रत्येक इच्छा पूर्ण हो एवं उसकी स्वतन्त्र रूपेण अभिव्यक्ति और विकास हो। जब तक हमारे अन्तजर्गत् मे किसी समय

की कोई इच्छा अविकसित रह जाती है, तब तक हमारा मानसिक विकास अधूरा ही रहता है। आत्मसाक्षात्कार हेतु जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए हेफील्ड ने सुझाव दिया-आत्मा को जानो।[१]

युँग के मत में आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति, कला तथा काव्य की प्रेरक शक्ति है। कला मानव-मस्तिष्क के आध्यात्मिक विकास का उदात्त स्तर है। व्यक्ति के मानसिक विकास की पूर्णता तभी हो सकती है जब वह आत्मसाक्षात्कार करे।

कवि-प्रेरणा का उक्त पाश्चात्य मत भारतीय मत के समीप है हमारे महर्षियो ने ही सर्वप्रथम "चितितत्त्व' के सम्पूर्ण प्रकाशन मे आत्मचिन्तन पर बल दिया आत्मा। "वाऽअरे द्रष्टव्यः मन्तव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः।" अतः मेरे विचार मे मनोविज्ञान भी कवि-प्रेरणा के मूल मे निहित उसी सिद्धान्त के आस-पास चक्कर काटता हुआ दीख पड़ता है जिसका अनावरण हमारे मनीषियो ने पूर्वकाल मे ही कर दिया था। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है जिस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियां दृश्यमान संसार के सम्पर्क और आघात से प्रभावित एवं उत्तेजित होकर अपने विषयो एवं भावनाओ को ग्रहण करती है, कवि-प्रेरणा भी संप्रेरक ज्ञानप्रत्ययो से उद्बुद्ध होकर सर्जना के रूप मे पर्यवसित होती है। कुछ अशो मे कवि-प्रेरणा का स्वभाव और प्रभाव इन्द्रिय ज्ञान की प्रवृत्तियो से भिन्न है। जिसे दिव्य या लोकोत्तर कहा जा सकता है। कवि-प्रेरणा की उत्सभूमि ज्ञान और तर्क के सीमा क्षेत्र से व्यापक और जगत् की अनुभूतियो से पृथक् है, जिसका मुख्य आधार हमारा अन्तर्जगत् ही है। सौन्दर्यदर्शन के अध्येताओ एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओ ने उनका विश्लेषण भिन्न-भिन्न दृष्टि से किया है, जिसका समर्थन हमे महाकवियो की

---

१ Self-realization that is to say the compelite . ..Hadfield psychology and moral P. 77

आत्मविवृत्तियो मे प्राप्त होता है। महाकवि शैली (P.B.Shelly) ने कविशक्ति को तर्कशक्ति से पृथक् सिद्ध करते हुए उसे असाधारण एव अलौकिक माना है, क्योकि व्यक्ति की सामान्य इच्छामात्र से काव्यनिर्माण नही हो सकता। उन्होने कवि के सर्जनाशील मन को ऐसे धूमायित ज्योति स्फुलिंग से उपमित किया ही, जिसे प्रेरणा की अदृश्य वायु अपने संचार के प्रभाव से शीघ्र ही प्रज्वलित कर देती है। शैली के मत मे वस्तुतः कवि-प्रेरणा भावपुष्पो की दिव्य अभिव्यञ्जना है जिसका स्वरूप-विश्लेषण चेतन मन की साधारण क्रियाओ के आधार पर कर सकना संभव नही है। कवि-प्रेरणा के प्रति बना हुआ पाश्चात्य कवियो का यह दृष्टिकोण अत्यन्त तत्त्वपूर्ण एवं सुग्राहय है जिसका समर्थन हमे भारतीय काव्य-चिन्तक-आचार्यो की काव्यसाधना के प्रारम्भ मे मिलता है।

कवि-प्रेरणा दिव्यचेतना के ज्योतित विद्युत्कण के रूप मे कवि-मानस को अलोकितकर उसे सर्जना के उदात्तपीठ पर अधिष्ठित कर देती है, परन्तु कवि-मानस का यह आलोक भावो की अविराम धारा से उद्भूत होता है। भावो के बिना प्रेरणा हमारे स्नायुमण्डल की झंकृतिमात्र है। उसे उसी स्थिति मे कवि-मानस को आन्दोलित और सम्प्रेरित करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है जब वह भावो से परिवेष्टित होकर सर्जना के आल्हादमय आलोक की दिशा मे प्रवृत्त हो जाय। प्रेरणा की अन्तर्वृत्ति से आन्दोलित होकर कविरत्नो ने अपनी जो दिव्य-आभा विकीर्ग की वह केवल उन्ही के चित्ताह्लादन का विषय नही रहा, अपितु संप्रेषणीयता के कारण वह सहृदयो के आह्लादन का भी आधार बनी। महर्षि वाल्मीकि, कविकुलगुरूकालिदास, भक्तशिरोमणि 'तुलसीदास' की दिगन्त व्यापिनी कीर्ति का रहस्य उनकी दिव्य प्रेरणा के प्रसाद मे ही अन्तनिर्हित है, जिसे पाश्चात्य सुधीजनो एवं काव्यमनीषियो ने भी संस्तुत किया है। यवनकवि होमर और दॉते की सफलता आंग्लकवि 'शेक्सपीयर' और 'वर्डसवर्थ' की यशस्विता का मूल उनके प्रेरणाजन्य काव्य

वैभव को ही प्रदान किया जा सकता है। प्रेरणा का यह उन्मुक्त स्वरूप उनके काव्यविषयो को गुरुत्व और औदात्य प्रदान करने का ही संबल ही नही रहा, अपितु उनके अभिव्यञ्जना शिल्प को भी नित्य-नूतन अभिरामता से उपवृहिंत किया।

कवि-व्यापार

कवि का रचना-व्यापार किस रहस्य से ओत-प्रोत होता है? इसे जानने की उत्कण्ठा उस प्रत्येक व्यक्ति को होती है जो कवि की विराट् महिमा से परिचित है। कवि अपनी काव्य-रचना मे एक विचित्र आनन्द की सृष्टि करता है जिसके दो स्रोत है- शक्ति और विलास। ये भिन्न स्रोत कवि की प्रतिभा से कब और कैसे संयोग करते है? ऐसे प्रश्न कवि के रचना-व्यापार की जिज्ञासा के पूरक है। इन प्रश्नो का उत्तर निश्चितरूप से कवि के रचनाक्षणो की क्रियाकारिता के दर्शन मे ही है।

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः[१] अर्थात् कवियो का काव्यकरण व्यापार कवि-व्यापार है। काव्य कवि-व्यापार का सद्यः प्रसूतफल है। इसमे व्यापारमुखेन ही चमत्कार एवं लावण्य का आविर्भाव होता है। कविगत प्रक्रिया स्वरूपतः सर्जनात्मक होती है, जिसका प्रसार अनुभूति से अभिव्यक्ति की ओर होता है। कवि जागतिक वस्तुतत्त्वो मे अपने प्रतिभाजन्य व्यापार से अलौकिक रमणीयता का सन्निवेश करता है, जिसकी चरम परिणति काव्य मे सहृदयहृदयाह्लाद में हुआ करती है। संस्कृत-काव्यशास्त्र मे कवि कर्तृत्व की स्वीकृति आरम्भकाल से ही रही है। अलंकारवादी, रस-ध्वनिवादी आचार्यो ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मानकर काव्य मे कवि-कर्तृत्व का प्राधान्य स्वीकार किया है। संस्कृत की अनेक सूक्तियो मे जहाँ कवि अपनी रचना-प्रक्रिया मे प्रजापति के समान माना गया है, इसी तथ्य की प्रबल घोषणा है। परन्तु व्यवहार मे भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के वस्तुरूप का इतना अधिक विवेचन हुआ कि कवि का कर्तृपक्ष उसमे दब गया। रस का

---

१ वक्रोक्तिजीवित, १/८ वृत्ति

सूक्ष्म विश्लेषण हमारे काव्यशास्त्र की प्रमुख विशेषता रही, किन्तु उसमे भी भोक्तृपक्ष ही प्रबल रहा, कर्तृपक्ष नही। रस के भोक्ता सहृदयमानस का तो अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया, परन्तु स्रष्टा कवि-मानस की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी।

संस्कृत के दो प्रमुख आलंकारिक 'कुन्तक' और 'भट्टनायक' ने काव्य मे कवि-व्यापार पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। काव्य मे कवि के कर्तृत्व का प्राधान्य स्थापित कर कुन्तक ने अपने स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन का प्रमाण उपस्थित किया। कुन्तक का विषय रस नही था। अत: उन्होने सहृदयास्वाद पर विशेष ध्यान नही दिया। कवि के कर्तृपक्ष की प्रतिष्ठा उन्होने अत्यन्त सबल शब्दो मे की। काव्य की आत्मा के सन्दर्भ मे किसी भी आचार्य ने कर्तृत्व को सामने नही रखा, किन्तु कुन्तक ने स्वाभिमत काव्यात्म-तत्त्व 'वक्रोक्ति' को कवि-व्यापारजन्य घोषित कर कवि के व्यक्तित्व को काव्य मे सबसे आगे लाकर खड़ा कर दिया। उन्होने कवि की परिभाषा ही यही की- **'कवेः कर्म काव्यम्'** कवि का कर्म काव्य है। कवि के वक्रव्यापार से सुशोभित काव्यमर्मज्ञो को आह्लादित करने वाले बन्ध मे व्यवस्थित शब्द और अर्थ का मञ्जुल समन्वय ही काव्य है।[१]

कुन्तक कवि-व्यापार को 'वक्रोक्ति' का स्रोत मानते है जो कवि-शक्ति पर अवलम्बित है। वे प्रतिभा को एक विशिष्ट कवि शक्ति मानते है, जो पूर्व तथा वर्तमान जन्म के संस्कारो से प्रौढ होती है।[२] संस्कारो मे परिपक्वता व्युत्पत्ति और अभ्यास से आती है। इस प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास से

---

१ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। - वक्रोक्तिजीवित १/७

२ प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रोढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।
-वक्रोक्तिजीवित, १/२९ वृत्ति

परिपक्व हुई कवि-प्रतिभा ही कवि-व्यापार के मूल मे है जो काव्य मे वक्रता का सम्पादन करती है। उनकी दृष्टि मे काव्य मे यह वक्रता कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर आश्रित रहने वाला कथन प्रकार है, जिसे उन्होने 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' कहा है।[१] कवि-कर्म की कुशलता है- वैदग्ध्य और भंगी का तात्पर्य है - विच्छित्ति, चारुता या चमत्कार। इस प्रकार कुन्तक ने शब्दार्थ के मञ्जुल समन्वय को काव्य तथा उसे भूषित करने वाले तत्त्व को 'वक्रोक्ति' की संज्ञा दी। शब्दार्थ के अभिन्नभाव से सिद्ध वक्रता ही आनन्ददायिनी होती है।

कुन्तक के सम्प्रदाय मे काव्य मे विशिष्ट अभिधा-व्यापार की प्रधानता रहती है। अपनी वक्रोक्ति के लिए 'विशिष्टाभिधा' शब्द का प्रयोग उन्होने स्वयं किया। कुन्तक की यह अभिधा काव्य मे गृहीत सामान्य अभिधा नही है। प्रत्युत उससे विलक्षण एक विशिष्ट शक्ति है, जो द्योतना एवं अभिव्यञ्जना को विशदरूप से अपने मे अन्तर्भूत किये हुए है। कुन्तक ने स्पष्टरूप से कहा हमारे सम्प्रदाय मे वाचक शब्द से अभिप्राय लोक मे प्रसिद्ध वाचक शब्द से नही है। वाचक वही है, जो अर्थ की प्रतीति कराता हो और इस विशिष्ट अर्थ मे वाचक, द्योतक, व्यञ्जक दोनो प्रकार के शब्दो का भी बोध कराता है। इस प्रकार ज्ञेयरूप धर्म से सम्पन्न होने के कारण वह वाच्य, द्योत्य एवं व्यङ्गय अर्थ का भी प्रतिपादक है[२]। अतः कवि द्वारा अभिप्रेत अर्थ का एक ही वाचक है, जो अन्य शब्दो के रहते हुए भी उस अर्थ को प्रकाशित करने मे समर्थ होता है और वाच्यरूप अर्थ, जो काव्य मे सहृदयो का आह्लादजनक अपने स्वभाव से सुन्दर होता है। इस प्रकार के शब्दार्थ किसी शोभातिशय को

---

१ उभावेतालंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरूच्यते।। - वक्रोक्तिजीवित १/१०

२ वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः।। - वक्रोक्तिजीवित १/८

उत्पन्न करने वाले अलंकार से युक्त होते है। वक्रोक्ति से भिन्न उनका अन्य कोई अलंकार नही। वक्रतापूर्ण कथन ही इन शब्दार्थो मे शोभाधिक्य को उत्पन्न करता है। कुन्तक के मत मे यह विशिष्टाभिधा नामक व्यापार काव्य मे रहता है। कवि अपने व्यापार के द्वारा सत्तामात्र से परिस्फुरित जाति के पदार्थो मे एक प्रकार की अतिशयता का विधान कर देता है,[१] जिससे एक विचित्र सहृदयहृदयहारिणी रमणीयता का अध्यारोप हो जाता है। सत्तारूप मे विद्यमान पदार्थ को कवि-प्रतिभा अतिशय आकर्षक बिम्ब का रूप प्रदान कर देती है। यह अतिशय विधान का कौशल है। कवि-व्यापार का प्राणतत्त्व है, जिसके कारण पुरातन वस्तु भी नूतनरूप मे रमणीय हो उठती है।

जिस समय कवि-सर्जना मे ध्यानावस्थित होता है उस समय उसकी प्रतिभा के उन्मेष से अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से रमणीय शब्दावली मे अभिव्यक्त हो उठता है। यही मन्तव्य आचार्य महिमभट्ट का है। कवि का वह व्यापार जो विभावादि की सम्यक् योजना स्वरूप हो तथा जिसके द्वारा अव्यभिचारीरूप से रसाभिव्याक्ति हो सके काव्य कहलाता है।[२] उसके दो प्रकार है अभिनेयार्थक और अनभिनेयार्थक। 'काव्यकौतुक' मे काव्य की व्युत्पत्ति **'कवेः कर्म'** अथवा **'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्'** की गयी है, जिससे स्पष्ट है कि काव्य का कारण कवि है जिस समय शब्दार्थ के भावन मे तल्लीन कवि का मन पूर्णतः समाहित हो जाता है, उस समय एक क्षण ऐसा भी आता है कि कवि की प्रज्ञा शब्दार्थ के स्वरूप का सहज साक्षात्कार कर लेती है। यही काव्य सर्जन का क्षण होता है, जिसमे कवि अपने व्यापार मे आकण्ठ डूबकर

---

१ यत्र वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते, केवल सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणी रमणीयतांमधिरोप्यते। - वक्रोक्तिजीवित ३/२ वृत्ति

२ कवि व्यापारो हि विभावादि संयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयाचनभिनेयत्वे द्विविधम् । - व्यक्तिविवेक पृ० १०१

विभावादि के संयोग से रससिक्त पदगुम्फन की रचना करता है। शब्दार्थ के इस वास्तविक रूप को राजशेखर ने 'पदार्थसार्थ' कहा है।[1] उनके मत मे "पदार्थ से तात्पर्य शब्दसमूह, अर्थसमूह, अलंकारतन्त्र, उक्तिमार्ग एवं इस प्रकार के अन्य काव्यप्रसाधनो से है, जो वस्तुपरक दृष्टि से शब्दार्थ का चमत्कार है। प्रतिभा इन सभी को कवि के हृदय मे प्रतिभासित कर देती है, जिससे शब्दार्थ मे अपूर्व सौन्दर्य विस्फुरित हो जाता है। इस प्रकार कवि का मुख्य व्यापार है- शब्दार्थ मे अपूर्व सौन्दर्य का परिस्फुरण। यह अम्लान प्रतिभा द्वारा ही संभव है।[2]

काव्य मे कवि-व्यापार का वैशिष्ट्य मानने वाले दूसरे आचार्य है- भट्टनायक। इनका मत कुन्तक से भिन्न तथा पृथक् है। भट्टनायक के मत मे काव्य मे रसविषयक चर्वणा-व्यापार का प्राधान्य रहता है। रस काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। कवि सब प्रकार से रस परतन्त्र होकर ही काव्य-रचना करता है।[3] अतः भट्टनायक ने रसभुक्ति की मीमांसा मे 'भोजकत्व' नामक एक विलक्षण व्यापार को स्वीकार किया है, जो अभिधादि व्यापारो से भिन्न एवं स्वतन्त्र होता है। काव्य से जो अर्थ अभिधा-व्यापार द्वारा उपस्थित होता है, वह व्यक्ति विशेष से आवृत होता है। शब्द का 'भावकत्व-व्यापार' इसे परिष्कृत कर उससे व्यक्ति विशेष के आवरण को हटाकर उसका सामान्यीकरण कर देता है। इस प्रकार से सामान्यीकृत काव्यार्थ मे जो स्थिति

---

१ या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। -काव्यमीमासा, अध्याय-४

२ अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननव शब्दाथबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।। -वक्रोक्तिजीवित १/२५

३ कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् ।
-ध्वन्यालोक ३/१४ वृत्ति

व्यक्ति विशेष की रही, लगभग वही पद सामाजिक को प्राप्त हो जाता है, और यह व्यापार उसे काव्य का साक्षात्कारात्मक भोग कराता है।

इस प्रकार सृजनात्मकता को प्रक्रियारूप मे व्याख्यात करने की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आचार्य भट्टनायक मे भी लक्षित होती है। उनके मत मे जहॉ शब्द की महिमा है वह पृथक् शास्त्र केवल वेदादि है। जहां अर्थतत्त्व की प्रधानता है वह इतिहास आख्यान आदि की रचना है। इन दोनो के गुणीभूत की स्थिति मे क्रियातत्परता ही प्रधानता से स्थित है। वही काव्य-रचना का विषय है- अर्थात् "काव्य धी का उदय तब होता है, जब शब्दचिन्तन एवं अर्थसंधान गौण हो जाते है, केवल व्यापार का प्राधान्य हो जाता है।[१]" आचार्य आनन्दवर्धन ने भी शब्दार्थ के गुणीभूत होने की स्थिति मे व्यञ्जना व्यापार की प्रधानता को ही काव्य के मूलतत्त्व ध्वनि के रूप मे स्वीकार किया, जो वाच्य और वाचक की गुणीभूतावस्था के प्रतिफलन की चरम परिणति है। भारतीय काव्यचिन्तक आचार्यो के काव्यपरक चिन्तन मे कविव्यापार की प्रधानता यत्र तत्र उपलब्ध अवश्य होती है, परन्तु रस के सापेक्षतया उसका उन्मीलन कम ही रहा। काव्यशास्त्र के अनुसार कवि-सर्जना के दो अंग है-

(१) वर्ण्यवस्तु के मर्म का उद्घाटन

(२) शब्दार्थ के रहस्य का साक्षात्कार।

वर्ण्यवस्तु के मर्मोद्घाटन से तात्पर्य है- वस्तु मे निहित ऐसे तत्त्वो का अनावरण जिनका प्रमाता के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। शब्दार्थ के रहस्य का अर्थ है- शब्द और अर्थ के कल्पना-रमणीय सम्बन्धो का उद्घाटन। कवि

---

१ शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु.
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयो ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् । -ध्वन्यालोकलोचन १/५ वृत्ति

अपनी प्रतिभा के द्वारा दोनो कार्य सम्पन्नकर अपना सर्जनात्मक-व्यापार करता है। कवि-व्यापार के दोनो अंग केवल व्यावहारिकदृष्टि से पृथक् माने जा सकते है। तत्त्वतः इनकी स्थिति पृथक् नही है। वस्तुत काव्यवस्तु के रमणीय तत्त्वो का उद्घाटन शब्दार्थ के रमणीय सम्बन्धो के उद्घाटन द्वारा ही सम्भव है और शब्दार्थ मे रमणीय सम्बन्धो का समावेश वस्तु के रमणीय तत्त्वो के सम्पर्क से ही होता है। अतः तात्विकदृष्टि से कथ्य और कथन की रमणीयता मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, किन्तु व्याख्यान विवेचन मे इन्हे पृथक् मान लिया जाता है। इस सन्दर्भ मे कुत्तक का विचार प्रमाण है "अलंकृति अर्थात् कथन के सौन्दर्य और अलंकार (कथ्य) का सौन्दर्य का पृथक् विवेचन केवल इसलिए किया जाता है, क्योकि इससे काव्य के आस्वादन मे सहायता मिलती है। तत्त्वदृष्टि से तो काव्य सालंकार ही होता है अर्थात् उसमे अलंकार और अलंकार्य का भेद नही किया जा सकता।[१]" तलस्पर्शी चिन्तन करने पर कुन्तक का विचार कवि के शब्दार्थमय चिन्तन को ही मूलरूप मे प्रकट करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अंगद्वय बाह्य एवं अन्तस् अविभाज्यरूप से संयुक्त होकर काव्य का निर्माण करते है। भारतीय काव्याचार्यो ने बाह्य को काव्य शरीर एवं अन्तस् को काव्यात्मा माना है। शब्द काव्य का शरीर है[२], एवं रस आत्मा है। शरीर और आत्मा मे तात्त्विकदृष्टि से आत्मा का अधिक महत्त्व है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्रियो ने रसानुभूति को काव्य का परम प्रयोजन माना और अलौकिक कहकर इसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की उपाधि प्रदान की, किन्तु व्यावहारिकदृष्टि मे तो गोचरसत्ता शरीर की ही है। वस्तुवादी

---

१ अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।। -वक्रोक्तिजीवित १/६

२ शब्दार्थौ ते शरीरम् । - काव्यमीमांसा, अध्याय ३

विचारधारा मे आत्मा शरीर का धर्म है। सुन्दर शरीर सुन्दर आत्मा की पूर्व स्वीकृति कही जा सकती है। भारतीय काव्याचार्यो ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसी तर्कपद्धति का अवलम्बन किया है। इसीलिए काव्यलक्षण का मूलसूत्र आरम्भ से 'शब्दाथौ काव्यम्' ही रहा है। काव्य-सौन्दर्य के मूर्तरूप के विषय मे भारतीय काव्यशास्त्र मे कोई वैमत्य नही है, किन्तु केवल शब्दार्थ या सामान्य शब्दार्थ ही काव्य नही है। काव्य तो विशिष्ट शब्दार्थ की ही संज्ञा है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर भिन्न-भिन्न आचार्यो ने स्वाभिमत काव्य की व्याख्या की। उसे दण्डी[१] ने 'मनोरम सहृदयहृदयाह्लादक अर्थ से युक्त शब्द समूह', वामन[२] ने 'सौन्दार्याधायक अलंकार से युक्त रीति,' भामह[३] ने 'शब्दार्थ का सहितभाव' आनन्दवर्धन[४] ने 'व्यञ्जन-व्यापार से युक्त ध्वनि', क्षमेन्द्र ने 'औचित्य'[५] तथा कुन्तक ने 'वक्रोक्ति'[६], मम्मट[७] ने 'दोषरहित गुणयुक्त शब्दार्थ', विश्वनाथ[८] ने 'रसात्मक वाक्य', तथा पण्डितराज जगन्नाथ[९] ने 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द' को ही काव्य कह डाला। जिससे यह स्पष्ट है कि कवि का सम्पूर्ण व्यापार शब्द और अर्थ मे ही होता है, परन्तु इस व्यापार मे क्रम क्या है? पहले शब्द अथवा पहले अर्थ अथवा क्या, विचारणीय है? कवि-व्यापार मे शब्दार्थ तुल्य सत्तात्मक है, यह क्योकि

---

१ शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। - दण्डी, काव्यादर्श १/१०

२ 'रीतिरात्मा काव्यस्य' । - वामन काव्यालकारसूत्रवृत्ति १/२/६

३ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । -भामह काव्यालङ्कार १/१६

४ - ध्वन्यालोक १/१३

५ औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् । - औचित्यविचारचर्चा ४/५

६ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशलिनि। - वक्रोक्तिजीवित १/७

७ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि १/१ सूत्र

८ वाक्यं रसात्मकं काव्यम् -साहित्यदर्पण १/३

९ रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । - रसगङ्गाधर १/१

भारतीय काव्याचार्यो की काव्यात्मक उक्तियो मे यह वैमत्य साक्षात् दृष्टिगोचर हो रहा है। जहॉ कुछ पूर्ववर्ती आचार्यो ने दोनो के मञ्जुल समन्वय को कविव्यापार के मूल मे निहित बताया है, वही 'आचार्य वामन' और 'पण्डित राज जगन्नाथ' जैसे आचायो ने मात्र शब्द को कवि-व्यापार की मौलिक सम्पत्ति कहा है। स्वाभिमत काव्य विषयक अवधारणा के सत्यापन मे आचार्यो ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का खण्डन-मण्डन तो किया, परन्तु इस समस्या पर निश्चयात्मक अवधारण नही किया। आचार्य कुत्तक ने इस समस्या पर अपने चिन्तन को दिशा देने का प्रयास अवश्य किया, परन्तु उनका आलोक वस्तु स्थिति को पूर्णरूप से स्पष्ट करने मे आंशिक सफलता ही प्राप्त कर सका। उन्होने काव्य विषयक अवधारणा मे 'सहित' शब्द का सन्निवेश करते हुए कवि-व्यापार मे शब्दार्थ को स्थिति को तुल्य बताया, कोई किसी से रञ्चमात्र भी कम नही। काव्य मे सौन्दर्याधान के लिए दोनो की एक सी मनोहारिणी स्थिति सर्वथा अनिवार्य है।[१] जितने सुन्दर अर्थ का वर्णन किया जा रहा हो, उतने ही सुन्दर शब्दो का भी चयन होना चाहिए, तथा जितने ललित शब्दो का सन्निवेश हो तदनुरूप सुन्दर अर्थ का विधान होना चाहिए। शब्द, अर्थ-गौरव के अनुरुप हो और अर्थ शब्द-सौन्दर्य के अनुरूप। मेरे विचार मे जब हम काव्य का सम्बन्ध अपनी रागात्मिका वृत्ति से करते है, तो उसी की अभिव्यक्ति मे ऐसी कलात्मकता होनी चाहिए जो हमारे चित्त को आकर्षित एवं अनुरञ्जित कर सके। अतः कवि का यह कर्तव्य है कि काव्योचित शब्दो की संघटना करते समय उसे ऐसी रीति से अभिव्यक्ति दे जिससे काव्य की वर्णना सौन्दर्यमयी बनकर सहृदयजनो की मनोवृत्तियो को रसाप्लावित कर दे, तथा वे जीवन की व्यापकता का संवेदनात्मक अनुभव कर सके। काव्य मे अनेक गुणो की संहति के साथ उसमे नाद का सौन्दर्य-

---

१ साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। -वक्रोक्तिजीवित १/१७

विधान विशेषरूप से होना चाहिए। कवियो के लिए शब्द प्रयोग से बढ़कर अन्य कोई महत्तर विषय हो नही सकता। शब्दब्रह्म ही नादब्रह्म है। नादब्रह्म की स्वरलहरी ही विश्व के अणु-परमाणुओ मे परिव्याप्त है। उसके समुचित संयोजन मे सृष्टि का अनुक्रम अनुस्यूत है। छन्दो के कारण हमारे मनोभावो की अभिव्यक्ति मे उनमे वैशिष्ट्य के अनुरूप अनुरणन की व्यवस्था होती है, जिनसे हमारा मनः प्रसादन होता है। कवि वाणी की स्वर लहरी मे निनादित जीनव का छन्दोमय गान ही व्यवस्थित विश्व को शन्ति प्रदान कर सकता है। भामह का पूर्ववर्ती सम्प्रदाय जो काव्य को शब्दात्मक सर्जना मानता था अर्थात् काव्य की संज्ञा ही 'सौशब्द' थी।[१] शब्दो का सुष्ठुप्रयोग उसके अनुसार क्रिया और संज्ञा का सौन्दर्य ही वाणी का अलङ्कार है। काव्य मे शब्द-सौन्दर्य द्वारा जितना चमत्कार आ सकता है उतना अर्थ-सौन्दर्य द्वारा नही अपनी मान्यता के समर्थन मे इस वर्ग का तर्क था कि काव्य के पठन-पाठन अथवा श्रवण से सर्वप्रथम शब्द ही हमारे हृदय पर अपना प्रभाव अंकित करता है, जिसका मधुरविन्यास हमे आह्लादित कर देता है। उस समय अर्थप्रतीति का कोई विषय उपस्थित ही नही होता, शब्दश्रवण की क्रिया सम्पन्न होने के अनन्तर अर्थ प्रतीति होती है, अतः चमत्कार पूर्ण सौशब्द काव्य का प्राण है। 'भामह' को इस प्रसंग मे रचना के लिए दोनो का समानबल स्वीकार था। यहां 'सौशब्द' और उसके प्रति 'भामह' की हेयता को लेकर प्रश्न उठता है कि क्या जिसे सौशब्द-काव्य कहा गया उसके रचयिता कवि का लक्ष्य अर्थशून्य सर्जना से रहा, तो इसका उत्तर 'नही' ही होगा, क्योकि श्रुतिपेशलता का विशिष्टपक्ष रखने वाला काव्य अर्थहीन नही हो सकता है।

---

१ शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्ट द्वयं तु नः।
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।। - भामह काव्यालंकार १/१५
तदेतदाहुः सौशब्द्यनार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।। -भामह काव्यालकार १/१४

श्रुतिपेशलता का अनुभव कौन करेगा? मन। मन के अनुभव और उसके क्रियातत्पर होने के लिए इन्द्रियग्राहय अर्थ की प्रस्तुति आवश्यक है। इन्द्रियग्राहय अर्थ के अभाव मे मन के अनुभव और उसकी क्रियाशीलता के लिए अवसर कहॉ? अर्थ की अनुभूति और प्रेरणा ही सर्जना की मूल है, पर शब्द के रचनारूप मे वह अर्थ खो गया।

कवि जब अपने व्यापार मे प्रवृत्त होता है। तब शब्द की सृष्टि करता है या अर्थ की? काव्यशास्त्रीय आचार्यो की यह सनातन समस्या रही है। संस्कृत के कुछ वरेण्य आचार्यो ने शब्दार्थ-युगल को काव्य मानकर इस वैमत्य का इदमित्थं निराकरण किया अवश्य है, किन्तु मेरे विनम्र विचार मे काव्य-रचना का क्षण एक मे ही होता है, वह चाहे शब्द मे हो या अर्थ मे, क्योकि एक साथ दो व्यापारो की क्रियाकारिता स्वीकार नही की जा सकती। यद्यपि काव्य शब्द और अर्थ दोनो से दीप्त होता है, तथापि रचना की सीमा जहां समाप्त हो रही थी, रचनात्व धर्म क्षणभर के लिए कवि के भीतर जब उदय हुआ था, उस समय सर्जक कवि की रचयित्री प्रतिभा से अनुप्राणित कौन हो रहा था? उसको सृज्जमान होने की अनन्त उत्कण्ठा से पी कौन रहा था? प्रश्न यह है। अर्थ का भाव दर्शन भी मन मे था, शब्द को भी मन ही उद्गारित करने वाला था, क्योकि सृष्टि के समस्त अर्थजाल का संस्पर्श मन को ही है वाणी मन मे समायी हुई है मन शब्दार्थ से घिरा है।

शब्दार्थ का साहचर्य अनादि है। अर्थ के बिना शब्द प्रयोग की कल्पना नही की जा सकती। यदि शब्द है तो उसका कोई न कोई अर्थ अवश्य होगा। अर्थ अपने आप मे मूक है, जब तक उसे शब्द का माध्यम नही मिलता। हमारे प्राचीन आचार्यो ने शब्द की महिमा का गान वहुशः किया है। उसके प्रयोग के विस्तृत और अपार क्षेत्र के सम्बन्ध मे महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य

मे सम्यक् ढंग से विवेचन किया है। शब्द के प्रयोग का विषय महान् है[1] परन्तु इस शब्दसागर के अन्तस्थल मे गोता लगाकर काव्योपयुक्त वर्णो का चयन करते हुए कवि अपने व्यापार से उन्हे जिस प्रकार की गरिमा प्रदान करते है। वह उसका अमृतनिष्यन्दन ही कहा जायेगा। वाणी के चार प्रकार- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी है। इनमे बैखरी वाणी ही श्रूयमाण शब्दरूप मे हमारे सामने आती है, और उसी के साथ अर्थ अभिव्यक्त होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो ये प्रकारान्तर से अर्थ की चार कोटियां है परा पश्यन्ती और मध्यमा मे वह मूक है और बैखरी मे अभिव्यक्त। अतः अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता कैसे मानी जाय? वह केवल शब्द के साथ ही मूर्तिमान् होता है। कवि के अन्तस् मे अर्थ का परिमाप चाहे जितना विस्तृत हो, परन्तु सर्जना के क्षणो मे उसका विस्तार शब्दो मे विलीन हो जाता है। अर्थ प्रकाश्य अवश्य है, पर वह शब्द की ज्योति मे ही भासित होता है। शब्द मे सौन्दर्य अर्थ के साथ ही आता है।

अतएव व्यावहारिकदृष्टि मे शब्द, अर्थ के बिना प्रयुक्त नही होता। प्रतिभासम्पन्न कवि की वाणी अर्थावरोहण के साथ स्वतः परिवर्तित होती रहती है। इस सन्दर्भ मे हम कुन्तक के विचारो से सहमत है। "कवि काव्य-सर्जना करते समय शब्द के प्रति उत्तरदायी होता है। अर्थ का धरातल ऐसे ही पीछे छूट जाता है, जैसे समुद्र से उठे हुए बादल हिमालय से टकरा रहे हो और समुद्र बहुत दूर हो, ऐसे ही शब्द की मेघलड़ियॉ कवि के मुख मे उद्गीर्ण होती है।[2] **"कुन्तक के मत में विवक्षित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द तो अनेक होते हैं, किन्तु उन समस्त शब्दों में काव्य की रचना सृष्टि**

---

१ महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः सप्तद्वीपा वसुमती चत्वारो वेदा॰ सागा सरहस्या बहुधा विभिन्नाः एकशतम् अध्वर्यु शाखा॰ सहस्रवर्त्मा सामवेद॰ एक विशति धा वाहवृच्यम् नवधाथर्वणो वेद. . . . । - पतञ्जलि -योगसूत्रभाष्य

२ कवि और काव्यशास्त्र, डॉ० सुरेशचन्द्रपाण्डेय, पृ० ९८

जिसमें अभिव्यक्त होती है वह शब्द केवल एक होता है, मात्र उसी शब्द विशेष में कवि व्यापार करता है, जो सहृदयों को आनन्दित करता है।[1]" कवि-व्यापार केवल शब्द-व्यापार है। अर्थ तो स्वतः उसमे समाया रहता है। काव्य-शास्त्र के आधुनिक चित्तको ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है "वाणी जो पुरुष के मन की अधिष्ठात्री है तथा प्राण जो मनुष्य के कर्तृत्व का प्रतिनिधित्व करता है, दानो एक दूसरे से आह्लादित होते है। कर्तृत्व जो अहं का पर्याय है जो प्राणो मे बिखरा है अन्तर्मन को लीन कर ऊपर को उठता है। यहाँ यह अन्तर रहता है कि मन बुद्धि से अर्थो को नही समेटता। प्राण अर्थात् जगत् का कर्तृत्व मात्र उसमे लय होता है। साम संगीत बन जाता है तब मन के साथ इसका संस्पर्श काव्य के वाणी (ऋक) की सृष्टि करता है। इस प्रकार काव्य की रचना मे भाषा का ही सर्जन होता है। अर्थ या जगद्गत काव्यवस्तु अपना अस्तित्व खोकर प्राण मे लय हो गये रहते है। हम पाठक काव्य को पढ़कर पुनः उसे मूलरूप मे नही पाते। हमारे साक्षात्कार मे एक आनन्द होता है जिसके रहस्यमय अवयवो मे अर्थवस्तु ओत-प्रोत रहती है।"[2]

कवि-सर्जना के सृज्यमान क्षणो मे कवि के समक्ष शब्द का सौन्दर्य होता है या अर्थजगत् का। दानो मे स्थिति एक की ही होगी। कर्तृत्व एक के प्रति ही अभिनिविष्ट होता है। यदि यह माना जाय कि वह अर्थ के प्रति अभिनिविष्ट है तो काव्य-सृष्टि की अभिव्यक्ति शब्द-रूप मे होगी और यदि शब्द के प्रति अभिनिविष्ट हो तो भी काव्य-रचना वाणी के रूप मे ही सामने आयेगी। अतः सृष्टि की अभिव्यक्ति जिस रूप मे होगी कर्ता का अभिनिवेश उसी रूप मे होगा। यहाँ यह बात भी स्पष्ट है कि अर्थवस्तु एक ही होती है,

---

१ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः।। -वक्रोक्तिजीवित १/९

२ कवि का रचना व्यापार और साहित्य शास्त्र डॉ० जयशकर त्रिपाठी इलाहाबाद संस्करण पृ० ३१-३२

और उसकी अभिव्यक्ति के वाणी प्रकार अनेक है। यह अनेकता सृष्टि का लक्षण है। रचना रूप की अभिव्यक्ति है। यहां डॉ० जयशंकर त्रिपाठी का विचार ध्येय है- "अर्थ या वस्तु दर्शन का विस्तार असीम है, किन्तु कोई भी अर्थ अपने बोध के अछोर स्पर्श मे एक ही है, और भाषा उस एक को ही अनेक प्रकार से प्रकट करती है। अतएव काव्य-रचना की रच्यमान स्थिति में रचनात्मकता भाषा की ही है। अर्थ तो अपनी जगह ज्यो का त्यो है। भाषा मे उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार बदल जाते है।[१]" डॉ० त्रिपाठी का विचार इस तर्क पर खरा उतरता है कि काव्य की मूलरचना जिस भाषा मे होती है, उसका समग्र काव्य-सौन्दर्य उस भाषा मे विद्यमान रहता है, यदि उसका भाषान्तरण किया जाय तो अर्थ तो वही रहेगा पर काव्य-सौन्दर्य का जो चमत्कार मूल भाषा मे था वह भाषान्तर मे नही रह जायेगा। यह सौन्दर्य कवि की रची हुई भाषा मे समाहित था अर्थ मे नही। अत: स्वीकार करना पड़ता है कि कवि अपने व्यापार मे शब्द की सृष्टि करता है अर्थ की नही। महान् कवियो की सरस्वती सुस्वादु अर्थवस्तु को अपने आप प्रवाहित करती हुई लोकोत्तर चमत्कृति विशिष्ट प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है।[२] आचार्य भट्टनायक जो शब्दार्थ को गौण मानते हुए क्रियातत्परता को काव्य-रचना का विषय मानते हैं। वे काव्य के रच्यमान क्षणो मे अर्थतत्त्व का तिरस्कार तो करते ही है, शब्द की स्थिति भी गौण मानते हैं, परन्तु उनकी क्रियातत्परता शब्द के अधिक निकट है अर्थ के नही। अभिनवगुप्त के अनुसार ध्वननव्यापार शब्द का विषय है। अत: काव्य से रसबोध या भावाभिव्यक्ति सहृदय पाठक को काव्य-रचना मे प्रयुक्त शब्दो के निष्पीडन से होती है अर्थ

---

१ कवि का रचना व्यापार और साहित्य शास्त्र- डॉ० जयशकर त्रिपाठी इलाहाबाद संस्करण पृ० ३१

२ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमाभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम् ।। -ध्वन्यालोक १/६

से नही।[१] आचार्य कुन्तक ने कवियो के सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम रूप से तीन मार्गों का व्याख्यान किया है। उनमे सुकुमारमार्ग को सहज प्रतिभासम्पन्न कवियो की सृष्टि शब्द सौन्दर्य से मण्डित होती है। परन्तु उनसे इतर अभ्यासादि से काव्य-रचना का कौशल अभिव्यक्त करने वाले जो आहार्य कवि है ऐसे कवियो का ध्यान पहले अर्थ पर जाता है। ये अर्थ के अनुसार शब्द की खोज करते है। ऐसी रचनाओ मे काव्य की वह मनोज्ञता नही आ सकती जो अनिर्वचनीय अपरिच्छेद्य हो। अतएव सहजकवि को प्रजापति के समकक्ष बताया गया है। वह स्वेच्छा से विश्व को जैसा चाहता है परिकल्पित कर देता है। विश्व को इस प्रकार से परिकल्पित करने की क्षमता केवल सजहकवि मे ही होती है। आहार्यकवि तो काव्य-सृष्टि मे विश्व की ऐसी परिभावना नही कर सकते जो दूसरी सृष्टि का रूप ले ले, क्योकि वे अर्थ की उपासना करते है। ऐसे कवियो की रचना उक्ति या पाण्डित्य प्रदर्शनमात्र ही रह जाती है।

काव्य मे जगत् के भावो से परिभावित कवि का अन्तर्मन ही मूलरूप से व्यापार करता है। काव्य कवि के अन्तर्मन की भावप्रक्रिया का विशुद्ध क्षेत्र है क्योकि इसमे बुद्धि संस्पर्शी अर्थवत्ता का अतिवाद प्रवेश नही पाता। जिस मन का अनुभव हमे होता है सामान्य जगत् मे जिसकी व्यावहारिकता घटित होती रहती है, उस मन के अनन्तर हमारे प्राणो के बीच कोई रहस्यदर्शी अन्तर्मन सोया रहता है, वह जाग्रदवस्था मे आता है तो केवल शान्ति और ह्लाद की अनुभूति होती है। दुःख और ताप को यह अन्तर्मन स्वप्नलोक (रहस्यलोक) में ले जाकर ह्लाद मे बदल देता है। सर्जक के पास यही

---

१ काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुन पुन पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयोलोक, न तु काव्यस्य, तत्र 'उपादायापि ये हेया' इतिम्यायेन कृत प्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापार।

-ध्वन्यालोक लोचन १/१८

अन्तर्मन विराट बन जाता है और अपने रहस्यलोक को आनन्द का रूपायन प्रदान कर देता है। आनन्दवर्धन ने इस शब्द-रूपायन और अर्थजगत् को विरल कहा है।[1] काव्य का वह अर्थ और उसे व्यक्त करने की क्षमता रखने वाला शब्द दोनो ही विरल होते है। महाकवि को इस शब्दार्थ का प्रत्यभिज्ञान यत्नपूर्वक करना चाहिए।

शब्दार्थ अन्तर्मन के भावदर्शन का परिणाम है और काव्यात्मक रूप मे व्यवस्थित रस, भाव के ऊपर ही आश्रित होकर काव्य मे उन्मीलित होता है।[2] अतः आवश्यकता तो केवल अन्तर्मन के जागरित होने की होती है। जैसे योगी कुण्डलिनी को जाग्रत करता है उसी प्रकार कवि अपने काव्य के रच्यमान क्षणो मे जब अपने अन्तर्मन को जाग्रत कर लेता है, तब उसकी विराटशक्ति मे भूत, वर्तमान और भविष्य अन्तर्लीन हो जाते है और भावो से अभ्युदित अर्थानुरूप शब्दावली उसके समाधिस्थ चित्त मे स्वतः आने लगती है। कवि-व्यापार के केन्द्र मे स्थित इस अन्तर्मन की सत्ता मे प्रमाण क्या है? यह दूसरा प्रश्न है। हमारी दार्शनिक चिन्तन धाराओ मे नैय्यायिको ने मन को द्रव्य की संज्ञा प्रदान की है। सांख्यदर्शन के त्रिविध अन्तः करण मे मन की सत्ता है।[3] अतः इसका चेतनत्व तो स्वतः सिद्ध है। यह आत्मा से सदा संयोग रखने वाला एवं उसका प्रतिनिधित्व करने वाला है। लोकदर्शन इस संकल्प-

---

१ सोऽर्थस्तद्व्यक्तसामार्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे॥ -ध्वन्यालोक १/८

२ न भावहीनोऽस्तिरसो न भावो रसवर्जित। -नाट्यशास्त्रम् ६/३६

३ अन्त.करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥

-ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका पृ० ३३

विकल्पात्मक मन की प्रकृति है[1], पर यह प्रकृति इस की नही अन्तर्मन की होती है, जो शाश्वत सृष्टितत्त्वो से परिगणन करके अर्थो को सम्यक् संघटना प्रदान करता है। कवि-जगत् के दृश्यो को इन्द्रियो से ग्रहण करता है। मन इन्द्रियग्राहय दृश्य की सूचना प्राप्त करता है, जहां भावो का जन्म होता है। भावगृहीत मन अन्तर्मन से जब संयुक्त होता है तो कवि शब्दगुम्फन मे स्वत प्रवृत्त हो जाता है।

अचेतन, अन्तर्मन का ही पर्याय है, जिसकी क्रियाएँ और प्रेरणाएँ उसके अस्तित्व का बोध कराती है, वे स्वयं उदगम लेती है। यह मन का अचेतन स्तर है, जिसे हम **रहस्योन्मुख बुद्धिनिर्मुक्त** मन, की संज्ञा से अभिहित कर सकते है। अभिज्ञान शाकुन्तल[2] मे कालिदास ने पूर्ववर्ती राग के अवचेतन मन मे छिपे रहने की और जन्मान्तर प्रेम के स्मरण की जो चर्चा की है वह इसी आशय की द्योतक है वहाँ सौहृदरागो का स्मरण करने वाला चेतस प्रत्यक्ष दृष्ट नही है वह अन्तश्चेतस् है सर्जन की शक्ति कवि के इसी अन्तश्चेतस् मे अवतरित होती है। कालिदास के इस छन्द मे 'स्मरति' पद की व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने लिखा है कि यहाँ स्मरति पद से जिस स्मृति की ओर संकेत है वह सतत् जाने हुए विषय के ज्ञान की स्मृति नही है वरञ्च यह स्मृति प्रतिमान का पर्याय है।[3]

---

१ "संकल्पकमत्र मन:"- साख्यतत्व कौमुदी इला० प्रकाशन पृ० २४३ आद्याप्रसाद मिश्र

२ रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखिनोऽपि जन्तु।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरमसौहृदानि।। -अभिज्ञान शाकुन्तलम् ५/२

३ अत्र हि स्मरतीति या स्मृति: रूपदर्शिता सा न ता किं प्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् अपितु प्रतिमानापरपयार्य: साक्षात्कारस्वभावेयमिति। -अभिनव भारती ६/३१

अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के सर्जन पक्ष को लेकर मनस् को उसके कर्तृत्वपक्ष मे रखा है। मन चञ्चल है। जब तक यह चञ्चलता है तब तक कोई सर्जना हो नही सकती। सर्जना के लिए एकाग्रता अनिवार्य है। मन की एकाग्रता की यह स्थिति रचना सकल्प के जिस स्तर पर होती है उसी स्तर पर अन्तर्मन का उदय होता है। वह मन किसी विधाता का मन होता है।

कवि धर्म मे कल्पना एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यह कल्पना विशेष प्रकार की होती है, जिसका कार्य है मूर्ति विधान। कवि अपने मन की मूर्तियो को पाठक के अन्तस् तक प्रेषित करने के लिए निसर्गतः शब्दो की सर्जना करता है। काव्य संवेद्य है, कल्पना इस संवेदन का अनिवार्य साधन। "कवि अपनी भावकुता की तुष्टि के लिए कल्पना को रूप विधान मे प्रवृत्त करता है। जब भावो की उमंग कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूलगुण भावुकता अर्थात् (अनुभूति की तीव्रता) होता है, तब कल्पना उसकी सहयोगिनी है पर ऐसी सहयोगिनी, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा नही सकता, और अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-व्यापार है।[१]" कवि की उक्त कल्पना ही भावदर्शन है तथा कवि की भावुकता या अनुभूति की तीव्रता अन्तर्मन का व्यापार। भावुकता का अर्थ है क्रियाकारिता। भाव अर्थात् क्रिया- **'भावप्रधानमाख्यातम्।[२]'** कवि का मूल गुण अनुभूति की तीव्रता है। गहन अन्तर्मन ही कविता को जन्म देता है। जिसका अन्तर्मन जितना ही विराट है वह उतना ही बड़ा कवि है। कवि के अन्तर्मन का सारा व्यापार आनन्द से संचालित होता है। अतः व्यापार मे दुःख, घृणा, क्रोध के भाव भले ही हो, वे सभी परोक्ष एवं रहस्य की स्थिति मे अन्तर्मन के संयोग से आनन्द का ही उद्‌गार करते है। अभिनवगुप्त ने इसे

---

१ कवि का रचना व्यापार और साहित्य शास्त्र- डॉ० जयशंकर त्रिपाठी इला० प्रकाशन पृ० सं०-१३

२ निरूक्त- प्रथमपाद (नाम और आख्यात)

ध्वननव्यापार से अतिरिक्त नही माना, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि विक्षेप करे तो भट्टनायक का मत अधिक स्वच्छ है। काव्य प्रथमतः मनोव्यापार है, पीछे व्यञ्जना, लक्षणा और वक्रोक्ति। भट्टनायक ने काव्य-रचना मे व्यापारक्रिया-तत्परत्व स्वीकार किया। कवि के अन्तर्मन मे वह व्यापार उसके महान् अहं का विश्व के साथ आनन्दमय संयोग है, जो कवि के अन्तर्मन को ही प्रत्यक्ष होता है। वही कवि की मानसी सृष्टि है। वह जब अभिव्यक्त होती है तो, शब्दार्थ के रूप मे रूपायित हो जाती है।

रस-ध्वनिवादी आचार्यो के मत मे अपना सम्पूर्ण व्यापार कवि रस संयोजन मे करता है। काव्य-सर्जना मे वह किसी लौकिक या व्यावहारिक प्रयोजनवशात् प्रवृत्त नही होता है। उसका पारमार्थिक प्रयोजन आनन्दलाभ ही है। पाठक के हृदय मे रसोन्मेष ही परवर्ती भारतीय काव्य का चरम लक्ष्य रहा है। रस की मूल सामग्री है- भाव। पण्डितराजजगन्नाथ के मत मे रति प्रभृति भाव द्वारा अवच्छिन्न या विशिष्ट हुए बिना चित सत्ता कभी रसरूप मे प्रकाशित नही होती।[१] अतः रस का विशुद्ध रूप कितना भी अलौकिक हो उसे भावो का आलम्बन करना ही पड़ता है। भावाश्रित रसोन्मेष काव्य का विलास है। आचार्य आनन्दवर्धन का मत है 'सुकवियो के व्यापार के मुख्य विषय रसादि है, उसके निबन्धन मे उन सत्कवियो को सदैव प्रमादरहित रहना चाहिए।[२]'

अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य-सर्जना मे कवि स्वच्छन्द होता है, परन्तु इस स्वाच्छन्द्य के नियमन का प्रधान साधन है- औचित्य बोध। उचित वस्तु ही काव्य मे निबद्ध की जा सकती है अनुचित नही, क्योकि औचित्य

---

१ रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिदेव रसः। -रसगंगाधर-आनन -१

२ मुख्या व्यापारविषयाः सुकविनां रसादयः
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः।। -ध्वन्यालोक ३/१९ वृत्ति

का रसोन्मीलन के साथ बड़ा गहरा संबंध है। किस वस्तु के वर्णन मे किस वस्तु का योग अनुकूल होता है? इसका विवेक कवि के लिए सर्वथा अपरिहार्य है। काव्य मे चमत्कार का उदय औचित्य से ही सम्पन्न होता है। औचित्य के अभाव मे काव्य उस मनोज्ञता को प्राप्त ही नही कर सकता जिससे वह सहृदयो को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यही तथ्य रस का जीवित भी है।[१] इस सन्दर्भ मे आनन्दवर्धन का विवेचन विशेष हृदयग्राही है। वाच्य वाचक शब्दादि की रसादि विषयक औचित्य की दृष्टि से योजना करना ही महाकवि का मुख्य कर्म है।[२]

कवि अपनी प्रतिभा के आलम्बन से शब्दव्यापार करता है। उसका काव्यपरक व्यापार उसके समाधिस्थ चित्त का ही प्रतिफल है। जागतिक भावानुभूतियो से संयुक्त कवि का अन्तर्मन तदनुरूप शब्दगुम्फन प्रतिभा के धरातल पर ही खड़ा होकर करता है। उसमे वह अपनी कल्पनाशीलता से मनोज्ञता का सन्निवेश कर उसे सहृदयहृदयाह्लाद के योग्य बनाता है, तथा अलौकिक अतिशयता का विधान कर देता है। उसके मन मे सर्वप्रथम जागरित होता है- 'शब्द का नाद सौन्दर्य', और उसी से भावो को बॉधने वाले सांचे तैयार होते है और उनमे अर्थ की चेतना जागरित होती है। यह प्रक्रिया पूर्ण होने पर काव्य पंक्तियॉ स्वतः ढलकर निकलती है।

---

१ औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना।। -औचित्यविचारचर्चा, श्लोक-३

२ वाच्यानां वाचकाना च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि विषयेणैतत्कर्म मुख्य महाकवे ।। -ध्वन्यालोक ३/३२

कवि-सृष्टि

कवि नानाविध जगत् कर परम्सौभाग्यशाली जीव है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे उसकी उपमा प्रजापति ब्रह्मा से दी गयी है। यथा विधाता के असीम सामर्थ्य से निष्पन्न जागतिकसृष्टि सर्वथा नूतनसौन्दर्य को व्यक्त करती है। तथैव कवि की नवनवोन्मेषशालिनी-प्रतिभा से स्वतः प्रस्फुटित काव्य-सृष्टि मे अलौकिक मधुर्य विद्यमान रहता है। "जब कवि की अन्तरात्मा अपनी व्यथा, अन्तर्वेदना और अनुभूति को अपने अन्दर संवरण नही कर पाती, धैर्य का बॉध टूट जाता है, तब काव्यधारा प्रस्फुटित होती है।[१]" वह अपनी रसाप्यायित शब्दार्थमय साधन सामग्री से सृष्टिकर्ता के साथ होड़ लगाकर काव्यजगत् का निर्माण करता है। आनन्दवर्धन के अनुसार कवि ही इस अनादि, अनन्त, काव्यजगत् का एकमात्र स्रष्टा होता है उसकी अनुभूति मे जगत् जैसा प्रतिभासित होता है वह तदनुरूप उसका शब्दतूलिका से सर्जन करता है।[२] काव्य-सृष्टि उसकी इच्छानुरूप रंगरूप बदलती रहती है। उसका काव्यजगत् सदैव उसका इच्छानुवर्ती रहता है। अभिनव और मम्मट ने तो कवि को ब्रह्मा से भी उच्चतर पद पर प्रतिष्ठित किया है। अभिनव के मत मे जहॉ ब्रह्मशक्ति परिच्छिन्न है वहां कवि वाणी की शक्ति अपरिसीम।[३] मम्मट के

---

१ डॉ० भोलाशंकर व्यास सस्कृत सुकवि समीक्षा, पृ० ३७

२ अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते।।
- ध्वन्यालोक ३/४३ की वृत्ति। अग्निपुराण ३३८/१०

३ सा जयति परिच्छिन्नशक्तिभ्यः प्रजापतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते।
तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थोविकटो निस्सीमासम्पद्यते।।
-ध्वन्यालोक लोचन- उद्योत ४/३ पृ० ५६६

मत मे ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत नियमो से आबद्ध है, सुख-दु ख तथा मोह से आपूर्ण है, उपादानादि कारणो के परतन्त्र है, वह केवल षड्रसो से ही युक्त है, जब कि कविनिर्मिति नैसर्गिक नियमो से रहित है।[१] एकमात्र आनन्दस्वरूप बाह्य कारणो से अतीत तथा नव रसो से आप्यायित है। उसमे 'यत्र पद्मत्व तत्र सौरभविशेषः' जैसा नियम लागू नही होता, अपितु उसकी सृष्टि मे स्त्री के मुख मे कमल की सुगन्ध, उसकी ऑख मे कमल का सौन्दर्य, शरीर मे कमल की कोमलता, अधरो मे किसलय की अरुणिमा तथा भुजाओ मे शाखाओ चञ्चलता रहती है।[२] उसकी सृष्टि मे चन्द्रमा की शीतल चॉदनी और मेघो की मन्दनाद से विरहिणियो के लिए अग्नि की लपटे निकलती हुई दिखाई पड़ती है। यही विलक्षणता ही उसकी सृष्टि की निजी विशिष्टता है, जिसके कारण उसके जगत् मे आकण्ठ डूबे हुए सहृदय आश्चर्य से कह उठते है- 'कमलात् कमलोत्पतिः श्रूयते न च दृश्यते।' ब्रह्मा की सृष्टि अदृष्ट के सिद्धान्त पर आधारित है। तदनुसार व्यक्ति स्वर्ग और नरक को प्राप्त होता है। परन्तु कवि सृष्टि इन बन्धनो से परे एक मात्र उसकी प्रतिभा पर आश्रित है। वह अपनी कल्पना के उदात्त भावभूमि पर बैठाकर मानव को सदेह स्वर्ग मे पहुॅचा देता है।[३] ब्रह्मा की सृष्टि मे सुख और दु:ख दोनों का समन्वय है क्योंकि जगत् का मूल सत्व-रजस्-तमस् से मण्डित है। अतः उसका कार्य-जगत् भी सुख-दुःख-मोहस्वभावा है, परन्तु कविसृष्टि मे

---

१ नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति -काव्यप्रकाश मंगलश्लोक

२ कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥
-काव्यप्रकाश दशम उल्लास, श्लोक सं० ४५०

३ स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥ - काव्यप्रकाश ८/३४८

दुःख का अस्तित्व नही। काव्य मे जब हम 'उत्तररामचरितम्' के कवि को सीता-वियोग मे रोते हुए रामचन्द्र को देखकर "अपि ग्रावा रोदित्यापि दलति वज्रस्य हृदयम्"[१] पत्थरो को रुलाते हुए पाते है, तब उस करुणरस मे भी आनन्द का अनुभव होता है, जिसका प्रमाण सहृदय-हृदय ही है।[२] इस प्रकार काव्य-समीक्षको ने काव्य को कवि की अपूर्व सर्जना मानते हुए काव्यालोक मे कवि के सार्वभौम स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है।[३] कवि ब्रह्मा द्वारा निर्मित जगत् का अनुकर्ता मात्र नही है, वह एक नूतन तथा विलक्षण सृष्टि का विधाता है। उसका विधातृत्व ब्रह्मा के समकक्ष नही, अपितु उससे भी बढकर है।

प्रतिभा का आधार ग्रहणकर कवि काव्यजगत् का स्रष्टा होता है। वह अपनी सृष्टि मे ब्राह्मीसृष्टि के तत्त्वो को ही विषय वस्तु बनाता है। जगत् की ऐसी कोई वस्तु नही है जिससे कवि अपनी सृष्टि के लिए सामग्री ग्रहण नही करता और उसका अपने काव्य मे समावेश नही करता। स्रष्टा होने के कारण वह अपनी कल्पना के बल पर एक नूतन जगत् का निर्माण करता है। कवि-सृष्टि मे समावेशित ब्राह्मीसृष्टि का परिचय पाना ही उसकी व्युत्पत्ति का प्रमाण है, क्योकि बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है,[४] जिसे मम्मट ने निपुणता कहा है।[५] अर्थात् लोक-व्यवहार और शास्त्र का पर्यालोचन ही कविसृष्टि का आधार बनता है। रुद्रट ने व्युत्पत्ति को कविसृष्टि के मूल मे निहित माना है।[६] इस

---

१ उत्तररामचरित- १/२८

२ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ।। - साहित्यदर्पण- ३/४

३ - ध्वन्यालोक लोचन- उद्योत ४ पृ० ५६६

४ बहुज्ञता व्युत्पत्तिः- काव्यमीमांसा अध्याय ५ पृ० ३४

५ काव्यप्रकाश १/३

६ छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदाथविज्ञानात् ।

प्रकार प्रतिभा और व्युत्पत्ति ये दोनो कवि की दक्षिण और वाम भुजाओ की भॉति उसकी सहायता करती है। व्युत्पत्ति, प्रतिभा की पर्याप्त सहायिका होती है। इस सन्दर्भ मे आचार्य भरत का कथन नितान्त तथ्यपूर्ण एवं सत्य प्रतीत होता है- ''जगत् मे ऐसा कोई ज्ञान नही है, कोई शिल्प नही है, ऐसी कोई विद्या नही है, ऐसी कोई कला नही है, ऐसी युक्ति नही है, ऐसा कोई कर्म नही है जो नाट्य मे दिखाई न पड़े।''[१] अर्थात् संसार की समस्त विद्याएँ नाट्य के अंग है। कवि-सृष्टि की व्यापकता को दृष्टिगत कर 'भामह ने भी भरत के शब्दो को प्रकारान्तर से दुहराया है।[२]' रुद्रट ने भी भामह का पदानुसरण कर कवि को सब प्रकार के विषयो से परिचित होने की बात लिखी है। ''लोक मे ऐसा न कोई वाच्य है, न वाचक है, न कोई शब्द है, न अर्थ है जो काव्य का अङ्ग न हो सके।[३] अतः कवि को सर्वज्ञ होने की आवश्यकता है। अत॰ यह परीक्षित सत्य है कि कविसृष्टि के मूल मे लोक और शास्त्र ही निवास करता है। यद्यपि पाश्चात्त्य कवियो ने अपनी सृष्टि मे मानव और प्रकृति (Man and nature) को ही प्रमुखता प्रदान की है, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र मे इन दोनो का अन्तर्भाव लोक के अर्न्तगत हो

युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।। -रुद्रट-काव्यालंकार १/१८

१ न तद् ज्ञानं न तत् शिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

-भरत-नाट्यशास्त्र १/११७

२ न स शब्दो न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहोभारो महान् कवे॰। -भामह-काव्यालंकार ५/४

३ विस्तरस्तु किमन्यत् तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्ग सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा।। -रुद्रट-काव्यालङ्कार १/१

गया है। लोक से तात्पर्य स्थावर एवं जंगमरूपी जगत् का व्यवहार है तथा शास्त्र के अन्तर्गत छन्द, व्याकरण, कला, कोशादि है।[१]

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न मानस-पटल पर साक्षात् उद्बुद्ध होता है कि- क्या कवि जगद्गत वस्तु का यथावत् वर्णन करता है? क्या कविसृष्टि ब्राह्मीसृष्टि का अनुकरण है? अर्थात् वास्तविक जगत् मे वस्तुओ का जो पदार्थ स्वरूप होता है, कवि-अनुभूति मे वह यथावत् रहती है, अथवा किञ्चित् परिवर्तित होती है? कवि अपनी सृष्टि मे बाह्यजगत् के वस्तुओ को विभावरूप मे निबद्ध करता है। ईश्वरीयसृष्टि के अनुरुप ही कविसृष्टि अमूर्त पदार्थो को मूर्तरूप प्रदान करती है। इसके लिए कवि के पास है प्रधान साधन-प्रतिभा, जो मूर्त विधायिनी है। प्रजापति उपादान कारणो की सहायता से सृष्टि कार्य मे समर्थ होता है, परन्तु कवि बिना कारण कलाप के ही अपूर्ववस्तु का निर्माण करता है। वह अपनी प्रतिभा के द्वारा नित्यनूतन जगत् का निर्माण करता है। कवि की अलोकसामान्य अभिव्यक्ति की मूल है- प्रतिभा। प्रतिभा के विमान पर आरुढ़ होकर कवि ऐसे लोको की लम्बी उड़ान लेता है, जहां साधारणजन की बुद्धि प्रवेश भी नही पाती। प्रतिभा आर्षचक्षु है, जिससे साधारणजन के लिए अगम्य स्थानो मे भी कवि पहुँच जाता है। अदृश्य वस्तुओ का सद्यः साक्षात्कार करता है। कवि अपनी प्रतिभा के कारण ही निरवच्छिन्नरूप से काव्यधारा बहाने मे समर्थ होता है। काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने काव्यधारा के उद्गमस्थल मे प्रतिभा को भिन्न-भिन्न प्रकार से

---

१ लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य।
शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम् ।
- मम्मट-काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति

लोकोविद्या प्रकीर्णश्च काव्याङ्गानि। -वामन-काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १/३/१

लोकवृत्तं लोक:। लोकः स्थावरजङ्गमात्मा च। तस्य वर्तनं वृत्तम् इति। -वही १/३/१ वृत्ति

उद्घाटित किया है। त्रिक दर्शन के ३६ तत्त्वो मे मूर्धन्य तत्त्व है- परमशिव तत्त्व। परमशिव के हृदय मे विश्वसिसृक्षा के उदय होते ही उसके दो रूप हो जाते है- शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है तथा शक्ति विमर्शरूपिणी। विमर्श का अर्थ है- पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह सृष्टिकाल मे विश्वाकार रहती है।[१] विमर्श के द्वारा ही प्रकाश का अनुभव होता है। प्रकाश की स्थिति बिना विमर्श के सम्भव हो ही नही सकती। चिद्रूप परन्तु अचेतन शिव मे सृष्टिकार्य ज्ञानशक्ति कराती है। प्रतिभा इसी शक्ति की अपर संज्ञा है। शिव की यह पराशक्ति शिव मे ही सतत् विश्राम करती है। अपनी उन्मीलनक्रिया के द्वारा विश्व को उन्मीलित करती है।[२] परा-प्रतिभा ही कवि-प्रतिभा है। प्रतिभा को उन्मीलन शक्ति के द्वारा कवि के समक्ष समग्र विश्व उन्मीलित हो जाता है। कवि का हृदय ही प्रतिभा का आयतन रहता है।[३] प्रजापति प्रतिभाशक्ति से ही नानाविध जगत् की रचना मे समर्थ होता है। उसी प्रकार कवि भी प्रतिभारूपी वाग्देवी की अनुकम्पा से काव्यजगत् की सृष्टि करता है। जिस प्रकार प्राकृतिक पदार्थ ईश्वर के विचार के प्रतीक होते है उसी प्रकार काव्य-सृष्टि कवि के विचार की प्रतिनिधि होती है। कवि दैवी अन्तःस्फुरणा से समन्वित होकर अपने सामाजिक वातावरण से ऊपर उठकर विश्वात्मा से ऐक्य स्थापित कर लेता है। उस समय उसकी दृष्टि भूत, वर्तमान, भविष्य मे व्याप्त हो जाती है और वह त्रिकालज्ञ होकर संसार के

---

१ विमर्शोनाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन। - पराप्रवेशिका पृ० २

२ यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षण्यात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवम् ॥
- ध्वन्यालोकलोचन प्रथम उद्योत, अन्तिम श्लोक

३ कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थित विचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितगत।
- अभिनवभारती अध्याय १ वृत्ति

निरीमूर्खता है। यदि वनस्पति शास्त्री से गुलाब की व्याख्या पूछी जाय तो वह इसका नाम, उगने का कारण, अंग-प्रत्यंग, पत्ते एवं पंखुड़ियो तथा उगने की जलवायु का विश्लेषणात्मक ज्ञान देगा। यही वस्तु का स्वरूप-निबन्धात्मक रूप है, परन्तु कवि की दृष्टि मे गुलाब का प्रतिभान कुछ इस प्रकार होता है "वह भीनी-भीनी सुगन्ध फैलाने वाले, मधुकरो की भीड़ अपनी ओर आकृष्ट करने वाले, चटकीले रंग से रञ्जित जनमनरञ्जन के प्रधान हेतु पुष्पराज का एक चमकीला चित्र ललितोचितचारु शब्दो के माध्यम से प्रस्तुत करता है।'[१] आधुनिक जगत् के मान्य मनोवैज्ञानिक युग ने भी कवि के इस प्रतिभान पर अपनी मुहर लगायी है।

कवि की दृष्टि प्रपञ्चात्मक जगत् के किसी घटना या वस्तुमात्र का दर्शन नही करती, अपितु उसके ऊपर कालिक तथा दैशिक आवरण को भंगकर उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाती है। व्यक्ति विशेष की घटना के भीतर जाति या समाज के रूप का साक्षात्कार करती है। उसकी प्रतिभा से घटना, व्यक्ति, वस्तु अपनी वैयक्तिकता से विरहित होकर निर्वैयक्तिक (सार्वजनीन) रूप से झलक उठती है। "कालिदास की शकुन्तला किसी देश विशिष्ट की विशिष्टनायिका न होकर सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक सौन्दर्य की प्रतिमा है। 'शाकुन्तलम् ' नाटक प्रेम तथा धर्म के स्वार्थ तथा परमार्थ के विषम संघर्ष की मञ्जुल कहानी है। मनुष्य का स्वार्थ तब तक उपहास तथा तिरस्कार का पात्र बनता है जब तक वह तपस्या की अग्नि मे संतप्त होकर

---

१ Activ phalosies are called fourth by intution by an attitude directed to the preception of unconscious contents in which libido immidiately invests all the elements emerging from the unconscious and by means of ass ociation with paralel material bring them to difinition and Plastio form (psychological Type) p-574

खरे परमार्थ के रूप मे नहीं चमक उठता। इसी स्वार्थ तथा परमार्थ, काम तथा प्रेम, नरक तथा स्वर्ग के मंगलमय समन्वय की कलात्मक अभिव्यक्ति है हमारे कविकुलगुरु की अनुपम कृति 'शाकुन्तलम् '। इसी विश्वजनीनसृष्टि के कारण कालिदासीय प्रतिभा की भव्यझांकी विश्वसाहित्य मे अपूर्व है।''[१] अतः संस्कृत अलंकारशास्त्र के अनुसार मोटेरूप मे हम कह सकते है कि काव्य बाह्यजगत् एवं लोकजीवन पर ही आधारित है। काव्यगत अनुभूतियो का मूल उत्स जीवन की अनन्त एवं विचित्र अनुभूतियाँ ही है। जगत् के नाना वस्तुव्यापार ही काव्य मे प्रतिफलित होते है। राजशेखर के मत मे कवियो के मतिदर्पण मे विश्व प्रतिफलित होता है।[२] भरत के **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं' 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यं,'** भामह के **'उक्तं लोकस्वभावेन तत्रलोकाश्रयं काव्यम्** आदि कथन लोक और काव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के सूचक है, परन्तु संस्कृत काव्यचिन्तको ने काव्य और लोक दोनो के सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए दानो मे प्रभूत अन्तर स्वीकार किया है। कवि बाह्यजगत् का अनुकर्तामात्र नहीं, वह एक स्वतन्त्र स्रष्टा या विधाता है। उसकी सृष्टि लोकपर आधारित होकर भी एक अपूर्वसृष्टि है। इस अपूर्वता को आचार्यो ने कही 'वक्रोक्ति,' कही 'अतिशयोक्ति,' कहीं 'नवनवोन्मेष' तथा 'नवनवोल्लेख' के रूप मे प्रस्तुत किया, जो वस्तुतः कविप्रतिभा की देन है। कवि की प्रतिभा उसकी नितनवीन दृष्टि का ही एक रूप है, जो इस जगत् को नित्यनूतनवैचित्र्य से सूत्रित कर देती है। यह लोकवार्ता मे पतित बोधमात्र नही है, अपितु हम इसे कवि की दिव्य-दृष्टि कह सकते है। कविप्रतिभा केवल वस्तुजगत् मे ही अपूर्वता और वैचित्र्य की सृष्टि नही करती, वह उसकी वाणी मे भी नित्यनवीन उन्मेषो को भी जन्म देती है। आनन्दवर्धन के अनुसार ''प्रिया के हावभावों के समान सुकवियो की वाणी की न तो कोई अवधि है और न

---

१ बलदेव उपाध्याय- भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ५१३-१४

२ मतिदर्पणे कवीनां विश्वंप्रतिफलति। -काव्यमीमांसा, अध्याय १२

उसमे पुनरूक्ति ही होती है।[१] कविवाणी जिसके विषयो की कोई इयत्ता नही है। वस्तुओ को हमारे हृदय मे सर्वथा एक नूतनरूप मे निवेशित करती है।[२]'' आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि या व्यञ्जना ही एक मार्ग है, जो कवि की प्रतिभा के गुणो को अनन्त बना देती है। जिससे प्राचीन कवियो द्वारा दृष्टपूर्व विषय भी उसी प्रकार नूतन छूटा धारण कर लेते है जैसे मधुमास मे वृक्ष। रस स्पर्शमणि होता है जिस किसी को स्पर्श करेगा वह सारा नवसुवर्ण बन जायेगा।[३]

अतः यह परीक्षित सत्य है कि कविसृष्टि के मूल मे लोक और शास्त्र ही निवास करता है, परन्तु वह लोक का यथावत् अनुकरण नही। काव्यकला सभी कलाओ मे सर्वाधिक· नूर्ण और सम्पन्न है। कला मे अनुकरण का कुछ अंश अवश्य हुआ करता है। काव्य मे भी किसी न किसी परिमाण मे अनुकरण का समावेश रहता है, किन्तु अनुकरण काव्यकला का सर्वस्व नही। कला का आरम्भ अनुकृति से नही कृति से होता है। जिसे हम अनुकृति समझते है वह भी वस्तुत· कृति का ही एक रूप है। जिसे कला मे अनुकृति कहा जाता है वह वस्तुत· इन रूपो का संकेत करने वाले रूपो का विधान है। यह विधान अनुकरण नही सर्जन है, अतः ब्राह्मीसृष्टि की अनुकृति भी एक नवीनसृष्टि है। कवि अपनी सृष्टि की सामग्री समस्त विश्व से ग्रहण करता

---

१ न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरूक्ता·।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ।।
- ध्वन्यालोक ४/७ वृत्ति मे उद्धृत श्लोक

२ अतथास्थितानपि तथासस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी।।
- ध्वन्यालोक ४/३ वृत्ति मे उद्धृत श्लोक

३ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था· काव्ये रसपरिग्रहात।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा·।। - ध्वन्यालोक ४/४

है और अपनी शक्ति के प्रभाव से उसमे नानाप्रकार का वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। कोई वस्तु कितनी भी नीरस क्यो न हो, रस तात्पर्य वाले कवि के हाथ लगते ही उसमे विलक्षण परिवर्तन हो जाता है। वह विचित्र रूप से आकर्षक बन जाती है। तब प्रतिक्षण नित्यनूतन रूप धारण करने वाले, नानावस्थासंवलित वैषम्यमण्डित जगत् के पदार्थपुञ्ज के अन्तर्निहित तथ्य के उद्घाटन मे समर्थ कवि अपनी कल्पना के सहारे उसकी भावमयी व्याख्या करता है। कवि की कल्पना का सम्बल प्राप्तकर वस्तुतत्त्व अत्यधिक कमनीय बन जाता है। काव्य मे शब्दायित बह्मसृष्टि कल्पनारञ्जित ही रहती है। वह स्वरूपतः कभी पुरातन नही होती। वह देश, काल, तथा व्यक्ति के अनुरूप नित्य-नूतन परिवेश धारण करती है। कलाकार की सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के लोकसुलभव्यवहार मे कोई मौलिक भेद नही। कलाकार की आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति काल्पनिक समात्मभाव के रूप मे होती है। इस प्रकार काव्य जीवन की वाणी है। जीवन के तत्त्वो से ही उसके रूप का विधान होता है। "विश्व का काव्य शक्ति की महाकला का अद्भुत सौन्दर्य है। कवि की सृष्टि भी कवि की शक्ति साधना का फल है। सत्त्व का उत्कर्ष शक्ति का ही अभ्युदय है। कवि की समर्थ चेतना की विभूति ही काव्य बनकर विलसित होती है। जीवन की उष्मा से विद्रवित सत्त्व का हिमालय मानस-मार्ग से काव्य की भागीरथी के रूप मे प्रवाहित होता है।"[१]

कविसृष्टि के सन्दर्भ मे यह एक विचारणीय प्रश्न है कि पुरातन काल से अनेक कविगण काव्यरचना करते आये है। पूर्वसूरियो ने जो कुछ कहा है उसी का संस्कार करके उक्ति-वैचित्र्य के साथ नूतन बनाकर कहना ही तो आगे आने वाले कवियो का कार्य है, नयी वस्तु और क्या है? योगियो की भाँति कवि लोग कालभय की संगतियो का साक्षात्कार नही करते तो क्या

---

१ सत्यं शिवं सुन्दरम् - भाग प्रथम पृ० ९७

करते है? वे अपनी अनुभूति के सुख-दु:ख और अनेक निमित्त सामग्रियो को कथापात्रो मे आरोपित करके काव्यरचना करते है। ये अनुभूतियां मानव-जाति के लिए सामान्य है और परिमित होती है। पुरातन कवियो ने पहले ही अपनी रचनाओ मे इनका निरूपण कर रखा है। उत्तरवर्ती कवि लोग जो कहते है, वह एक भ्रममात्र है, उनकी सारी साधना एकमात्र उक्तिवैचित्र्य है।

इसका उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन का कहना है कि ऐसा नहीं, क्योकि यदि कहा जाय की कवि लोग अनुभूतिसामान्य का ही निरूपण करते है तो प्राचीन कवियो मे ऐसी कौन सी अतिशयता है, जो मानव के लिए साधारण हो, उसे छोड़कर वे और कुछ नही कह सकते? फिर तो आदिकवि वाल्मीकि को छोड़कर कवि की 'संज्ञा' अन्वित होती ही नही, क्योकि जिसे आप सामान्य कहते है वह सब वाल्मीकि के काव्य मे पहले ही आ चुका है। वाल्मीकि के पश्चात् ही प्राचीनकाल मे कितने कवियो ने जन्म लिया, आप कह सकते है कि वे सभी उक्तिवैचित्र्य के बल पर कवि बने। तब यह उक्ति वैचित्र्य क्या है? उक्ति का अर्थ है- विशिष्ट अर्थयुक्त कथन। यदि कथन मे विचित्रता हो तो नियमतः उसके अर्थ मे विचित्रता होनी ही चाहिए। अतः उक्तिवैचित्र्य ण्वं नवनवोन्मेष कवि सृष्टि का विचित्रतत्त्व है, क्योकि एक-एक अर्थ सैकड़ो प्रकार का बन जायेगा। इस बात को मानने पर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उक्तिवैचित्र्य से ही काव्यार्थ अनन्त बन सकता है, किन्तु आक्षेप के लिए आनन्दवर्धन का उत्तर यही समाप्त नही होता, क्योकि काव्य मे उक्ति की बात तो अलग रही उसकी वस्तु का भी अन्त कहॉ? 'देशभेद, काल भेद आदि से युक्त वस्तुस्वभाव को रसभाव के साथ संजोकर औचित्य के अनुरूप अन्वित करके यदि हजारो बृहस्पति भी प्रयत्नपूर्वक काव्यवस्तु के रूप मे अंगीकार कर ले तो क्या वस्तुगति समाप्त हो जायेगी? क्या वह

जगत् की प्रकृति की भॉति नित्य नयेरूप मे विद्यमान नही रहेगी?[१]" आनन्दवर्धन के समर्थन मे वाक्पति की धीरोक्ति भी कुछ ऐसा ही कह रही है "उदारकवियो ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रतिदिन वाणी के परिस्पन्द का सत्त्व चूसा, फिर भी वह आज तक भी इतनी सुरक्षित है कि उसकी मुद्रा टूटी तक नही।[२] इसीलिए तो कवियो की महनीय परम्परा को देखकर नीलकण्ठ कवि हताश नही होते। उनका कहना है कि यदि एक भी कवि की रचना मै देखता हूॅ तो मुझे सरस्वती का खजाना खाली जान पड़ता है, परन्तु सरस्वती के मन्दिर मे प्रवेश करने पर यही जान पड़ता है कि कविकोटि इसके एक कोने मे ही पड़ी हुई है। मन्दिर का पूरा ऑगन नवीन कवियो के उपयोग के लिए अभी खाली पड़ा हुआ है। अतः प्रतिभाशाली कवि के लिए विषय की न तो कभी कमी हो सकती है और न कल्पना का ह्रास। संसार मे कल्पान्तरो से ही विविध विचित्र वस्तु परम्पराओ का नूतनोन्मेष होता रहा है। फिर भी कोई कह नही सकता कि नूतन वस्तुगति किसी काष्ठा पर पहुॅच कर रुकेगी। अगणित कवियो द्वारा काव्य-सृष्टि होते आने पर भी क्या कहा जा सकता है कि अर्थ सम्पत्ति यहां समाप्त हो गयी? प्रतिभा का संसार यहां रूक गया? शारदा का यह विशाल मन्दिर कवियो के लिए सावकाश बना हुआ है। अतः इस सन्दर्भ मे इतना ही कहा जा सकता है कि मेधावियो की बुद्धियॉ परस्पर मेल खाती

---

१ रसभावादिसंबद्धा यदौचित्यानुसारिणी
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदनी।।
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव।। -ध्वन्यालोक ४/९-१०

२ आसंसारमुदारै कविभिः प्रतिदिनगृहीत सारोऽपि।
अद्यापिभिन्नमुद्रो विभाति वाचा परिस्पन्दः।।
-वाक्पतिराज-गउडबहो प्राकृतकाव्य-८७ का पद्य

है।[१] ऐसे प्रसंगो मे यो कहने का अवकाश ही नही रहती कि एक के अभिप्राय की दूसरे ने चोरी की। अन्यत्र दिखायी पड़ने वाली समानताओ को आनन्दवर्धन ने 'प्रतिबिम्बकल्प' 'आलेख्यप्रख्य' और 'समानकल्प' नामक तीन विभागो मे विभक्त किया है। यहां हरण का प्रश्न ही नही उठना चाहिए और फिर **'वाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'** जैसी प्रसंशा के पात्र बनकर कवि बनने वाले भाग्यशाली बहुत विरले ही होते है। दुनियां मे कौन ऐसा कवि है जो अपने पूर्वजो का ऋणी नही? तमिलकवि रन्न ने पम्प के काव्यभाग के स्तम्भो पर अपना कृतिमन्दिर खड़ा किया, पम्प ने कालिदास, भारवि, माघ, भट्टनारायण से प्रचुर सहायता ली। कालिदास भी कही-कही अश्वघोष का अनुसरण करते है। अश्वघोष के काव्य मे कही-कही वाल्मीकिरामायण की छाया दृष्टिगोचर होती है। इस परम्परा का अन्त कहां? इसीलिए तो राजशेखर की सम्मति मे 'चोरी न करने वाला कोई कवि नही, चोरी न करने वाला कोई' वणिक नही। जो छिपाना जानते है वे बातो मे न फॅस कर सुखी होते है। दूसरो की रचनाओ से वस्तुतत्त्व को लेकर अपनी प्रतिभा व्यापार से उसमे नयी चमक भर देना नवीन काव्य-सृष्टि है।[२]

कवित्वबीजरूपा प्रतिभा किन मौलिक उपादानो को ग्रहण कर नूतन रचना मे प्रवृत्त होती है? क्या यह असत् पदार्थ से सत् पदार्थ का सर्जन करती है? अथवा सत् पदार्थ से सत् पदार्थ का सर्जन करती है कविसृष्टि के सन्दर्भ मे यह एक विचारणीय प्रश्न है?

मेरे विचार मे असत् से सत् की सृष्टि तो कथमपि तर्कसंगत नही है। हमारा दार्शनिकचिन्तन भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि "'जो सत् है उसका

---

१ संवादिन्यो मेधाविनां बुद्धय - ध्वन्यालोक ४११ वृत्ति

२ नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जन।
स नन्दति बिना वाच्य यो जानातिं निगूहितुम् ।। - काव्यमीमासा अध्याय ११

कभी अभाव नही और जो असत् है उसकी सत्ता नही होती है।'[१] क्योकि प्रतिभा उन्ही इन्द्रियजन्य के आधार पर नवीनसृष्टि करती है, जिनका सम्बन्ध बाह्यजगत् से होता है, जिनका आनयन हमारी इन्द्रियां किया करती है। कवि शून्य से चित्रो का निर्माण नही करता प्रत्युत विद्यमान पदार्थो से अपनी सामग्री एकत्रित कर नवीन वस्तुओ की रचना मे समर्थ होता है। काव्य-सृष्टि मे कवि-प्रतिभा का ही चरमोत्कर्ष रहता है, जो उक्तिवैचित्र्य के माध्यम से नूतनता प्राप्त कर सहृदय को आनन्द से विभोर कर देती है। अत समस्त काव्यशोभाधायक अंगो का कविकौशल ही जीवित है तथापि अलङ्कारो का तो प्रधानरूप से यह जीवित है।[२] काव्य मे जिन पदार्थो के स्वरूप का वर्णन कवि करता है वे असद्रूप नही होते। जगत् मे वे सत्ता मात्र से परिस्फुरित होते है। कवि अपनी प्रतिभा के सहारे उनमे अनिर्वचनीय आतिशय उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण कविसृष्टि मे सहृदयहृदयहारिणी रमणीयता का उदय हो जाता है। कवि पदार्थो के मूलरूप को ढक देता है और उसमे चारुत्व भरकर नवीनवर्णन कर देता है अर्थात् कवि पदार्थ के स्वरूप का निर्माण नही करता प्रत्युत प्रतिभाशक्ति के बल पर आतिशय का निर्माण करता है। यह आतिशयविधान ही प्रतिभा का मुख्य कार्य है,[३] जिसके कारण चिरपरिचित पुरातनवस्तु भी नवीन तथा अपूर्वरूप मे उद्भासित होती है। किसी अचार्य ने ठीक ही कहा है-

त एव पदविन्यासास्त एवार्थविभूतयः।

तथापि नव्यं काव्यं ग्रथन कौशलात् ।।

---

[१] नासतो विधते भावो नाभावो विधते सत।

- गीता २/१६ काव्यमीमासा अध्याय-८

[२] यद्यपि रसभावालकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवित, तथापि अलकाररस्य विशेषतः तदनुग्रहं बिना न मनागपि वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे। वक्रोक्तिजीवित-उन्मेष

[३] प्रस्तुतातिशय विधानमन्तरेण न किञ्चिद्पूर्णमत्रास्ति। -वक्रोक्तिजीवि पृ० १४३

अर्थात् पदो के विन्यास वे ही होते है, अर्थ की विभूतियां वे ही है तथापि ग्रथन की कुशलता से काव्य नवीन होता है। यह नवीनता ही काव्य मे रमणीयता का आधान कराती है जो सहृदयो के आह्लादन का प्राणतत्त्व है। काव्य के प्रत्येक पद मे विद्यमान नवीनता ही रमणीयता है।[१]

कविसृष्टि कविचेतना की रचनात्मक क्रिया का उत्तमरूप है। कल्पना चेतना की विधायक शक्ति है। भारतीय काव्यशास्त्र मे कल्पना को प्रतिभा का गुण कहा गया है। प्रतिभा को 'अपूर्ववस्तु का निर्माण करने वाली प्रज्ञा' अथवा 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा गया है जो पाश्चात्य साहित्यालोचन मे प्रतिपादित सर्जनात्मक कल्पना (Creative Imgination) तथा उद्भावक शक्ति (Inventive faculty) के समकक्ष है। भारतीय साहित्य कोष कल्पना मानसिक विधान होते हुए भी मनोरथ मात्र नही है। कल्पना के मानसिक विधान का उपादान और आधार वही रहता है जिसे हम वस्तुगत सत्य कहते है। कल्पना कोई निराधार क्रिया नही है, उसकी गति शून्य मे नही होती। वस्तुगत सत्य की अवगति के आधार पर ही कल्पना नवीन रूपो की रचना करती है। अन्तर केवल इतना है कि जहां सत्य को एक निरपेक्षसत्ता कहना उचित होगा वही कल्पना एक मनःसापेक्ष क्रिया है। आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन दोनो यह स्वीकार करते है कि हमारी वस्तुओ की अवगति मे कल्पना की रचनात्मक क्रिया का योगदान होता है, जिसे हम प्रत्यक्ष मानते हैं उसमे भी रचनात्मक क्रिया का सम्पुट है। अतः एक ओर सत्य जहां कल्पना की रचनाओ का उपादान है वही दूसरी ओर वस्तुगत सत्यो की अवगति मे भी कल्पना की रचनात्मक क्रिया का अन्तर्भाव है। कल्पना के अप्रस्तुत विधान कल्पना-प्रवण कवियो, कलाकारो मे सत्य के

---

[१] क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। -माघ-शिशुपालवधम-४
रमणीयता च लोकोतपह्लादजनकज्ञानगोचरता- रसगगाधर १/१ वृत्ति

समान ही विशद होते है। कवि अप्रस्तुत का द्रष्टा है। शंकराचार्य ने **'कवि पुराणम् अनुशासितारम्'** तथा **'कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** के प्रसंग मे द्रष्टा के रूप मे कवि को बताया है। अस्तु सर्जनात्मकता कल्पना का मुख्य रूप है। सृष्टि के समस्त विधान इसी के फल है। कल्पना का अर्थ रचना है। सृष्टि चराचर विधाता का कल्प है। इसीलिए कल्प सृष्टि की स्थिति का कल्प है कवि द्रष्टा के साथ स्रष्टा भी है। काव्य उसकी सृष्टि है। इसीलिए उपनिषदो मे ब्रह्म को कवि और वेदो मे सृष्टि को विधाता का काव्य कहा गया है।[१] अतः मन की रचनात्मकक्रिया कल्पना के माध्यम से कवि स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओ का यथाकाम स्वरूप उपस्थित कर देता है। कवि समाज का चित्रकार ही नही उसका निर्माणकर्ता भी है। आदर्श, कवि-कल्पना की विधायकभावना की सृष्टि है। समाज की निर्माणमुखी प्रेरणाओ को आधार देने के लिए वह अतीत और वर्तमान के यथार्थ की भूमिका मे समाज के सुन्दर भविष्य का निर्माण करता है।

कवि की सृष्टि मे सत्य की सौन्दर्यमय आनन्दानुभूति का शब्दावतरण होता है। सत्य विराट और अनन्त है। उसकी अनभूति की नाना भावभूमियां है, तथा उसकी अभिव्यक्ति के विविध माध्यम है। कवि की सर्जनात्मक चेतना सत्य का ग्रहण करके उसे अपनी सौन्दर्यत्मकदृष्टि और रागात्मकवृत्ति से अनुरञ्जित करती है और अपनी कल्पना-विधायिनी सहजशक्ति द्वारा रमणीय शब्दसृष्टि के रूप मे प्रस्तुत करती है। काव्यस्रष्टा की व्यापक मनोभूमि पर एक-एक वर्ण अखण्ड संगीत से भरपूर और एक-एक वर्ण उदात्त आलोक से चिन्मय हो उठता है। नित्यनूतन भावोन्मेष एवं निर्माण सक्षम कविप्रतिभा का संस्पर्श प्राप्त कर जीवन और जगत् का समस्त सत्य एक व्यापक सौन्दर्यबोध से समन्वित होकर जनमानस को आनन्दविभोर कर देता है। सारी कलाएं और

---

१ कवयः सन्ति वेधसः। -ऋग्वेद ५/५२/१३

सारे शिल्प इसी रागमयी सौन्दर्यदृष्टि एवं आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति के विविध रूप है। कविसृष्टि का मूल वैशिष्ट्य उसकी सूक्ष्म ग्रहणशीलता तथा शब्दमय कल्पनाविधान मे निहित है।

कवि-सत्य को समग्रता और गहराई के साथ देखता है। अनुभूति के नानारूपात्मक जगत् के भीतर प्रवेश करके अपनी रागात्मिकावृत्ति के सहारे उसका सर्वाशेन उपभोग करता है। सौन्दर्य को उसके विविध परिवेशो और आवरणो की बहुरंगी भंगिमाओ के आकर्षण के साथ धारण करता है और कल्पना के अनन्त महाकाश के असीम रहस्यमय एवं अपरिचित भावालोक के असंख्य रमणीक बिम्बस्रोतो मे विहार करता है। जगद्गत वस्तुसत्यो को बिम्बरूप मे ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता कवि की निजी निधि है, जो हमारे लिए चिरपरिचित प्रकृतिगत सत्य को नित्यनूतन रागबोध के आकर्षण से भरपूर करती है। वह सत्य को अपनी चक्षु के अद्भुत सौन्दर्यदृष्टि से अनुरञ्जित करता है और एक विचित्र आह्लादकारी भावबिम्ब ग्रहण करता है। कवि की यही विशिष्टदृष्टि अपनी कल्पनाविधायिनी क्षमता के बल पर नव सर्जना में समर्थ होती है।

अतः कविसृष्टि की अपूर्वता से अह्लादित रसिकजन उसकी भूरि-भूरि प्रसंशा करते है, परन्तु कुछ की दृष्टि मे वह दोष बन जाता है। कुछ का कहना है कि काव्य असत्यार्थ का अभिधान करता है। वह उन अर्थो तथा वस्तुओ के वर्णन मे संलग्न रहता है, जिनका वास्तविक जगत् मे कथमपि सद्भाव नही होता। 'काव्यालापांश्चवर्जयेत्' जैसी निष्ठुर उक्तियां काव्य को जगत् से निष्कासित करने का प्रयास रही है। काव्य क्यो न कहे? क्यो न सुने? इस प्रश्न के उत्तर मे राजशेखर ने तीन कारणो का उल्लेख किया है। (१) काव्य झूठ बोलता है (२) वह बुरा बोध कराता है (३) अश्लील वर्णन करता है। ये सारी बाते यदि सत् है तो काव्य का उच्चाटन करना ही उचित

है, परन्तु ठीक से विचार करने पर यह आरोप टिकता नही। काव्य मे वर्णित वस्तुओ की अपनी एक विशिष्टसत्ता होती है। वे उसी प्रकार उपादेय तथा प्रामाणिक है जिस प्रकार बाह्यजगत् का वस्तुसत्य।

किसी पदार्थ की अतिशयता के लिए वस्तुस्थिति की रेखा का अतिक्रमण कर वर्णन करना कवियो की पद्धति होती है। काव्यवस्तु कवि की निजी अनुभूतियो पर प्रकटित वस्तु की रसात्मक प्रतीति होती है। अत काव्य मे कोई भी वस्तु असत्य नही होती है। जो सत्याभास के समान प्रतीत होता है वह वस्तुतः सत्य ही है। जो किसी विशिष्ट-वस्तु की स्थिति के लिए प्रकट किया जाता है वह केवल कवि-कर्म मे ही विद्यमान नही रहता, प्रत्युत वेद मे शास्त्र मे तथा लोक मे भी दृष्टिगोचर होता है।[१] अर्थात् काव्य मे प्रसंशादि के अर्थ मे प्रयुक्त अतिशयोक्तियां अनर्गल नही है, अपितु वे केवल अर्थवाद-वस्तुस्थिति का अत्युक्तिपूर्ण कथन है। यह अत्युक्ति काव्य मे ही नही वेद और शास्त्र मे भी इनका सद्भाव है।

यदि शास्त्र वस्तुस्थिति का बोध कराता है तो काव्य मे हमे जो कुछ मिलता है वह सब दिखावा या प्रतिभास होता है। अत कुछ लोगो का तर्क है कि काव्य अविचारित रमणीय है। भीतर बैठकर देखने मे उसमे कोई तत्त्व नही मिलेगा?

किन्तु ठीक से विचार करने पर यह आरोप भी नही टिकता है। कवि आंखो मे सत्य को देखने की ज्योति नही वरन् वह मुँहफेर कर केवल प्रतिभास को अपनाता है यह भी उचित नही है। वस्तुत शास्त्र के लिए जो द्वार खुला नही वह काव्य के लिए खुला है। भावों मे आकण्ठ डूबकर कवि

---

१ नासत्यमस्ति किञ्चन् काव्ये स्तुत्येष्वर्थवाद।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके।।
-राजशेखर, काव्य मीमांसा अध्याय-६

जब विश्व का ध्यान करने लगता है तो शास्त्र की पहुँच के बाहर के कितने ही सत्य उसे दृष्टिगोचर होते है। अतः कविसृष्टि को वाग्जाल मानकर उसका यदि तिरस्कार किया जायेगा तो शास्त्रकारो की दुनियॉ को भी तिरस्कृत करना पड़ेगा। अतः कवि यदि सत्य का एक पक्ष उजागर करता है तो शास्त्रकार दूसरा। किसी एक के द्वारा पूर्ण सत्य का निरूपण हो पाना असंभव है। अभिनव गुप्त कहते है कि- **"नहि एक दृष्टया सम्यङ् निर्वणनं मपति।"** आलोचको के द्वारा काव्याचार्यो पर द्वितीय आरोप-काव्य अशोभन, नीतिमत्ता से विरहित वस्तु का उपदेश करता है, समीचीन नही जान पड़ता, क्योकि काव्य पढ़कर हम अनेक अज्ञात तत्थो के अवबोध मे समर्थ होते है। यदि कवि चापलूस दरबारियो से से घिरे रंगीले राजा का वर्णन न करे तो राजदरबार के छिछले जीवन का परिचय हमे कहॉ से प्राप्त हो। शोभन तथा अशोभन वस्तुओ की दीर्घ परम्परा ही संसार की संज्ञा है। यदि कवि शोभन वस्तुओ के ही चित्रण मे व्यस्त हो तो अशोभन का परिचय हमे कहां प्राप्त होगा? काव्य मे अशोभन वस्तु की झॉकी रहती तो अवश्य है परन्तु यह उपदेश निषेधात्मक है, विधेयात्मक नही।[१] कल्पित कथानको मे तो कवि-प्रतिभा का एकाधिपत्य होता है। महाकवि की वाणी द्वारा कल्पित अर्थ लोक मे न रहने पर भी जब हमारे हृदय को छूते है तब ऐसी अनुभूति होती है कि वे वस्तु-जगत् मे ऐसे ही हैं। अर्थात् कविसृष्टि की सम्भावना के विषय मे हमारी हृदयानुभूति ही कसौटी है। काव्य मे जो कुछ कहा गया उसकी पद-पद पर लोक मे प्राप्त वस्तुओ के साथ तुलना करके परीक्षा नही की जाती प्रत्युत अखण्डरूप मे ग्रहण करके आस्वादन किया जाता है। अतः यहां पर सम्भाव्यता ही प्रधान है, उसके नष्ट होने से तो सम्पूर्ण काव्य ही नष्ट हो जाता है। कवि-प्रतिभा नामक चमत्कारी तूलिका जिस रंग-बिरंगी दुनिया की

---

१ अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन यायावरीयः।

-काव्यमीमासा अध्याय-६

कल्पना करती है वह बुद्बुद् की भाँति टूट जाती है। सहसा रस की धारा कट जाती है। इसीलिए रसास्वाद के लिए सम्भवनीय विघ्नो की चर्चा करते समय अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम 'सम्भावनाविरह'[१] की गणना की है।

सम्भाव्यता प्रत्येक प्रसंग मे एक विशेष प्रकार की होती है। हर पात्र के स्वम्भाव और महत्त्व के अनुसार कवि को उसके उचित स्वभाव व चरित्र का चित्रण करना पड़ता है। कवि वर्णन कर सकता है कि राम ने समुद्र पर सेतु बाँधा। पुराणप्रसिद्ध होने के कारण यह हमे सम्भाव्य लगता है। यही कार्य यदि किसी साधारण राजा पर आरोपित करेगे तो हास्यास्पद होगा। अतः काव्य को लोकस्थिति की अनुकृति मात्र बनाने की आवश्यकता नही, किन्तु वह लोक स्थिति की सीमा को पार करके बहुत दूर भी न जाने पाये यही सम्भाव्यता का मर्म है। कितनी दूर जाय इस निर्णय का कोई एक सूत्र नही है, परन्तु इस सन्दर्भ मे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वह उतनी दूर जाय जहां तक सहृदयो की रसानुभूति अपने अस्तित्व मे बनी रहे। काव्य-सौन्दर्य के लिए अतिशयोक्ति एक प्रधान मार्ग है कि यदि वह अत्युक्ति बन जायेगी तो उसे कुछ प्रौढ़ व्यक्ति ही पसन्द करेगे। दण्डी इस सन्दर्भ मे सम्मति व्यक्त करते है कि " लोक-परिस्थिति की सीमा के भीतर कहना कान्तगुण है। यह सभी के लिए मनोहर है। वृतान्तो के कथन और वर्णनो मे इसे देखा जा सकता है। दण्डी का तात्पर्य यह नही कि ज्यो का त्यो अनुकरण किया जाय किन्तु उनकी राय है कि कवि-कल्पना के आरोहण के लिए कोई सीमा होनी चाहिए।[२] सौन्दर्य की सिद्धि के लिए कवि को लोक की

---

१ अभिनव भारती प्रथम-भाग, पृ० २८०

२ कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थनतिक्रमात् ।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।।
लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यंति विदग्धा नेतरेजनाः।। -काव्यादर्श १/८५-८६

सीमा पार करके ही जाना पड़े यह आवश्यक नही। ठीकढंग से ऑखे खोलने पर उसके समक्ष सौन्दर्य नाच उठता है। किसी वस्तु का यथावत चित्रण करने पर भी वह काव्य बन सकता है। इस सन्दर्भ मे 'स्वभावोक्ति' विचारणीय है। स्वभावोक्ति काव्यशास्त्रीय आचार्यो मे विवाद का विषय रहा। भामह के मत मे स्वभावोक्ति के लिए काव्य मे स्थान ही नही, परन्तु दण्डी ने इसे अपनी पूर्ण सहमति प्रदान की। दण्डी की ही बात चल पायी। स्वभावोक्ति मे प्राण प्रतिष्ठापना के लिए महिमभट्ट ने अपने प्रतिभातत्त्व का निरूपण किया।

कवि की ऑखे वस्तु के कुछ सूक्ष्मांशो को चुन लेती है, और उसकी वाणी उसमे कुछ नवीनकल्पना जोड़े बिना जैसी दिखाई पड़ती है वैसी ही निरूपित करती है।[१] यही स्वभावोक्ति है। काव्य मे इसका अतिशय स्थान है। कवि के समक्ष सर्वत्र ही प्रत्येक वस्तु मे क्षुद्रतम पुष्प से लेकर उन्नततम आकाश मे सौन्दर्य झलकता रहता है। कवि प्रतिभासम्पन्न नेत्र से उस सौन्दर्य को देखता है, परखता है, और अपने काव्य मे निबद्ध करता है। अलंकार के चमत्कार से विहीन भी यह स्वभाविक वर्णन अधिक चमत्कार जनक तथा हृदयावर्जक होता है। आचार्य कुन्तक ने भी इसे अपनी सम्मति प्रदान की है।[२] पदार्थ के स्वभाव की प्रधानना आहार्यकौशल को अलंकार से सज्जित करने की कला को दूर भगा देती है। इसीलिए प्राचीन आलंकारिको ने स्वाभावोक्ति को काव्य के भूषण रूप मे अंगीकार किया। जिसमे कवि अपनी तरफ से कुछ भी जोड़ता नहीं, वह वस्तु को उसी रूप मे अङ्कित करता है जिस रूप मे वह होती है। त्रिविध ध्वनि (वस्तु, अलंकार, रस) के अन्तर्गत आनन्दवर्धन का वस्तुध्वनि मानने का यही स्वारस्य है।

---

१ सूक्ष्मवस्तु स्वभावस्य यथावत् वर्णनम् - स्वभावोक्तिः।

-रूप्यक-अलङ्कारसर्वस्व सख्या ७८

२ भावरवभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशल.

रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः। - वक्रोक्तिजीवित कुन्तक १/२६

स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति कविसृष्टि के मौलिकतत्त्व है, परञ्च इन दोनो का सदुपयोग तभी सम्भव है जब वे रस के उन्मीलन मे समर्थ हो, क्योकि रसोन्मेष ही कवि-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है। जहॉ वस्तुस्थिति के सीधे चित्रण से रस फूट सकता है। वहां पर प्रौढ़ कल्पनाएॅ जोड़ना अनुचित होगा, परन्तु शुष्क लगने वाली वस्तु मे कवि-कल्पना का विलास अपरिहार्य है। दण्डी ने कहा भी है **''भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्**[१] । '' इन दोनो को यदि विशाल अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो यही भारतीय काव्यमीमांसा का अन्तिम निर्णय होगा। अभिनवगुप्त का प्रसंगान्तर मे कहा गया कथन इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है।[२] नाट्य और काव्य से रसनिष्पत्ति का क्रम एक ही प्रकार का होता है जैसे दृश्य नाट्य मे लोकधर्मी, नाट्यधर्मी होते है, वैसे ही श्रव्यकाव्य मे स्वभावोक्ति वक्रोक्ति होते है। अतः काव्य मे अनुकरण और सर्जन दोनो के लिए स्थान है रस की दृष्टि से देखने पर दोनो एक दूसरे के विरोधी नही वरन् परस्पर पूरक ही है। रसोक्ति के अभाव मे स्वाभावोक्ति अनुकरण मात्र है और वक्रोक्ति निराधार हवाईमहल। दोनो का पर्यवसान रसोक्ति मे ही होता है।

कवि-सृष्टि का चरम अवसान रस मे होता है। रसानुभूति सौन्दर्य के कारण उत्पन्न होती है। उसके अस्तित्व के कारण ही काव्य मे सौन्दर्य का उन्मीलन होता है। रस को प्राप्त कर ही प्राणी आनन्दित होता है[३]। वामन के मत मे सौन्दर्य काव्य का प्राणतत्त्व है।

---

१ - काव्यादर्श २/३६३

२ काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्ति वक्रोक्ति प्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता।
- ध्वन्यालोक लोचन

३ रसैः वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। तैत्तिरीयोपनिषद काव्यंग्राहयमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः। - काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति१/१/१-२

काव्य मानवीय सौन्दर्यभावना की अभिव्यक्ति है। वस्तुजगत् उसका प्रधान उपजीव्य है। काव्य-सृष्टि मे कल्पना का योग अनिवार्य सा है, किन्तु मानव की सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना वस्तु-जगत् से असंपृक्त नही होती। कल्पना की प्रधान उपयोगिता सौन्दर्यानुभूति के उत्कर्ष मे है, और सौन्दर्य का मौलिक आधार वस्तु-जगत् ही है। कल्पना की उच्चता और प्रखरता के अनुपात से सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता और गम्भीरता मे वृद्धि होती है, और उसी अनुपात मे वस्तु का गृहीतरूप स्थूलसत्तात्मक से क्रमशः सूक्ष्मतर और भावात्मक होता चलता है। वस्तु प्रस्तुत हो अथवा अप्रस्तुत हो, श्रेष्ठ काव्य मे प्रवेश पाने के लिए उसका चारूत्व सर्वथा अपेक्षित है। अप्रस्तुत वस्तु योजना का उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु के चारूत्व का अभिव्यञ्जन ही होता है। यह चारूत्व गुणालङ्कारो के वैशिष्ट्य से उत्पन्न होता है एवं इस चारूत्व के कारण ही रसचर्वणा होती है।[१]

सत्य काव्य का साध्य है, सौन्दर्य उसका साधन। कवि अपनी मानसी कल्पना द्वारा जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, क्या वह वस्तु मे होती है? या ग्रहण करने वाले चित्त मे अथवा इन दोनो मे? यह एक बड़ी समस्या है, किन्तु इस प्रश्न के लिए भारतीय काव्यशास्त्रीय आचार्यो का क्या उत्तर है यह जानना अपेक्षित है। काव्यका जीवनाधायक तत्त्व है- रस, जो आनन्द विशेष की अनुभूति है। जो वस्तुए सहृदय को रसानुभूति कराती है वे सभी सुन्दर है। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर ही जाती है चाहे वह मूर्तरूप मे हो या अमूर्त, क्योकि सौन्दर्य मंगल का प्रतीक और सत्य का प्रतिनिधि होता है। उससे जो आनन्द प्राप्त होता है वह लौकिक नही। यहां आनन्द केवल

---

१ अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकार सौन्दयातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः।

-हिन्दी अभिनवभारती अध्याय ६ पृ० ५०४

परिभावना मात्र से मिलता है। चित्तविश्रान्ति ही इसका लक्षण है।[१] कवि अपनी सौन्दर्यात्मक अनुभूति को सहज ही स्वरस का रूप देकर हमारी ऑखे खुलवाता है और हम तक अपनी सृष्टि के द्वारा हमे परिभावित करता है। अपनी ऑखो से देखने पर जो मनोहर नही लगता वह कवि वाणी के द्वारा देखने पर चमक उठता है। उसे कवि द्वारा तन्मयता के साथ परिभावित किया जाना ही इसका कारण है। उसके द्वारा सिद्धसौन्दर्य का हम भी तन्मयता के साथ अनुभव करते है।[२] शकुन्तला के माध्यम से विधाता ने रूप के सर्वश्रेष्ठ उपादानो का संचयकर उसके आधार पर अपनी मानसी कल्पना के द्वारा जिस सौन्दर्य की रचना की वह एक विलक्षण सृष्टि प्रतीत होती है।[३]

अतः कवि-सृष्टि के तलस्पर्शी चिन्तन से यह स्पष्ट होता है कि वह एक अलौकिक निर्मिति है, जो प्राकृतिक नियमो से सर्वथा स्वतन्त्र एकमात्र कवि-शक्ति का व्यापारिक प्रतिफलन है। उसका सौन्दर्य लोकोत्तर है, जिसमे अरमणीय शोकादिभाव भी अलौकिक बन जाते है। चूँकि जगत् कार्यकारणात्मक है। कार्य-कारण के गुणो से आन्वित होता है। अतः काव्य-जगत् के मूलतत्त्व प्रतिभा के अलौकिक होने के कारण कवि-जगत् भी लोकोत्तर है। प्रपञ्चात्मक जगत् का कारण ब्रह्म की शक्ति माया है, जो सुख-दुख-मोहात्मक है। अतः ब्रह्म की शक्ति का कार्य जगत् भी सुख-दुख-मोह स्वभावा है। इसी भॉति कवि का काव्य-जगत् भी अलौकिक है, क्योकि उसकी कारणभूता प्रतिभा अलौकिक है।

---

१ सौन्दर्य च चमत्कृत्याधायकत्व चमत्कुति आनन्दविशेष सहृदयहृदयप्रमाणक रसगंगाधर आनन-१

२ कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयोगतः।
तथा स्फुरन्त्यमी काव्यात् न तथाध्यक्षतः किल।।

-महिमभट्ट व्यक्तिविवेक पृ० ७३

३ स्त्रीरत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सामे । -अभिज्ञानशाकुन्तलम् २/२९

कवि-सर्जना–विविध उक्तियाँ

सृष्टि विश्वात्मा का कार्य है जो न नष्ट होता है और न ही पुराना पड़ता है। वह अपनी इस विलक्षण सृष्टि के कारण प्राणिमात्र के अप्रतिम आकर्षण का केन्द्र है, ठीक वैसी ही निर्मित उसके द्वारा सृष्ट मानव के सहज प्रयासो का प्रतिफल है लोक जिसे कला का नाम देता है। इन कलाओ मे काव्य-सर्जन कला अपनी अलौकिक आह्लादजनकता के कारण सहृदय मानस के आकर्षण का केन्द्र बन गयी। लोक मे ऐसे स्रष्टा की कवि, मनीषी, परिभू स्वयंभू आदि संज्ञाएँ विशेष सम्मान पाती है।[१] वाग्देवता के समस्त उपासको ने वाणी की शब्दार्थमयी साधना मे अपने जीवन की चरम सिद्धि के दर्शन किये है, किन्तु कवियो का तद्विषयक प्रदेय सर्वाधिक है। मानवीय, संवेदनाओ के कुशल शिल्पी के रूप मे उन्होने अपनी प्रतिभा की तूलिका से जो शब्दचित्र अंकित किये है, वे भावमाधुरी के दिव्यनिदर्शन अथवा सजीव मूर्तविधान है। उसकी शक्ति साधना मे ऐसी सामर्थ्य समाविष्ट रहती है जिसके कारण भावो और विचारो का अमूर्त सा विस्मयजनक वैलक्षण्य साकार रूप धारण कर लेता है।

कवि से अधिक न तो कोई शब्द-व्यापार का प्रयोक्ता हो सकता है, न उसकी चमत्कृति का पारखी। इसीलिए उसकी सर्जना से अनुभावित सहृदय अन्तस् ललित रसान्द्र शब्द-गुम्फन पर अपनी प्रतिक्रिया को रोक नही पाया। विक्रमांकदेवचरित के प्रणेता कवि विल्हण उन्हे साधुवाद प्रदान करते हुए कहते हैं "वे कवीश्वर धन्य है जिनके कोयल के शब्द के समान कर्णेन्द्रिय को

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् ।
व्यवदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। - ईशावास्योपनिषद्, ८

सुख देने वाली उक्तियो से अथवा कविता समूहो से विभूषित मुखो मे सरस्वती अपनी कच्छपी बीन बजाती सी सदैव शोभित होती है।[१]''

कवियो के काव्यरूपी धन पर कही दुष्टो चोरो की दृष्टि न पड़े, अत कवियो को सावधान करते हुए कहते है 'हे कवियो मे श्रेष्ठ कविगण साहित्य रूपी समुद्र के मन्थन करने से उत्पन्न और कानो को सुख देने वाले काव्य रूपी अमृत की सदैव रक्षा करते रहिए, क्योकि इस काव्यरूपी अमृत की चोरी करने मे लालायित दैत्यो के समान बहुत से काव्यरूपी धन के चोर एकत्रित हो गये है।[२]'' अर्थात् काव्यार्थचोर काव्यरूप धन की चोरी यथेच्छ करते रहे इसमे श्रेष्ठ कवियो की कोई क्षति नही, क्योकि देवताओ ने समुद्र से बहुत से रत्न निकाल लिए तो भी समुद्र आज भी रत्नाकर ही कहा जाता है।[३]

काव्य-सर्जना कवि-मानस की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियो की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना है जिसे हृदयंगम करने मे शब्दार्थमात्र का ज्ञान ही पर्याप्त नही है, अपितु सहृदय प्रतिभा भी आवश्यक है। जिन भावो का कवि-प्रतिभा से नवनवोन्मेष होता है उनके सत्त्व को चूसने मे सहृदय पाठक भी अपनी प्रज्ञा का प्रयोग करता है। ''क्योकि पण्डितो को आकर्षित करने वाली काव्य-रचना

---

१ जयन्ति ते पञ्चमनादिमित्र-चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती।।

- विक्रमाकदेवचरित १/१०

२ साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थ काव्यामृत रक्षत हे कवीन्द्रा।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौरा प्रगुणीभवन्ति।।

- विक्रमांकदेवचरित १/११

३ गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः।।

- विक्रमांकदेवचरित १/१२

की कुशलता मूर्खो को आनन्दित नही कर सकती। मोती मे छेद करने की सुई टॉकी का काम नही कर सकती। कवि के सूक्ष्म भावो को कुशाग्रबुद्धि ही हृदयंगम करता है। स्थूलबुद्धि वालो को उससे कोई सुख नही मिलता।[१]"

कवि-सर्जना का रागमय लावण्य, हृदयावर्जक आह्लादान सहृदयो के आकर्षण का केन्द्र होता है। इसीलिए तो जो लोग क्रान्तदर्शी कवियो की सर्जना मे निमग्न हो ब्रह्मानन्दसहोदर की अनुभूति कर चुके है उनकी अन्य छोटे कवियो के काव्यो मे रुचि नही होती, क्योकि गठिंवन नामक सुगन्धित पौधो को खाने के प्रेमी कस्तूरीमृग अन्य घास-पात नही चरते। भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' के करुण मे भी विलक्षण आनन्द को अनुभूत करने वाला सहृदय पाठक आशुकाव्यो मे रुचि नही लेता।[२]

उत्तम कविता की उत्पत्ति स्थली वस्तुतः सरस्वती है जिसकी समता कुङ्कुम-केसर से करते हुए कवि कहता है कि- "उत्तम कविता का विलास और केसर दोनो निश्चय ही सगे भाई है। शारदा के आदेश बिना अर्थात् सरस्वती की कृपा बिना अच्छी कविता की उत्पत्ति और शारदा देश अर्थात् कश्मीर बिना केसर की उत्पत्ति अन्यत्र होती हुई मैने नही देखी।[३]" सुन्दर शब्दरचना सहृदय के हृदय मे उसी प्रकार कौतूहल उत्पन्न करती है, जिस प्रकार से नवोढा वधू अपने प्रियतम के हृदय को कौतूहल से पूर्ण कर देती

---

१ व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदाऽपि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम् ।
न मौकित्तकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकाया॥
- विक्रमाकदेवचरित १/१६

२ कथासु ये लब्धरसा कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु॥
- विक्रमांकदेवचरित १/१७

३ सहोदरा कुडकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासा।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषा यदन्यत्र मया प्ररोह॥- विक्रमाकदेवचरित १/२१

है। तभी तो गद्यकार बाणभट्ट कहते है। "स्पष्ट मधुर वचनो एवं हाव-भाव के कारण कोमल तथा उत्कट प्रेम के कारण कामशय्या के समीप अपने आप आयी हुई नवोढावधू जिस प्रकार पतिभूत पुरुष के हृदय मे कौतुक को अधिक उद्दीप्त करने वाला अनुराग पैदा करती है, उसी प्रकार शब्दगुम्फन के कारण कोमल एवं शृंगारादि रस द्वारा अपने पदगुम्फन को प्राप्त कथा व्यक्ति के हृदय मे कौतूहल को अभिवृद्ध करने वाली अभिरुचि पैदा कर देती है।[१]

कवि अपनी सर्जनामात्र से भौतिक जगत् की ऐषणा और लिप्सा से व्याकुल मानव-मानस को ऐकान्तिक सुख की अनुभूतिं कराता है। महाकवियो की वाणी के विलास को अमृतरस के समान एवं शाश्वत आनन्दायक माना गया है। अतएव नलचम्पूकार त्रिविक्रमभट्ट ने अपने मंगलश्लोक मे यशस्वी कवियो के बार-बार अमृतबिन्दु टपकने वाले वाणी के विलासो की जय जयकार की है।[२] हृदय मे अपरिमित चमत्कार उत्पन्न करने वाले शृंगारादि नव रसो की विशेषता से प्रौढ विद्वानो के हर्षस्थान और विकसनशील वाणी के प्रवाह की वन्दना करता हूँ।[३] पुण्य से ही किसी के मुख मे प्रसाद गुण युक्त, औज्ज्वल्यरूप कान्तिगुण के कारण मनोहर तथा अनेक प्रकार के श्लेषालंकारो को प्रकट करने वाली वाणी आती है जिस प्रकार कान्ति से मनोहर तथा अनेक प्रकार के आलिंगन मे निपुण रमणी स्वागमन से किसी के

---

१ स्फुरत्कलालापविलासकोमल्प करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥

- कादम्बरीकथामुख-८

२ तदनु च विजयन्ते कीर्तिभाजां कवीना
मसकृदमृतबिन्दुस्यन्दिनो वागविलासाः॥ -नलचम्पू मगलश्लोक-१

३ अगाधान्तः परिस्पन्दं विबुधानन्दमन्दिरम् ।
वन्दे रसान्तरप्रौढ स्रोतः सारस्वत वहत् ॥ - नलचम्पू १/३

गृह मे प्रवेश करती है।[1]'' प्रतिभायुक्त कवि अपनी शक्ति से काव्यसर्जना के द्वारा सहृदय के हृदय मे आनन्द की धारा प्रवाहित करा देते हैं। जिसके आस्वादन से सृहदय बाह्यजगत् से पृथक् होते हुए स्वयं को भूल जाता है, जब कि नव श्लोको की रचना का अभ्यास करने वाले आशुकवि बालक के समान होते है।

कवि के उस काव्य से क्या? और धनुर्धारी के उस बाण से क्या लाभ जो दूसरे के हृदय मे लगकर उसके सिर को न हिला दे? अर्थात् सुन्दर काव्य सहृदय को अद्भुत चमत्कार से झुमा देता है।[2]

महाकवि अपनी सर्जना सामग्री वस्तुजगत् से ही ग्रहण करता है और अपनी प्रतिभा शक्ति से उसमे उत्कृष्ट भावोन्मीलन कर देता है। उसका प्रातिभचक्षु जिस वस्तु पर पड़ता है वह सब कुछ उदात्त से उदात्ततर हो जाता है। इसीलिए त्रिविक्रमभट्ट का कहना है कि ''सुभाषितरूपी रत्नो के उत्पत्तिस्थान उन विद्वानो को मैं नमस्कार करता हूॅ जिनके मध्य मे गया हुआ क्षुद्र (प्रबन्ध) काव्य भी उच्चकोटि के मणि की तरह प्रतीत होता है, क्यो कि अच्छे रत्नो को उत्पन्न करने वाले रोहण पर्वत के मध्य मे पड़ा हुआ तुच्छ कॉच भी उत्कृष्टकोटि की मणि के समान प्रतीत होता है।[3]

कवि की सर्जना विविध रसो के परिपाक से पुष्ट एक अद्भुत फल है। वह कभी रसिको को शोक के अगाध समुद्र मे डुबो देता है तो कभी शृंगार

---

१ प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः।। - नलचम्पू १/४

२ किं कवेस्तेन काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः।। - नलचम्पू १/५

३ रोहणं सूक्तरत्नानां वृन्दं वन्दे विपश्चिताम् ।
यन्मध्य पतितो नीचः काचोऽप्युच्चैर्मणीयत।। - नलचम्पू १/८

के माध्यम से स्वर्गलोक के आनन्द मे निमग्न कर देता है। "काव्य की वाणियां सभंगश्लेष की विशेषता से कठिन हो जाती है, पर सहृदयो को उससे घबराना नही चाहिए, क्योकि कवियो के लिए एक ही रस नही है। वह अपने काव्य मे कही कठिनता तो कही मृदुता सृष्ट है जिससे रसास्वाद दुष्कर नही होता है।[१]" आम्रफल की तरह कोमल तथा कठोर काव्य का भी पद-रचना तथा व्यङ्गयार्थ की विशेषता से रसास्वाद भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है।[२] कवि की सर्जना उसके अथक परिश्रम का फल होती है। कवि के काव्य की दुर्जन चाहे जितनी आलोचना करे उससे उसका श्रम कम नही होता। कवि के परिश्रम को तो कवि ही अच्छी तरह जान पाता है।[३] अतः प्रौढ़प्रकर्ष से अर्थात् रस, गुण, अलंकार आदि की विशिष्ट चमत्कृति के प्राबल्य से प्राचीन काल से प्रचलित अथवा प्राचीन कवियो द्वारा प्रचलित पदविन्यास का यदि त्याग किया जाये तो वह प्रशंसनीय है। अत्यन्त उच्चता तथा काठिन्य से चोली को फाड़ देने वाले रमणियो के स्तनमण्डल सराहना करने योग्य हाते है।[४] कवि-सर्जना विश्व-व्यापकता से युक्त होती है। जिस प्रकार से प्रजापति ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होकर जागतिक सृष्टि रच देता है, उसी प्रकार कवि भी अपने काव्यजगत् को विश्वजनीनता से पुष्ट करता है। उसके प्रत्येक

---

१ वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः।
नोद्वेगस्तत्र कर्तव्यो यस्मान्नैको रसः कवेः।। - नलचम्पू १/१६

२ काव्यस्याम्रफलस्येव कोमलस्येतरस्य च।
बन्धच्छायाविशेषेण रसोऽप्यन्यादृशो भवेत् ।। - नलचम्पू १/१७

३ उत्फुल्लगल्लैरालापाः क्रियन्ते दुर्मुखैः सुखम् ।
जानाति हि पुनः सम्यक् कविरेव कवेः श्रमम् ।। - नलचम्पू १/२३

४ प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति व्यतिक्रमः श्लाध्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नति-स्फोटित-कञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि।।
-विक्रमांकदेवचरित १/१४

पद मे विश्व समाया रहता है। अतएव बाणभट्ट कहते है कि "उस कवि के काव्य से क्या? जिसकी वाणी सब प्रकार के वृत्तान्तो वाली महाभारत की कथा के समान तीनो जगत् मे व्याप्त नही होती।[१]" प्रत्येक नवीन काव्य अपनी नवीनता तथा अपूर्वता से अस्तित्व मे आता है। यह नवीनता तथा अपूर्वता असामान्य उपलब्धि है। चारुत्व के साथ ही इसका उदय होता है काव्य मे चारुत्व तथा जीवन्तता का यह लालित्य ही रसपरिग्रह है। इस कठिन कार्य को महाकवि ही कर सकते है। इसीलिए तो "कुत्तो के समान घर-घर मे जन्म लेने वाले कवि असंख्य है जो स्वरूपमात्र का वर्णन करते है शरभो के समान उत्पादक अर्थात् नवनिर्माण करने वाले कवि-जगत् मे बहुत नही है।[२]

कवि-सर्जना किसी व्यक्ति की निजी भावनाओ का स्वार्थमय शब्दिक प्रदर्शन नही, अपितु लोकजीवन की भाव संस्थितियो का अभिव्यञ्जन है, और अपनी व्यक्तिपरकता मे भी वह वामन की विराट् शक्ति को संजोये रहता है "कवि की वाणी अलंकारो के योग से देदीप्यमान तथा दोषाभाव के कारण निर्मल बनकर जिस सरसकाव्य की रचना करती है, वह कल्पपर्यनत अमर और अवदात्त है। उनके स्वर्ग चले जाने पर भी उनका काव्यवपु इहलोक मे अब भी निरातंक निर्भीक अनश्वररूप मे विद्यमान है।[३]"

काव्यकार की महिमा अपार है। उसके सम्मुख सम्राटो का वैभव भी हतप्रभ है। रससिद्ध कवीश्वरो के यशः शरीर को जरामरणज भय नही होता।

---

[१] किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृतान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्रयम् ।। - हर्षचरित १/९

[२] सन्ति श्वान इवासख्या जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहव कवय शरभा इव।। - हर्षचरित १/५

[३] उपेयुषामपिदिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।। - भामह-काव्यालंकार १/६

वे अपनी कृतियो से वर्ण्यमान विषयो और व्यक्तियो को भी अमरता प्रदन करते है,[1] क्योकि यदि उन राजा आदि नायको के चरित को प्रबन्ध रूप मे लिखने वाले सुकवि न होते तो उन राजादि द्वारा बनाये गये इन्द्रप्रासादि तुल्य महलो के कालवश नष्ट हो जाने पर इनका नाम शेष न रहता।[2] जिस राजा के पास अच्छे कवि नही है। उनका यश कहां से फैल सकता है? इस पृथ्वी पर क्या कितने राजा ऐसे नही है जिनका नाम तक कोई नही जानता है?[3]

"काव्य-सर्जना एक अत्यन्त पुनीत और श्रेयस्कर सृष्टि है जिसके द्वारा चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति प्रेयस्करी विधि से की जा सकती है।"[4]

अतः जब तक कवि की अनश्वर कीर्ति आकाश और पृथ्वी को आच्छादित किये है तब तक वह पुण्यवान देवपद पर आसीन है।[5]

इस प्रकार काव्य-सर्जना किसी गहन अभाव की पूर्ति मे असीम उत्कण्ठा की तृप्ति का विलास है। यह गहन अभाव रचनाकार कवि के लोकोत्तर मन का है, जिसको वह स्वयं नही जानता और अपनी अबोधपूर्वा स्मृति मे डूबकर जब उतराता है तो अपने को एक अनुपम रचमान स्थिति मे

---

१ ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसर सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पनल्पं प्राप्नोति यशः परस्यापि।। - भामह-काव्यालंकार १/४

२ इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम् ।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथ तस्य नोपकृतम् ।। - रूद्रट काव्यालंकार १/५

३ पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः क्रियन्तो न बभूवुरूर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम् ।।
- विक्रमांकदेवचरित १/२६

४ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।। - भामह-काव्यांलकार १/२

५ रुढ़ादि रोदसी चास्य यावत्कीर्तिरनश्वरी।
तावतकिलापमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।। - भामह-काव्यालंकार १/७

पाता है। अनुरागयोग का व्याकुल कम्पन कवि को आनन्दोद्रेक के धरातल पर खड़ा करता है। उस आन्दोद्रेक मे खड़े हाने की स्थिति आते ही कवि के अन्तर्मन से सौन्दर्यमयी वाणी फूट पड़ती है। वह सब मिलाकर हमारे चित्त मे एक प्रकार का आन्दोद्रेक करता है, उस आनन्द को प्रकट करने के लिए ही हम उसे सुन्दर कहते है। अतः वक्रोक्तिजीवितकार आचार्यकुन्तक का कहना है कि "कवि का मुखचन्द्र नाट्यभवन है और वाणी नर्तकी, जो सूक्तियो के विलास के अभिनय से मनोहारिणी बनकर अवतरित होती है।[१]" अतः कहा जा सकता है कि काव्यसर्जक की रागात्मक अनुभूतियो की जीवन संघर्षगत प्रक्रियाएँ जब तक भाषा का परिधान धारण नही करती जब तक काव्य-सर्जना का कलात्मक संसार नही बन सकता। जीवन की उर्वरभूमि मे प्रविष्ट हाते ही कविप्रतिभा का अंकुरण काव्य-सर्जना के बहुविध रूपो और प्रकारो का परिस्फुटन और पल्लवन करने लगता है, जिसका प्रसार काव्यजगत् की भावभंगिमाओ मे होता है। काव्य-सर्जना का प्राथमिक रूप यदि यथार्थ की भाव लहरियो से आन्दोलित रहा तो उसका उत्तरवर्ती अंश आदर्श की रंगीनियो मे विश्रान्ति प्राप्त कर सका। दोनो ही रूपो मे जीवन की समस्याओ का अभिचित्रण समाहित है जो यथार्थ की दृष्टि से जीवन की प्रकृत संवेदनाओ की रागमयी अभिव्यञ्जना करता है। आदर्श के प्रतिमान से उसे कर्तव्यनिष्ठा और नैतिकता का कान्तासम्मित उपदेश भी प्रदान करता है। यथार्थ और आदर्श के संतुलित सामञ्जस्य मे जीवन की पूर्णता है, जो काव्य-सर्जना का अभिप्रेत है। कवि-सर्जना शब्दो मे भावप्रेरित सर्जनात्मक कल्पना की मूर्त उपादानो द्वारा अभिव्यक्ति है जो निमित्तरूप भावक की अनुभूति को उद्बुद्ध करती है।

---

१ वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवी सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ।। -वक्रोक्तिजीवित १/१

अध्याय-२

काव्योद्भव

अध्याय-२

काव्योद्भव

विविध अवधारणाएं

वैदिक अवधारणा - काव्य की उत्पत्ति कब हुई? इस विषय मे सुनिश्चित रूप से कह पाना कठिन है। भारतीय काव्यमीमांसको ने काव्योत्पत्ति-विषयक विविध अवधारणाओ का व्याख्यान अपने शास्त्रीय ग्रन्थो एवं काव्यकृतियो मे किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत, राजशेखर, भवभूति आदि ने काव्योद्भव के लौकिक एवं अलौकिक चिन्तन पर बल देते हुए इस रहस्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है, जिसमे पौराणिक आख्यान एवं कल्पनाशीलता का भी पुट समाहित है। काव्यात्मक सौन्दर्य समेटे हुए वैदिक मन्त्रो का कलेवर, माध्यन्दिन सवन हेतु तमसा-तट पर वाल्मीकि के द्वारा निरूपित क्रौञ्च की गाथा, सार्ववर्णिक पञ्चमवेद की सृष्टि और कमनीय काव्यपुरुष की उत्पत्ति की अवधारणाओ के आलोडन-विलोडन से उद्भूत प्रकाश मे काव्योत्पत्ति का तथ्य प्रतिबिम्बित होता है?

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नवीन सृष्टि का उद्गम करता है, उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि मे निहित अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। वह सुन्दर पदार्थ के दर्शन मे जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन कर उससे तादात्म्य स्थापित नही कर लेता, तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नही कर सकता। अन्तर्दर्शन कवि को वस्तुतत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की

क्षमता प्रदान करता है तो वर्णन उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है, जो उसके हृदय को नाना भावनाओ का आकर्षण केन्द्र बनाती है। परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठको के हृदयावर्जन मे समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

काव्यकला मानव के आध्यात्मिक चिन्तन का परिष्कृत रूप है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के असीम ज्ञानराशि की अक्षयनिधि हमारे वेद प्रथम दृष्ट्या काव्योत्पत्ति के मूलस्रोत प्रतीत होते है। 'दर्शन' तथा 'वर्णन' से स्निग्ध ऋषियो की वाणी के भव्य उदाहरण वेद की महनीय ऋचाएँ है, जो आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की निधि है। इसमे तो लेशमात्र भी सन्देह नही है, परन्तु ये ही ऋचाएँ कमनीय काव्यकला के आदिनिदर्शन भी निश्चयपूर्वक माने जा सकते है। वैदिक ऋषियो की वाणी मे दिव्यता अपने भव्यरूप मे स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिकदृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्वज्ञान के निःसन्देह परिचायक है। भावप्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियो के आर्षचक्षुओ द्वारा अनुभूत तत्त्वो के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक है। वैदिक ऋषि मनोभिलषित भावो को थोड़े से चुने हुए शब्दो मे सीधे कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावो की तीव्रता की अभिव्यक्ति हेतु अलंकारो के विधान मे भी पराङ्मुख नही होता। अलंकारो की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य एवं मनोरम रूप इन मन्त्रो मे दृष्टिगोचर होता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार मे प्रथमावतार उतना ही प्राचीन है जितना काव्य का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने मे कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध कराती है। अपनी अनुभूतियो मे तीव्रता लाने के लिए उन्हे सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के लिए कवि की वाणी जिन अन्तरंङ्ग मधुमय कोमल साधनो का आश्रय ग्रहण करती है

अलंकार उन्ही का अन्तरंङ्ग रूप है। अत· हम ऐसे काव्य की कल्पना नही कर सकते जिसमे भावभंगी मे कोमल विलास के संचार हेतु कवि किसी न किसी प्रकार के साम्यविधान का आश्रय नही लेता।

वेदो के सूक्तो मे नाना देवताओ से यज्ञ मे पधारने के लिए भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दो मे स्तुति की गयी है। उनके रूपो के भव्य वर्णन मे ऋषियो की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओ मे कोमल भावो तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओ की रूचिर अर्थव्यञ्जना है। उषा विषयक मन्त्रो मे सौन्दर्यभावना का आधिक्य है तो इन्द्रविषयक मन्त्रो मे तेजस्विता का प्राचुर्य। अग्नि के रूप वर्णन मे यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरूण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमलभावो की मधुर अभिव्यक्ति। इस प्रकार वेद-मन्त्रो मे काव्यगत गुणो का समावेश काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नही है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है- भावो की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदो मे इसका विशाल साम्राज्य है। इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत मे आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्त को मारा तब रँभाती हुई धेनुओ के समान जल जारो से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला।[१] इसमे **'वाश्राधेनवः'** की उपमा से सायंकाल चारागाहो से लौटनेवाली, अपने बछड़ो के लिए उतावली सी जोरो से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायो का मनोरम दृश्य नेत्रो के सामने झूलने लगता है। इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियो ने भी अपने काव्यो मे बड़ी रूचिरता के साथ अपनाया है। इसी प्रकार उषस् सूक्त का अनुशीलन हमे

---

[१] अहन्नहि पर्वते शिश्रियाण त्वस्टास्मै वज्रं स्वयर्य ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जम्मुराप।। -ऋग्वेद १/३२/२

इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्यभावनामण्डित है। प्रातःकाल अरूणिमा से मण्डित सुवर्णच्छटा से विच्छुरित प्राची-नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक हृदय मे कोमल भावना का उदय नही होता। वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेमभरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ सा उठता है। उषा मानवी के रूप मे कवि-हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल स्वर्ग की अधिकारिणी मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्व लोक मे अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने मे ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय मे केवल कौतुक और विस्मय ही जाग्रत होता, घनिष्ठता नही। जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो उठता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृतिसत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते है तब काव्य की कोमल कलिकाएँ प्रस्फुटित होती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप मे, कभी प्रेमिका के रूप मे, की भी गृहिणी के रूप मे और कभी माता के रूप मे देखता है।

उषा अपने शुभ्र, उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई, स्नान करने वाली सुन्दरी की भॉति आकाश मे प्रकट होती है, तो कभी भातृविहीनभगिनी के रूप मे अपने दायभाग को लेने के लिए पितृस्थानीय सूर्य के पास आती है। कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेमपाश मे बॉधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी की भाँति अपने पति के समक्ष अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है।[१] कवि की दृष्टि उषा के रम्यरूप पर पड़ती है वह उसे मानवी सुन्दर प्रेमिका के रूप मे देखकर प्रसन्न हो उठता है। उषा का आकर्षणमय

---

१ अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।। -ऋग्वेद १/१२४/७

आकर प्रस्तुत होती है। वाल्मीकि, कालिदास प्रभृति कवियो का प्रकृति-चित्रण ऋग्वैदिक अलौकिक काव्यधारा का लौकिक परावर्तन है।

अतः यह तथ्य स्पष्ट है कि दिव्यचेतना से अनुप्राणित वैदिक ऋचाओ के शब्द ब्रह्मवाचक है। आपौरूषेय होते हुए भी मन्त्रो का अस्तित्व द्रष्टा की परिकल्पना को तो प्रमाणित करता ही है साथ ही स्रष्टा भी बना देता है। ब्रह्म की अनन्त कलाएँ ज्ञानोन्मुख ऋषियो को उस महान् कलाकार के प्रति जिज्ञासु वनाती रही और अनन्त स्तुति के रूप मे प्रस्फुटित हो गयी। इन्ही ऋचाओ को ऋग्वेद मे 'सुवृक्ति' कहा गया है,[१] जिनके माध्यम से काव्य-सम्बन्धी कतिपय तथ्यो का मंकेत मिलता है। काव्य भावान्वित होता है।[२] यह दिव्य चेतना द्वारा प्रेरित है।[३] यह कुशल शिल्पी द्वारा रथ की भॉति निर्मित है[४] इसका स्वरूप स्तुतिरूप, हृदयग्राह्य, शोभन, सुखकर, प्रीतिकर तथा कल्याणकारी है।[५]

दृष्टि के अनन्तर से रचना के स्वरूप मे भी अन्तर आ जाता है। सौन्दर्य के दिव्य और लौकिक दोनो रूपो के उपासक वैदिक ऋषि उपनिषदो तक आते-आते मात्र दिव्यरूप के उपासक रह गये तथा हृदयगत भावो का स्थान ज्ञान ने ले लिया। कवि की सौन्दर्योन्मुखी अपूर्वदृष्टि जिसका प्रस्फुटन ऋग्वैदिक ऋचाओ मे हुआ था, उसका विलयन दार्शनिकता मे हो गया। सौन्दर्य को देखने की दृष्टि बदल गयी। वह अलौकिक तत्त्व के गूढ़ रहस्य मे

---

१ शोभना स्तुति।

२ आ ते अग्ने ऋत्वा हवि हृदा तष्म्। -ऋग्वेद ५/१६/४७

३ चोदयित्री सुनृतानाम् चेतनन्ती सुमतीनाम् धियो विश्वा विराजाति।
-ऋग्वेद ३/१०/७२

४ रथम न धीर स्वपा अतक्षम् । -ऋग्वेद ५/३/११

५ स्तोयमादितिर्जगृप्यात सुनुंन माता हृद्यं सुशेवम् ब्रह्मप्रियं विराजति।
-ऋग्वेद ३/१०/७२

लिपट गयी। फलत अभिव्यक्ति की भंगिमा मे भी परिवर्तन आया। ''**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**'' का उद्घोष करने वाली ऋग्वेद की उल्लासमय वाणी '**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या**' के गूढ़ निदर्शन मे विलीन हो गयी

क्रौञ्चगाथा की अवधारणा

वाल्मीकि रामायण लौकिक काव्य वृक्ष का प्रथम पुष्प है जो तमसा-तट पर मिथुनक्रिया मे रत क्रौञ्चयुगल मे से व्याध के द्वारा शरविद्ध क्रौञ्च की मृत्यूपरान्त क्रौञ्ची के करूण-क्रन्दन से द्रवीभूत निर्विकारचेता महर्षि की करूणा से आविर्भूत हुआ। महर्षि वाल्मीकि को ब्रह्मा ने **'आद्यः कविरसि'**[१] कहकर सम्बोधित किया। यद्यपि वाल्मीकि से पूर्व काव्यात्मक रचनाएँ हुई थी और हो रही थी, परन्तु उनका उद्देश्य देवस्तुति, धर्मभावना आदि ही था वाल्मीकि ही वह प्रथम क्रान्तिकारी प्रगतिशील मनीषी थे जिन्होने जन-भावना को समझकर उसका जन-जीवन से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित किया।

आदिकाव्य रामायण काव्यात्मक गुणो से पूर्णतया मण्डित और दैवीप्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ।[२] कवि का भाव करूणदृश्य के प्रभाव से उद्बुद्ध होकर शोक मे परिणत हुआ और अन्ततः अभिव्यक्ति के लिए आतुर शोक वाणी के रूप मे मूर्त हुआ।[३] भाव अपनी परिणति के लिए मूर्तता चहाता है। महाकवि का भाव शोक श्लोक के रूप मे परिणत हुआ।[४] उनकी वाणी को मूर्तता प्राप्त हुई। वाणी की क्षमता से कवि परिचित है, क्योकि वह पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहता है कि ''श्लोको भवतु नान्यथा' निश्चित रूप से

---

१ उत्तररामचरितम्-अङ्क २ वाक्य सं० २४
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे वाल्मीकिरामायण १/२/१८

२ पादबद्धोऽक्षरसमः तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।। -वाल्मीकिरामायण १/२/१८

३ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् कौञ्चमिशुनरादेकमवधीः काममोहितम् ।। -ध्वन्यालोक १/५ वृत्ति

४ क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। -ध्वन्यालोक १/५ वृत्ति

यह कोई श्लोक है, और कुछ नही हो सकता। इससे यह ध्वनित हो रहा है कि वैदिक ऋचाओ की प्रेरक उषा देवता वाल्मीकि के लिए सरस्वती बनकर आयी।[१] परन्तु दैवीशक्ति का प्रेरक रूप मे उल्लेख मात्र परम्परा का निर्वाह एवं कवि की धार्मिक चित्तवृति का प्रभाव रूप है।[२] वाल्मीकि को अपने कवि होने का बोध है, तभी तो **'प्रवृत्तो मे'** के प्रयोग द्वारा अपनी अस्मिता का समावेश करते है। श्लोक की विशेषता का उल्लेख करते हुए कवि कहते है कि 'भावप्रवण हृदय से निकली वाणी मे लयात्मकता, सगीतात्मकता, समान अक्षरो की योजना तथा पादबद्धता स्वत आ जाती है।

अत काव्योद्भव के मूल मे संवेदना की तीव्रता, जीवन के प्रति आसक्ति तथा अमानवीयता के प्रति आक्रोश है। यह अन्तरात्मा की सहज भावाभिव्यक्ति है, जिसमे कलात्मक सौन्दर्य स्वत समाविष्ट हो गया। महाकवि को पादबद्ध, लयात्मकभावाभिव्यक्ति पर स्वत आश्चर्य हुआ। **'मा निषाद'** श्लोक मे कवि शोक की अभिव्यञ्जना काममोहित क्रौञ्च-मिथुन के माध्यम से हुई, इसका अर्थ वे लोग ही समझ सकते है, जिनको कामशक्ति का अनुभव प्राप्त हो? मुनि तो विरक्त होते हुए भी मानवमन की सभी अवस्थाओ से परिचित थे। यही उनकी प्रतिभा थी। उक्त कथन की पुष्टि हमे पाश्चात्त्य विचारको मे भी प्राप्त होती है। होराल्ड ओसबार्न के विचार मे कवि भावो का प्रेषण अथवा वर्णन नही करता क्योकि यह मानवशक्ति के बाहर है। वह तो केवल उस भाव के अनुकूल मनोदशा का उपयुक्त शब्दो मे वर्णन करता है जिससे सहृदय पाठक के संस्कारजन्य अनुभवो का स्मरण हो सके और

---

१ श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।। वाल्मीकिरामायण १/२/३१

२ पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वित।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।। -बाल्यकाण्ड १/२/१८

उसकी मनोदशा भी कवि-मन से सामञ्जस्य स्थापित कर सके।' क्रौञ्च के द्वन्द्वियोग से निर्विकारचेता महर्षि की तत्क्षण मनोदशा उपयुक्त शब्दो मे रूपायित हो गयी। दुःख से आपूर्ण महाकवि के हृदय से करूणा छन्दोबद्धरूप मे बाहर छलक पड़ी।

भारतीय काव्य-परम्परा मे लौकिक काव्य के आदिम मन्त्र के रूप म क्रौञ्चगाथा की अवधारणा बद्धमूल है। समस्त आचार्यो ने इसे समवेत स्वर म आदिकाव्य का प्रथम मंत्र और वाल्मीकि को आदि कवि के रूप मे स्वीकार किया है[२] -

---

' What the poet can do is to evoke with great precision very finally discriminated states of mind to words presented situations or series of events ---------- The poet can convey no new sensory or emotional experience The most he can do is to induce us to recollect more vividlly aspect of our own past experience, No one can give a blind man the experience of the seeing or the colour-blind man the experience of colour discrimination, nor can any man communicate to an other type of emotion experience with the later is unfamiliar, A man who has never been in love may reed all the love poetry in the world and still he will not know what he it feels like to be in love or a man who has never know mystical religions emotions may reed the books of the mystics and the anylitical descriptions of the phychologist, but it will all be meaningless to him imply words with concrete significance

- Herold obsborn – Aesthetics and criticism
Page 186-187

स व पुनातु वाल्मीके: सूक्तामृतमहोदधि।
ओकार इव वर्णाना कवीना प्रथमो मुनि।। (रामायणमञ्जरी)

है। रस अपनी चर्वणा से अतिरिकत काल मे नही रहता।[१] इस चर्वणा मे मन पूर्व की लौकिकादि समाओ को अतिक्रान्त कर जाता है। वह विगलित वेद्यान्तर हो जाता है। अर्थात् रस से अतिरिक्त ज्ञेयो से दूर हो जाता है। उसका सम्पर्क बाह्य जगत् से टूट जाता है और पूर्णरूप से अन्तर्जगत् मे समाहित होकर ब्रह्मानन्दसहोदर रस का साक्षात्कार करता है। वह संविद्विश्रांति मे अपनी विराट अहन्ता मे स्थित हो जाता है। इन्ही परिस्थितियो का उदात्ततर रूप सर्जक की रचना मे अवतरित होता है। जिस समय सर्जक रचनाकार की स्थिति मे बैठता है उसके लिए काल और क्रिया सब कुछ अनजाने रहते है, और अन्तर्मन की अज्ञात शक्तियो से संगठित अज्ञात वस्तुतत्त्व अज्ञात काल मे अभिव्यक्त हो जाता है।[२] जिस प्रकार बीज ही वृक्ष के रूप मे विकसित होता है उसी प्रकार कवि की अनुभूति ही काव्य-रूप ग्रहण करती है।

कविगत रस ही काव्य के रूप मे पर्यवसित होता है कवि काव्य मे अपनी जिस अनुभूति को शब्दो के द्वारा मूर्तता प्रदान करता है वह उसके लौकिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध नही होती, प्रत्युत उसके अलौकिक काव्यात्मक व्यक्तित्व की अमूल्यनिधि होती है। निषाद द्वारा शरविद्ध-क्रौञ्च को देखकर क्रौञ्च रूप आलम्वन, तथा शोकाकुल क्रौञ्ची के आक्रन्दन रूप अनुभावो से वाल्मीकि का संवेदनशील हृदय सहज सहानुभूतिवशात् क्रौञ्ची के साथ क्रमशः हृदय-संवाद और तन्मयीभवन का अनुभव करता हुआ लौकिक शोक से भिन्न करूणरस मे परिणत अपनी ही शोकानुभूति मे डूब गया। वाल्मीकि द्वारा अनुभूत यह शोक न तो लौकिक था और न ही व्यक्तिगत, परन्तु उसके

---

१ गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादि जीवितावधिः।
-मम्मटः काव्यप्रकाश १/२८ वृत्ति

२ बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरित्ति। अभिनव भारती पृ० ५१५

आक्रन्दनादि अनुभावो की वर्चणा से वाल्मीकि के हृदय मे उद्बुद्ध शोक एक अलौकिक व साधारणीकृत अनुभव बन गया। और तब जिस प्रकार जल से भरा घड़ा छलकने लगता है अथवा तीव्र संवेदना की स्थिति मे मनुष्य की चिद्वृत्ति स्वतः स्फुरित होने लगती है, उसी प्रकार वाल्मीकि की वह तीव्र शोकानुभूति भी श्लोक के रूप मे छलक पड़ी।[१] इसे ही **'शोकः श्लोकत्वमागतः'** कहा गया।[२] जिसे संस्कृत के महाकवियो एवं काव्यशास्त्री आचार्यो ने अपनी कृतियो मे काव्योत्पत्ति विषयक लौकिक अवधारणा के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश महाकाव्य' के चौदहवे सर्ग मे इस घटना का स्मरण किया है?[३] अत ऋषि ने जिस शेक को श्लोक के रूप मे अभिव्यक्ति प्रदान की वह उनका व्यक्तिगत शोक नही था। क्योकि यदि उसे ऋषि का व्यक्तिगत शोक मान लिया जाय तो वाल्मीकि को भी क्रौञ्ची के समान शोक से दुःखित मानना पड़ेगा और उस स्थिति मे रस की आनन्दरूपता खण्डित हो जायेगी। इसके साथ यह भी सत्य है कि लौकिक शोक से सन्तप्त व्यक्ति की वैसी दशा नही देखी जाती जैसी वाल्मीकि की हुई, क्योकि यदि ऐसा हो तब तो शोकाकुलप्राणी ही कवि की महनीय उपाधि से विभूषित होने लगेगे, फिर तो जगत् मे कवियो की भीड

---

१ स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवन-क्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्न करूणरसरूपता लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारा प्रतिपन्नो रसपरिपूर्ण कुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनि ष्यन्दन-स्वभाववाग्विलापदिवच्चसमयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैषावेषवशात्समुचित-शब्दच्छन्दोवृततादिनियंत्रित श्लोकरूपतां प्राप्त। - ध्वन्यालोक लोचन, १/५

२ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत।। -ध्वन्यालोक १/५

३ तामभ्यगच्छद् रूदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डज-दर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक।।१४।।

सी लग जायेगी। अतः यही प्रामाणिक रूप से सिद्ध होता है कि क्रौञ्ची का शोक ऋषि के द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि मे चित्त की द्रुति द्वारा उसे करुणरस की स्थिति मे अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति होती है।

क्रौञ्च
क्रौञ्ची
मिथुनक्रिया
व्याधशरवेधन
क्रौञ्च की मृत्यु एवं क्रौञ्ची का
चीत्कार (शोक लौकिक)
वाल्मीकि
शोक (अलौकिक)
हृदय संवाद तन्मयीभवन
करुणरस
काव्याभिव्यक्ति
छन्दोमयीवाणी प्रस्फुटन
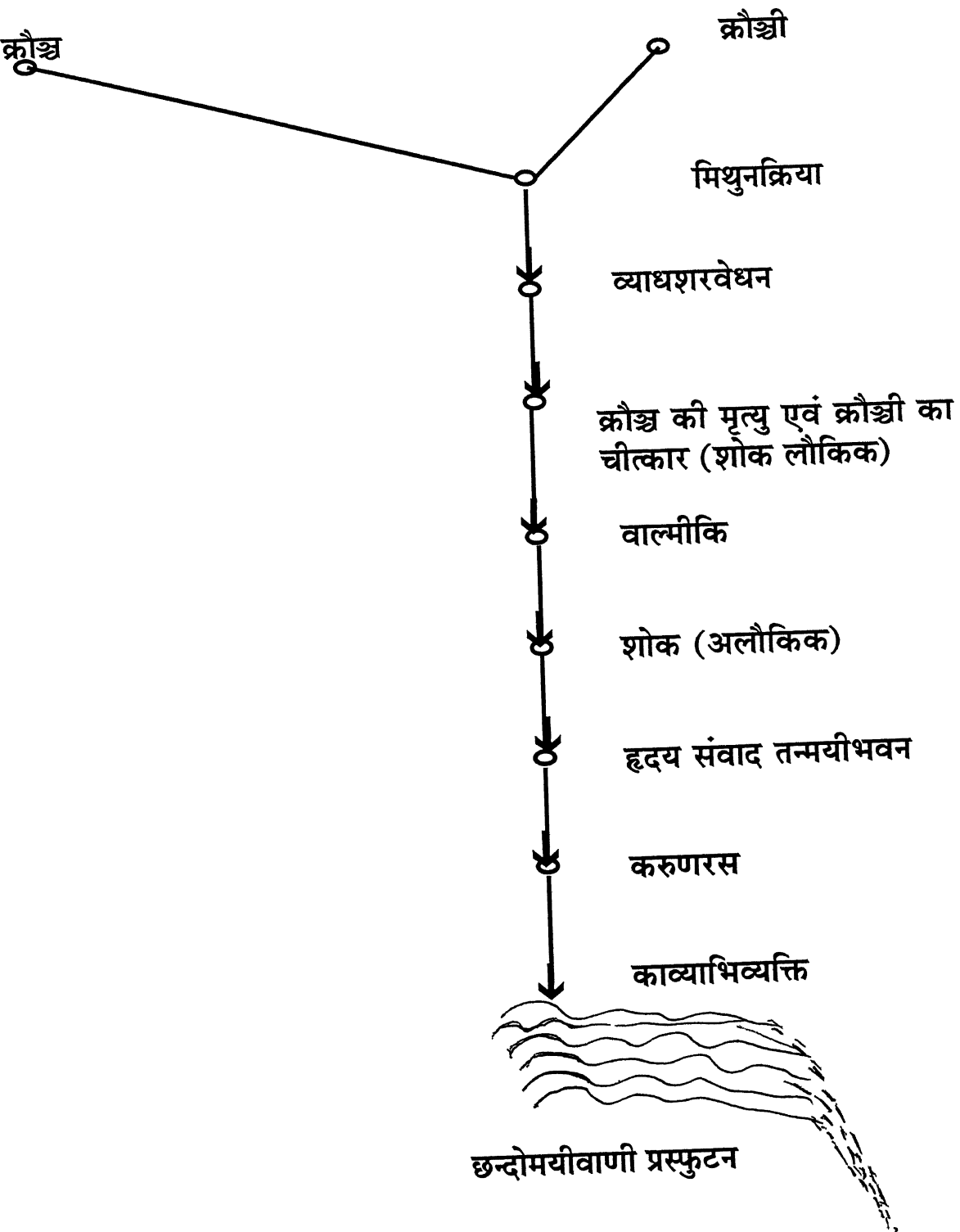
यद्यपि आदिकवि की वाणी का प्रथम वाच्यार्थ शोक नही है वह तो शापपरक ही है, तथापि व्यञ्जना के माध्यम से साधारणीकृत शोक की श्लोक रूप मे अभिव्यक्ति हुई। आचार्य अभिनवगुप्त इसी बात पर बलदेते है कि वाल्मीकि का यह साधारणीकृत शोक आवेश के कारण स्वतः स्फुरणा द्वारा श्लोकबद्ध हुआ न कि किसी प्रयत्न के द्वारा, क्योकि रसो का स्वभाव ही उच्छलन या छलक पड़ना है। अतः कवि का रसावेश या भावावेश ही काव्य-सर्जना के मूल मे स्थित है। आचार्य ने अपने मत के समर्थन मे भट्टनायक के हृदयदर्पण का यह भाव उद्धृत किया है **"यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्"** अर्थात् जब तक कवि-हृदय रस से परिपूर्ण नही हो जाता, तब तक कोई काव्य-सर्जना नही होती। जल से आपूर्ण घट के समान रस से परिपूर्ण हृदय से छलकना ही कवि की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। अतः अभिनव और भट्टनायक दोनो आचार्यो ने काव्य को कवि का भावोद्गार या भावोच्छवास स्वीकार किया है, जिसके मूल मे रसानुभूति का एकछत्र राज्य है। कवि का संवेदनशील हृदय प्राणियो के सुखदुःखादि का साक्षात्कार कर हृदय-संवाद एवं तन्मयीभवन के द्वारा साधारणीकृत संवित (अनुभूति) का अनुभव करता है। यही संवित काव्य का उत्स है।[१] अतः अभिनव के अनुसार काव्य मे अभिव्यक्त अनुभूति निर्वैयक्तिक तथा अलौकिक होती है। यही कारण है कि उसमे सहृदय के चित्त मे भी रसानुभूति जाग्रत करने की सामर्थ्य होती है।

अभिनवगुप्त ने कवि हृदय की सहज भावस्फुर्ति के रूप मे काव्य का निरूपण किया है। ध्वन्यालोक की छठी कारिका मे प्रयुक्त **'निष्यन्दमाना'**[२]

---

१ कविगतसाधरणीभूसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः सैव च संवित् परामार्थतो रसः। सामाजिकश्च तत्प्रीत्यावशीकृत्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादिप्रतीतिरिति।

२ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महता कवीनाम् ।

शब्द की व्याख्या मे उन्होने कहा है **"दिव्यामाननश्रन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवाना इत्यर्थः"** अर्थात् कवि की सरस्वती स्वयं ही कविगत रसरूप दिव्य आनन्द को प्रवाहित करती है। अपने मत के समर्थन मे भट्टनायक को उद्धृत किया है - (सहृदयजनरूप) वत्स मे स्नेह के कारण वाणीरूप धेनु इस रस को प्रस्नुत करती है" जिस प्रकार गाय अपने वात्सल्य के प्रतिरूप मे दुग्धनिष्यन्दन करती है उसी प्रकार सरस्वती भी काव्य निष्यन्दन करती है। क्रौञ्च द्वन्द्वियोग से द्रवीभूत करूणा के छन्दोबद्ध निस्सरण के साथ महाकवि की सरस्वती प्रवाहित हुई और गायत्री के पावनत्व को सुरक्षित रखने के लिए २४ सहस्त्र श्लोको की जो माला गुँथी गयी वह अद्यतन पावनी त्रिपथगा के सदृश जनमानस के पाप-सन्ताप को ध्वस्त कर रही है।

अतः काव्य-सर्जना का मूल हमारा भाव जगत् है, क्योकि रस भाव से हीन हो ही नही सकता। कितना भी रसोन्मेष से विलसित काव्य हो, उसमे भाव का स्पर्श होगा ही। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है "रति प्रभृति भाव द्वारा अवाच्छिन्न या विशिष्ट हुए बिना चित् सत्ता कभी रस रूप मे प्रकाशित नही होती।"[१] कवि जब भाव-विभोर हो उठता है तो उसके भाव काव्य-पंक्तियो के रूप मे मूर्त हो जाते है। मानव का अन्तर्जगत् विविधभावो का धाम है जो अनुकूल परिस्थितियो मे स्वतः उदबुद्ध होकर रसरूप मे पर्यवसित होते हुए तदनुरूप अनुभूति का विषय बनते है। तमसा-तट पर क्रौञ्ची के चीत्कार को सुनकर और क्रौञ्च को देखकर ऋषि के स्थान पर यदि सामान्य जन भी होता तो उसका भी हृदय क्रौञ्ची की शोकाग्नि से द्रवित हो जाता, भले ही उसका उच्छलन अश्रुरूप मे होता। अतः ऐसी कारूणिक अवस्था देखकर निर्विकारचेताऋषि स्वयं को सहज भावाभिव्यक्ति को कैसे रोक पाते?

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ -ध्वन्यालोक १/६

१ रत्याद्यवछिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस"। -रसगंगाधर आनन-१

ऋषि होने के नाते उनमे दर्शना शक्ति तो थी ही जो वर्णना के रूप मे उच्छलित हो गयी और वाल्मीकि को ऋषित्व से कवित्व के महनीय पद पर लाकर अधिष्ठित कर दिया। कवि का हृदयस्थ शोक छन्दोबद्ध रूप मे निःसरित हुआ।

अतः उक्त घटना को लेकर कुछ लोगो की अवधारणा रही है कि काव्य का उद्गम वाल्मीकि की शोकानुभूति रही। काव्योत्पत्ति के मूल मे करूणरस ही मुख्य है। शायद इसी अवधारणा मे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दनपन्त ने प्रथम कवि को वियोगी ही कह डाला।[१] महाकवि 'भवभूति' ने अपने अद्वितीय नाटक 'उत्तररामचरितम् ' मे करूण को ही एक मात्र रस स्वीकार कर शेष को उसका विवर्त बताते हुए उक्त काव्योत्पत्ति-विषयक अवधारणा को और अधिक बल प्रदान किया?[२] परन्तु मेरे विचार मे यह अवधारणा समीचीन नही क्योकि काव्य के मूल मे कवि की भावानुभूति ही मुख्य होती है। जहॉ तक रसविशेष की बात है तो वह संयोग ही कहा जायेगा कि कवि के प्रथम भावोद्गार के क्षणो मे तमसा तट पर क्रौञ्ची के आश्रय से करूणा ही उपस्थित रही, जो प्रथमत काव्यपंक्ति के रूप मे पादबद्ध हुई। यदि करूण को काव्योद्भव का मूल स्वीकार ही कर लिया जाय तो सम्पूर्ण काव्य साहित्य मे करूणा (शोक) का ही एकछत्र राज्य दिखाई देगा, जो व्यक्ति के अन्य भावो की हेयता का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त

---

१ वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर ऑखो से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।

२ एको रसः करूण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम् ।। -उत्तररामचरितम् ३/४७

श्रृंगार, वीर आदि रसो से उन्मीषित काव्य भरे पड़े है जो वीतरागी मे भी आलौकिक संचार करने मे समर्थ है।

गाथा का प्रतीकात्मक अर्थ

क्रौञ्च की गाथा को काव्य के क्षेत्र मे प्रतीकात्मक माना जा सकता है, क्योकि इससे कविता की उत्पत्ति का मूलस्वरूप उभरकर सामने आता है। व्याध, क्रौञ्चयुगल और मुनि वाल्मीकि ये सभी इस विषय के प्रतीक है। व्याध के द्वारा मारे जाने पर क्रौञ्च आहत होता है और क्रौञ्ची करुणक्रन्दन करने लगती है। यह घटना सामान्य रूप और नितान्त निरपेक्ष रूप से लौकिक जीवन मे घटित हो रही है। क्रौञ्च के मारे जाने पर क्रौञ्ची जब विलाप करने लगती है, उसकी चीख को सुनकर एक संवेदनामय हृदयवाले व्यक्ति उभर आते है, और सम्पूर्ण स्थिति के अवलोकनोपरान्त उनके मन मे जो करुणा का ज्वार उठता है, तब उनके द्वारा जो शब्दसंघात फूट पड़ता है वह प्रतीकात्मक रूप से यह सिद्ध करता है कि कविता का जन्म लौकिक भावभूमि पर होता है। पर वाणी का प्रस्फुटन सचमुच लोकातीत है। यहाँ आकर वस्तुतः कविता जन्म लेती है। अतः इस गाथा को विश्वस्तर पर समग्र कविता के सन्दर्भ मे देखा जाय तो यह कविता के उत्पत्ति की भूमि सिद्ध होती है। यह गाथा भले भारतीय पौराणिक परिवेश से निकली है, परन्तु यह समग्र कविता की उत्पत्ति को प्रतीकात्म्क रूप से रेखांकित करती है।

नाट्यवेद विषयक अवधारणा

कवि-मानस से प्रवाहित काव्य-निर्झरिणी के मूल उद्गम मे भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय मे जो पौराणिक आख्यान प्रस्तुत किया है, वह भी अत्यन्त उपादेय है। सहृदय के हृदय मे अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है, जो लोकोत्तर होता है। काव्य मे वर्णित विषयो मे हृदय को आकर्षित करने की जो विचित्रशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह सार्वभौम है, जो किसी भी सहृदय को रसावेशित कर देती है। दृश्य और श्रव्य रूप काव्य के द्विविध भेदो के द्वारा काव्य अपने **'सकलप्रयोजनमौलिभूतम् '** की सिद्धि करता है। नाट्य दृश्य काव्य का एक प्रधान अंग है। सामाजिक अपनी कल्पना के सहारे काव्य मे वर्णित वस्तु-तत्त्व का मानस प्रत्यक्ष करता है। फलस्वरूप उसकी अनुभूति मे तीव्रता, सजीवता तथा मनोहारिता नही आ पाती है, परन्तु नाट्य मे उसका सम्बन्ध वर्णित विषय के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष होता है। समग्र घटनाएँ चित्रपट के समान उसके समक्ष नाना रंगो मे आकर खड़ी हो जाती है। वहॉ कल्पना को दौडाने की आवश्यकता नही होती है। सामाजिक को बिना किसी आयास के 'सद्यःपरनिर्वृति ' होने लगती है। इसीलिए हमारे आचार्यो ने **'काव्येषु नाटकं रम्यम् ''** की डिमडिम उद्घोषणा की है।

नाट्य या रूपक एक ऐसा मनोरञ्जन का साधन है जिसकी रचना **'सर्वजनहिताय'** एवं **'सर्वजनसुखाय'** हुई है। समाज के हितचिन्तन को ध्यान मे रखकर उसकी सृष्टि ब्रह्मा ने की है।[१] भरत के अनुसार नाट्य-काव्य की उत्पत्ति त्रेतायुग मे इन्द्रादि देवो की प्रार्थना पर मनोविनोदार्थ ब्रह्मा ने

---

[१] क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् । - नाट्यशास्त्र १/११
तस्मात् सृजापर वेदं पञ्चम सार्ववर्णिकम् ॥ वही १/१२

ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यरूप पञ्चम वेद की रचना की।[१] ब्रह्मा ने अभिनय संकेत भी भरतमुनि को प्रदान किया। नटराज भगवान् शङ्कर ने ताण्डव और जगदम्बा पार्वती ने लास्यनृत्य से नाट्य को अनुगृहीत किया और भरत भू पर **'इन्द्रध्वज'** महोत्सव पर नाट्य का सर्वप्रथम अभिनय हुआ। चतुर्वेदो से केवल तीन वर्णो का ही हित साधन होता है, परन्तु इस सार्ववर्णिक नाट्यरूप पञ्चमवेद से निर्धन धनी, असवर्ण, सवर्ण सभी का मनोरञ्जन तथा हित होता है। नाट्य से सभी वर्णो के लोग आनन्दानुभव करते है, क्योकि दृश्य होने से वह हृदय अर्थात् रमणीय और श्रव्य होने से वह व्युत्पत्तिप्रद अर्थात् उपदेशजनक भी है। इस प्रकार एकसाथ वह सहृदय के हृदय मे आनन्दानुभूति जगाता है तथा उसे 'कान्तासम्मित उपदेश' भी प्रदान करता है। अतः महाकवि कालिदास ने यदि नाट्य को विभिन्न रुचि वाले प्राणियो के लिए एक सा आनन्द प्रदान करने वाला अद्वितीय समाराधन माना तो उसमे कोई अतिशयोक्ति नही है।[२]

सुख तथा दुःख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता नाना प्रकार की मानसिक विकृतियो की विशाल परम्परा की ही संज्ञा संसार है। जगतीतल पर प्राणियो के मानस भावों मे हम इतनी विविधता पाते है कि जगत् के वैषम्य का परिचय हमे पद-पद पर प्राप्त होता है। नाट्य प्राणिमात्र के इन्ही नानाभावो तथा अवस्थाओ के चित्रण से युक्त एवं लोकवृत्त के अनुकरण से संवलित काव्य की वह विधा है जो श्रमार्त तथा शोकार्त लोगो

---

१ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसा नाथर्वणादपि। - नाट्यशास्त्र१/१७
एवं संकल्प भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ - नाट्यशास्त्र १/१६

२ नाट्यं भिन्नरुचोर्जनस्य वहुधाप्येकं समाराधनम् । मालविकाग्निमित्रम् १/४

के लिए विश्रान्तिजनक, हितकारक तथा उपदेशजनक है।[१] इसके त्रैलोक्यानुकृति कहलाने का यही तात्पर्य है।[२] यह अपने विषय की परिधि में सारे त्रैलोक्य के चर-अचर को समेट लेता है। संसार का कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या,कला, योग और कर्म नही है जो नाट्य मे न हो।[३] यथार्थ होने से यह **'सत्य'** है, हितोपदेशजनक होने से **'शिव'** है, और विश्रांति जनक तथा क्रीडनीयक होने से **'सुन्दर'** है। क्या **'सत्यं शिवं सुन्दरम्** ' का ऐसा मञ्जुलसमन्वय काव्य की किसी अन्य विधा मे सम्भव है?

सहृदय की रसानुभूति काव्य का मुख्य साध्य है, जिसकी सिद्धि के मूल मे स्थायीभाव का विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभावो का संयोग निहित है।[४] नाट्य मे रंगमञ्च पर उपस्थित पात्रो की वेशभूषा उनके आकार, उनकी भावभंगिमा, कथोपकथनादि से एक सजीव हृदयग्राही बिम्ब खड़ा हो जाता है, जिससे सहृदयजन का रसानुभूति का मार्ग निर्बाध ही नही, प्रत्युत सुगम हो जाता है। इसी अभिप्राय को दृष्टि मे रखकर **'नाटकान्तं कवित्वं'** कहा गया है। कवि नानावस्थाओ को पात्रो के माध्यम से प्रस्तुत कर भावाभिव्यक्ति करता है। श्रव्य काव्य मे कवि अपनी भावानुभूति-शब्द को सौप देता है, परन्तु नाट्य मे वह सजीव प्रतिनधिकर्ता को ही उपस्थित कर देता है जिससे कवि-भावो की तीव्रता से सहृदय शीघ्र ही आकृष्ट होकर तदनुकूल रसानुभूति करता है।

---

१ सर्वोदेशजननं नाट्य लोके भविष्यति।। -नाट्यशास्त्र १/१४

२ त्रैलोकस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् । -वही १/१०७

३ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्प, न सा विद्या, न सा कला।
नासौयोगो न तत्कर्म नाटयेऽस्मिन् यत्र दृश्यते।। वही १/११७

४ 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। -नाट्यशासत्र ६/३१

आद्याचार्य भरत द्वारा वर्णित यह आख्यान इस तथ्य की ओर सङ्केत करता है कि सहृदय काव्यभावको की उत्कृष्ट अभिलाषा के फलस्वरूप काव्यस्रष्टा ब्रह्मा द्वारा श्रवण के लिए मधुर एवं दर्शन के लिए सुन्दर काव्य की उपलब्धि हुई। वेद अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ और ज्ञानसामग्री के कारण समस्त विद्याओ और उपविद्याओ के रत्नकोष है। यदि उन्ही के द्वारा रमणीय नाट्यरूप काव्य की उत्पत्ति मानी जाये तो सर्वथा समीचीन है। इससे काव्योत्पत्ति की अवधारणा ध्वनित होती है। चतुर्वेदो से नाट्यकाव्य की चार मौलिक विशेषताओ का निर्देशक होने के साथ-साथ यह आख्यान काव्योद्भव मे काव्य की कथावस्तु और उसकी संयोजन विधि का भी सामान्य संकेत करता है, जिसमे काव्य का अनुभूतिपक्ष और अभिव्यक्तिपक्ष व्यञ्जित है। काव्य और संगीत का मधुर सम्बन्ध तो अनादिकाल से चला आ रहा है, जिनके संवेदन एवं पूर्ण समन्वय से स्वतः निष्पन्न होने वाली रसमयीधारा काव्य का चरम लक्ष्य है। किसी भी श्रेष्ठ काव्य की संघटना के लिए उसका वस्तुविन्यास, रचना-कौशल, गीति-संयोजन आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिनकी सफल संहिति मे ही काव्य की सार्थकता अर्न्तनिहित है। काव्यानुशीलन एवं काव्यप्रयोग के सुयोग्य अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते है जिनमे काव्योचित कुशलता, विदग्धता, प्रगल्भता और जितश्रमता के गुण विद्यमान हो। देवताओ मे इन गुणो का अभाव बतलाकर भरमुनि तथा उनके पुत्रो मे नाट्यवेद प्रायोग की जो क्षमता निर्दिष्ट की गयी है, वह काव्यमात्र के उद्भावक व्यक्तियो की ऐसी प्राथमिक विशेषताएं है जिनसे वे काव्यास्वाद और रसग्रहण की मधुरतम प्रक्रिया मे सफल होते है। भारती आरभती और सात्त्वती वृत्तियो से युक्त नाट्य प्रयोग की विशेष सफलता हेतु जिस कैशिकीवृत्ति के उपयोग की बात कही गयी है उससे यह ध्वनित है कि काव्य या नाट्य मे जब तक कैशिकी का प्रयोग न किया जाय तब तक उसकी रचनाक्रिया मे

लालित्य एवं सौन्दर्य का संचार हो ही नही सकता। कौशिकी के प्रयोग से ही समस्त रसो की अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य या वैचित्र्य का संचार होता है।

भरतमुनि द्वारा **'इन्द्रध्वज'** नामक उत्सव पर किये गये नाट्य प्रयोग मे दानवो पर देवो की विजय **'सत्यमेव जयते'** की ही संसिद्धि है, जो काव्य के 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' की सफल सिद्धि है। उन्होने विरुपाक्ष द्वारा वह ब्रह्मा जी पर लगाये गये पक्षतापूर्ण लाञ्छन द्वारा यह तथ्य ध्वनित किया है कि काव्य-सर्जना मे किसी के शुभाशुभ की ऐकान्तिक प्रवृत्ति नही होती, किन्तु आसुरी वृत्तियो वाले व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल उसमे छिद्रान्वेषण का आधार खोज ही लेते है। दैत्यो के कालुष्यपूर्ण आशङ्का के निवारण हेतु ब्रह्मा जी ने नाट्यकाव्य की जो विशेषताएं उद्घाटित की हैं, वह काव्य-स्रष्टा के सत्त्वोद्रेकपूर्ण अभिव्यक्ति के समर्थन की ही परिचायक हैं। अभिप्राय यह है कि कवि द्वारा काव्य का आविर्भाव तभी होता है जब उसके रजस् और तमस् अभिभूत हो जाते है एवं सत्त्व का उद्रेक होता है। समाधि और एकाग्रचित्त की उस दशा मे पहुँचकर ही वाणी शब्दो मे स्फुरित होती है, जहाँ अन्य व्यापार शान्त हो जाते है। लोक-स्वभाव का अनुकरण करने के लिए नाट्य मे सत्त्व की अपेक्षा होती है। नाट्यधर्म मे प्रवृत्त सुख और दुःख के भावो का उपस्थापन जब उसके अनुकूल सात्त्विक भावो द्वारा किया जाता है तभी उनसे उनकी यथार्थ प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ दुःख रोदनात्मक भाव है जिसको अभिनीत करने के लिए अदुखी प्रयोक्ता मे सत्त्व का उद्रेक आवश्यक है, क्योकि सत्त्व अथवा मन की एकाग्रता के कारण ही वह अपने अभिनय को सफल बना सकता है।

अतः जिस प्रकार लोक स्वभाव का अभिनय नाट्य है, उसी प्रकार लोकावस्थाकी कुशल अभिव्यक्ति काव्य है। लोक धर्म की वास्तविकता यदि काव्य को ठोस भूमिका प्रदान करती है तो नाट्य धर्म की चारुता उसे

चित्तचमत्कृति के उपकरण जुटा देती है। कवि अथवा नाट्यप्रयोक्ता अपनी कृति को सशक्त एवं सजीव बनाने के लिए यथोचित परिवर्तन कर सकते है। आचार्य अभिनवगुप्त ने दोनो की सापेक्षिक महत्ता का निरूपण करते हुए उचित की कहा है कि 'कविगत अथवा नटगत वागङ्गालंकार रूप नाट्यधर्मिता किसी भी कलाकृति की प्राणचेतना कही जा सकती है।

भारतीय चिन्तन सर्वदा आस्तिक रहा है इससे इसके प्रत्येक सात्विक क्रिया के मूल मे अलौकिक सत्ता का अस्तित्व अवश्य है भले वह प्रच्छन्न ही क्यो न हो। काव्य मानव की विशुद्ध सात्त्विक क्रिया की चरम परिणति है। अत: नाट्योत्पत्ति का पौराणिक आख्यान काव्योद्भव की दैवी स्फुरणा को ही सम्बल प्रदान करता है। सत्त्वोद्रेक की स्थिति मे ही कवि के भाव छन्दोबद्ध होते है। जो काव्य अथवा नाट्य के कलेवर मे लोकानुरञ्जन करते है।

काव्य-पुरुष की अवधारणा

यायावरीय राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा के प्रारम्भ मे काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति का निरूपण किया है, जिसके आलोक मे लौकिक धरा पर काव्य का आविर्भाव प्रतिबिम्बित होता है। भारतीयो की आस्तिक भावना ने अन्य विद्याओ की भॉति काव्यविद्या का भी सम्बन्ध दिव्य चरित्रो के साथ संयोजित कर दिया है। राजशेखर द्वारा काव्य-पुरुषोत्पत्ति का आख्यान विशुद्ध आस्तिकता की पृष्ठभूमि मे आविर्भूत होता है। भगवान् महादेव ने काव्यविद्या का प्रथम उपदेश परमेष्ठी तथा वैकुण्ठ आदि अपने चौसठ शिष्यो को दिया। उस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान् स्वयंभू द्वारा उनके वाञ्छित शिष्यो को प्रदान किया गया "जिसमे देववन्द्य सरस्वती पुत्र काव्य-पुरुष भी एक था। काव्य-पुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि जानकर ब्रह्मा ने उसे यह आज्ञा दी कि वह सर्वहित की कामना से भू, भुव और स्वर्गवासी प्रज्ञा मे काव्यविद्या के प्रवर्तन का शुभारम्भ करे।[१] उस काव्यपुरुष ने १८ अधिकरणो वाली इस काव्यविद्या का उपदेश विस्तार के साथ विद्या स्नातको को किया।

इस काव्य-पुरुष के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए आचार्य का कहना है कि "प्राचीनकाल मे सरस्वती ने पुत्र की इच्छा से हिमालय पर तपस्या की। प्रसन्नमना ब्रह्मा ने पुत्ररूप मे काव्यपुरुष को उत्पन्न किया, उत्पन्न होते ही

---

१ तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्य॰ काव्यपुरुष आसीत् । तं च सर्वसमयविद दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुव॰ स्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हिमकाम्यया प्रजापति काव्यविधाप्रवर्तनायै प्रायुङ्क्त। (काव्यमीमांसा अध्याय १ पृ० १)
पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुशारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा ता चिरिन्च प्रोवाच- पुत्रं ते सृजामि। -काव्यमीमांसा, अध्याय-३

काव्यपुरुष ने सरस्वती की चरणवन्दना कर छन्दोमयी भाषा मे कहा - "हे मात ! यह सम्पूर्ण वाड्मय जगत् जिसके द्वारा अर्थरूप मे परिणत हो जाता है वही मै काव्यपुरुष तेरे चरणो की वन्दना करता हूँ[१]" केवल वेद मे दृष्ट इस प्रकार की वाणी को देख सरस्वती अत्यन्त प्रसन्न हुई और काव्य-पुरुष वालक को गोद मे उठाकर कहा "सम्पूर्ण वाड्मय की माता मुझे तू ने छन्दोमयी वाणी की रचना कर परास्त कर दिया। तुमसे पूर्व के विद्वानो ने गद्यमयी वाणी को देखा था पद्यमयी वाणी को नही। तूने किसी आश्रय सर्वप्रथम छन्दोमयी वाणी की रचना की है। अतः तुम प्रशंसनीय हो- "शब्द अर्थ तेरे शरीर है, संस्कृत तेरा मुख है, प्राकृत भुजा है, अपभ्रश भाषा जघन प्रदेश है, पैशाची भाषा दोनो पैर है, रस तेरी आत्मा, छन्द तेरे रोम हैं, अनुप्रास उपमादि अलंकार तुझे सुशोभित करते है, भावी अर्थो की अभिधात्री श्रुति भी उसकी स्तुति करती है।[२] राजशेखर ने इस प्रसंग मे काव्यसंस्तव के प्रमाण मे जो वेदमन्त्र[३] उद्धृत किया है वह अत्यन्त रहस्यमय है, क्योकि उसके द्वारा काव्य का स्वरूप भगवान् शङ्कर से उपमित किया गया है। इसे

---

१ यदेतद्वाड्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।। -काव्यमीमांसा, अध्याय-३

२ "वत्स सच्छन्दस्काया गिर प्रणेत ! वाड्मय मातरमपि मातर विजयसे। प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म इति। त्वत्त पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्। त्वदुयज्ञधातः छन्दस्वद्वय प्रवतूर्स्यति। काव्यमीमासा, अध्याय ३

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुख, प्राकृतं बाहु., जघनमभ्रंश, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्। उक्ति चण ते वचो रस आत्मा रोमाणि छन्दासि . अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।। -काव्यमीमांसा, अध्याय-३

३ चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य प्राप्त द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोवतीति महो देवो मर्त्यानाविवेश।। -ऋग्वेद ४/५८/३

आचार्य सायण[1] ने यज्ञपक्ष मे और पतञ्जलि ने व्याकरणपक्ष मे विवचित किया है भरतनाट्यशास्त्र मे भी इसका साम्य प्राप्त होता है।[2]

इस काव्य-पुरुष ने उशना मुनि के लिए छन्दोमयी वाणी का प्रयोग किया। अकस्मात् दूसरो को विस्मित करते हुए उशना मुनि बोल पडे - "सूक्तियो की कामधेनु सरस्वती देवी मेरे हृदय मे निवास करे जो कवि रूपी दूध दुहने वालो कें द्वारा नित्य दुही जाने पर भी न दुही हुई गाय के समान है। अर्थात् जो कभी परिक्षीण नी होती।" तभी से अध्येताओ का नाम 'सुमेधस्' तथा 'उशना' को कवि की संज्ञा प्राप्त हुई। इसी से अन्य कविता करने वाले भी कवि कहलाने लगे। कवि शब्द 'कवृ वर्णे' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ कवि-कर्म अर्थात् काव्य-रचना है। काव्य के साथ एकरूप होने से ही सरस्वती पुत्र सारस्वतेय भी लक्षणा से काव्य-पुरुष कहे जाते है।"[3]

राजशेखर द्वारा काव्य-पुरुष के अंग-प्रत्यंग और आत्मतत्त्व का जो कल्पनात्मक निरूपण किया गया है, उसमे काव्योद्भव की अवधारणा के साथ-साथ काव्य के मूल मे छिपे हुए विभिन्न रहस्यो का उद्घाटन होता है। प्रजापति ब्रह्मा के वरदान से देवी सरस्वती को काव्य-पुरुष को पुत्ररूप मे प्राप्ति का आख्यान काव्य की दिव्यता और अलौकिकता का प्रतीक है। कवि-हृदय मे शाश्वत प्रवाहमान भावो की लयात्मकता को मूर्तरूप मे प्रस्तुत करते

---

[1] निरूक्त १३/१८

[2] यो दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धिभिरवन्हम् ।
हृदिः न सन्निधत्तां सा सूक्ति धेनुः सरस्वती।। -काव्यमीमांसा, अध्याय-३

[3] ततः प्रभृति तमुशनस सत कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च, कवय कवय इति लोकयात्रा। कवि शब्दश्च 'कवृवर्णने इत्यस्यधातोः काव्यकर्मणो रूपम्। काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुज्यते।। काव्यमीमांसा अध्याय-३

समय कवि भी दिव्य-पुरुष ही होता है। वह रचना की स्थिति मे अलौकिक भावभूमि पर अधिष्ठित होता है। बाह्यजगत से उसका सम्पर्क टूट जाता है। अन्तर्गत् मे अस्पष्ट गुंजार कर रहे भावो मे आकण्ठ डूबकर उनको अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जन्म लेते ही काव्य-पुरुष द्वारा छन्दोबद्ध भाषा मे मातृ-चरण वन्दना काव्य और छन्द की एकात्मकता का सूचक है। काव्य-पुरुष का यह कथन कि विश्ववाङ्मय उसके द्वारा अर्थरूप मे परिणत हो जाता है, निश्चय ही काव्य-पुरुष के व्यक्तित्व का निर्देशक है। इस आख्यान द्वारा आचार्य राजशेखर ने लौकिक काव्य की उत्पत्ति की ओर सङ्केत किया है, क्योकि वेदो मे तो छन्दोबद्ध वाणी का प्रयोग अपौरूषेय रूप मे हुआ है जो **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'** के आलोक मे पूर्णरूप से दृष्टिगोचर हो रहा है किन्तु लौकिक जगत् मे काव्य की उत्पत्ति विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य रखती है। यह आख्यान इस तथ्य को उजागर करता है कि गद्य-रचना की परम्परा पद्य-रचना की परम्परा से प्राचीन थी।

काव्य-पुरुष की उत्पत्ति अलौकिक भले ही हो, किन्तु उसका अधिवास तो भूलोक मे ही रहा। अपनी दिव्य- गुण सम्पन्न वधू को भी वह लौकिक रति के माध्यम से प्राप्त करता है। जब तक काव्य मे प्रेम तत्त्व का संयोग न हो तब तक वह सरस और सहृदयजनग्राह्य नही बन सकता। शृङ्गार की अनुभूति काव्य को सम्पूर्णता से मण्डित करती है, जिससे वह रसिक जनों के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। जीवन-सहचरी की रति का सुलाभ जिसे उपलब्ध नही हुआ वह भला प्रेम के रहस्य की अनुभूति कैसे कर सकता है? काव्यपुरुष के विरक्त और विपन्न मन को सम्पन्न बनाने के प्रयोजन से ही पार्वती द्वारा साहित्य-विद्या-वधू की सृष्टि की गयी।[१] राजशेखर ने काव्य-पुरुष

---

[१] प्राय प्राणभृतो प्रेमाणमन्तरेण नान्यद्बन्धनमस्ति, तदेतस्य वशीकरण कामपि स्त्रिय सृजामिति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशच्चैनामेष ते रुषा रुषापतिः पुरः प्रतिष्ठते तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्तय च। काव्यमीमांसा, अध्याय-३

की जीवन-यात्रा मे यह आख्यान जोडकर उसे पूर्णरूप से लौकिकता से मण्डित करने का प्रयास किया है। साथ-साथ **'नानानारी निष्फला लोकयात्रा'** के शाश्वत आर्यचिन्तन के उद्देश्य की भी पूर्ति की है।

भारतीय चिन्तन मे नारी शक्ति एव सर्जना का प्रतीक है। शक्ति ही काव्य-सर्जना का मूल कारण है, जिसके अभाव मे काव्य की उत्पत्ति ही असंभव है। यह अवधारणा समस्त काव्य-चिन्तक आचार्यो ने समवेत स्वर मे स्वीकार की है। काव्योत्पत्ति का रहस्य कवि की शक्ति मे ही निहित होता है, जिसके आश्रय से वह नवीन शब्दार्थ की मनोहारिणी समन्विति प्रस्तुत करने मे समर्थ होता है। अत सर्जना और शक्ति को पर्याय रूप मे स्वीकार किया जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। लौकिक जगत् मे काव्य-पुरुष की सार्थकता की सिद्धि हेतु साहित्य विद्या-वधू की रचना अनिवार्य थी, क्योकि जब तक शक्ति का आश्रय न प्राप्त हो तब तक सर्जना प्रस्फुटित ही नही होती। दूसरे अपनी माँ सरस्वती के ब्रह्मलोक प्रस्थान करने पर स्वयं भी उनका अनुगामी बनाने को उद्यत काव्यपुरुष को साहित्यविद्या वधू के द्वारा ही रोका जा सकता था। काव्य-पुरुष के आराधक प्रेम साधना का आश्रय लेकर ही वशीभूत कर सकते है। रस काव्य का प्राण तत्त्व होता है। उसमे शृङ्गार का समावेश हो जाने पर वह अत्यधिक सहृदय आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। रति का बन्धन अन्य समस्त बन्धनो से विचित्र और असाधारण होता है। काव्यपुरुष और साहित्य विद्या के संगम मे ही सरस्वती की सफल सर्जना संभव होती है काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति मे जीवन का श्रेय और मर्त्यलोक के अधिवास मे जीवन का प्रेय सन्निहित है।

काव्यपुरुषोत्पत्ति की कथा में काव्य के प्रेरकतत्त्व

काव्यमीमांसाकार द्वारा काव्योत्पत्ति के आख्यान मे काव्य-सर्जना की प्रेरणा की अवधारणा प्रतिबिम्बित होती है एवं काव्य के तात्त्विक स्वरुप तथा तत्कालीन काव्य विधान का बोध होता है। काव्य-पुरुष की प्रेरणा से महामुनि उशनस् द्वारा छन्दोबद्ध वाणी की प्रयोग-क्रिया के उल्लेख से यह ध्वनित होता है कि काव्य की उत्पत्ति दिव्य है। साथ ही कवियो के मानस मे काव्य-सर्जना की प्रेरणा भी प्रकृतिजन्य होती है, जो आभ्यन्तरिक प्रकृति के साथ-साथ बाह्य-जगत् से भी अत्यधिक प्रभावित होती है। सरस्वती को सूक्तिधेनु से उपमित कर उसकी जो विशेषताएँ निर्दिष्ट की गयी है वह वस्तुत वाग्देवता की मूल आत्म चेतना है, जो स्वत अलौकिक जगत् से लौकिक जगत् मे किसी निमित्त से अवतरित होती है। भारतीय-वाड्मय की शाश्वत परम्परा मे कही गोपालनन्दन (ब्रह्म) को दोग्धा बनाकर तत्त्वज्ञान का निष्यन्दन व्याख्यात है, तो कही कालिदास ने 'कुमारसंभवम् ' के प्रथम सर्ग के अन्तर्गत हिमालय वर्णन मे धरित्री की दोहन-क्रिया का रूपक बॉधा है। इसी परम्परा की शृंखला मे कवियो को गेपाल मानकर उनके द्वारा सूक्तिधेनु सरस्वती का दोहन करना कोई नवीन या विचित्र कल्पना कैसे कही जा सकती है? कविगण चाहे कितना ही दुग्ध निष्पन्दित करे किन्तु कामधेनु सरस्वती तो अदुग्धा सी ही प्रतीत होती है।

राजशेखर ने छन्दोबद्ध वाणी को कविकर्म का प्रमुख तत्त्व कहकर उशनस् का पर्याय शब्द 'कवि' निर्दिष्ट किया है, जो काव्य-सर्जना के लिए छन्दोविधान की अनिवार्यता की तरफ संकेत करता है। राजशेखर के इस आख्यान मे महर्षि उशनस् को तो काव्य-सर्जना की दिव्य-प्रेरणा स्वत प्राप्त हुई थी, परन्तु महर्षि वाल्मीकि को सरस्वती ने साक्षात् वरदान दिया था,

क्योकि उन्होने सरस्वती को काव्य पुरुष का पता बतलाया था।[1] सरस्वती के उस वरदान की क्रियात्मक परिणति क्रौञ्चवध की घटना के रूप होती है। महाकवि का आदि श्लोक अनेक दृष्टियो से रहस्यमय है। उसका प्रथम दर्शन करने से कोई भी व्यक्ति कवि की उपाधि से अलंकृत हो सकता है। उसी श्लोक ने महर्षि को ब्रह्म के साकार रूप एवं चरित की रचना के लिए प्रेरित किया तथा उसका सर्वप्रथम अध्ययनकर कृष्णद्वैपायन व्यास ने शतसाहस्री संहिता महाभारत का निर्माण किया। यह श्लोक इस बात का साक्ष्य बन गया कि काव्य-सर्जना मे वेदना की तीव्रता, आत्मप्रसार, उदात्तकामवासना और आत्माभिव्यक्ति आदि तत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान ही रहा करते हैं। साहित्यवधू द्वारा काव्य-पुरुष के प्रसादन मे काव्य का मूलतत्त्व 'आकर्षण भी ध्वनित होता है जब तक काव्य मे आकर्षण का तत्त्व विद्यमान न हो तब तक वह सहृदयजनो के मानसभोग का विषय नही बनता। कवि संसार की वस्तुओ के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, उसमे रमता हैं और अपनी प्रतिभा के बल पर उन्ही भावो का काव्य मे इस सुन्दर ढंग से वर्णन करता है जो श्रोता तथा सहृदय को बलात् अपनी ओर खीच लेते है। काव्य मे वर्णित होने पर विषयो मे हृदय को आकर्षित करने की जो विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह सार्वभौम होती है, जो किसी सहृदय को अछूता नही छोड़ती। यद्यपि काव्य का प्रतिपाद्य विषय एक हो सकता है तथापि उसका आकर्षण पदगुम्फन ही रसिको को अपनी तरफ उन्मुख करता है। जिस प्रकार साहित्य-

---

१ प्रसङ्गागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृषा सप्रश्रयं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यैं भृगुसूतेर्राश्रमपदमर्शयत् ।..
ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदनधीयानो य प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वत कवि सन्पत्स्यत इति। स तु महामुनि प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहासं समुदृभत् । काव्यमीमांसा, अध्याय-३

विद्या-वधू ने अपने रूपलावण्य के विलास मे काव्य-पुरुष को आकर्षित कर लिया।[१]

काव्य-पुरुष की याना और विद्या-वधू के साथ काव्य-विद्या-स्नातक मुनिजनो का अनुगमन काव्य की विविध वृत्तियो का संकेत है। उस काव्य पुरुष को अनुरक्त करने के लिए उमा-पुत्री ने जिस वेश को इच्छानुसार धारण किया उस-उस देश की स्त्रियो ने भी उस रूप का अनुकरण किया। इस आख्यान से यही तत्त्व निष्यन्दित होता है कि तत्कालीन भारत के पूर्वी भाग की रचना मे औड्र मागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौडीया रीति का प्रयोग मुख्य था।'' भरत ने भी चतुर्विधा काव्य शैली का निरूपण किया है। कुछ लोगो की राय मे मीमांसाकार ने यह अंश नाट्यशास्त्र के १३ वे अध्याय के अनुकरण पर लिखा है, परन्तु मेरे विचार मे उक्त धारणा सत्य की परिधि से पर्याप्त दूर दिखायी देती है। इसके विषय मे यही कहा जा सकता है कि यह राजशेखर के साहित्यिक मस्तिष्क की काल्पनिक उपज है, जो साहित्य-विद्या-वधू के भिन्न स्थलीय परिधानो के अनुरूप उत्पन्न हुई। अवन्तिदेश मे आवन्ती प्रवृत्ति, सात्त्वती और कौशिकी वृत्ति प्रचलित थी तो दक्षिण देश मे दाक्षिणात्या प्रवृत्ति कैशिकी वृत्ति और वैदर्भीरीति का प्रचार था। काव्य की रीति प्रवृत्ति और संघटना आदि को लेकर काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने भी अपने ग्रन्थो मे स्वाभिमत प्रस्तुत किया है। राजशेखर के अनुसार पूर्वदिशा मे साहित्यवधू काव्यपुरुष को आकर्षित नही कर सकी किन्तु समयान्तराल मे उसके प्रति काव्य-पुरुष के आकर्षण मे वृद्धि यह दर्शाती है कि काव्य की रचना-प्रवृत्ति मे क्रमशः सुधार होता गया और अन्ततोगत्वा वैदर्भी रीति को ही सर्वोत्कृष्टता प्राप्त हुई।

---

१ तत्रामियुञ्जाना तमौमेयी यं वेशं यथेष्टमसेविष्ट स तत्र्याभि· स्त्रीभिरन्वक्रियत् । सा प्रवृतिरौडमागधी।। काव्यमीमासा, अध्याय-३

राजशेखर द्वारा काव्यपुरुषोत्पत्ति का आख्यान जिस आलंकारिक ढग से प्रस्तुत किया गया है उसमे केवल कल्पनाशीलता ही नही है अपितु पुराणो की शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उनके पूर्व भी इस प्रकार के कथानक वायुपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थो मे यत्र-तत्र उपलब्ध होते है, जिनका सुन्दर उपयोग करते हुए उन्होने अपने कथा-कलेवर को व्यापकता प्रदान की है। बाण के 'हर्षचरित' के प्रारम्भ मे भी सरस्वती पुत्र की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, किन्तु राजशेखर ने उसका आस्थापन्न भिन्न दृष्टिकोण से उपयोग किया है। यात्रावृत्तान्त मे कल्पना का समावेश अवश्य है। उसके वर्णन द्वारा भिन्न- भिन्न जनपदो की अभिरूचि, संस्कृति आचार व्यवस्था, वेशभूषा एवं जीवन-दृष्टि का सहज बोध होता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि कवि अपनी सर्जना मे वस्तु तत्त्वो को लोक जीवन की बहुरंगी पद्धति से खीचता है। पुन॰ उसमे अपनी प्रतिभा से एक नवीन आह्लादकारी आकर्षण भर देता है जो सहृदयो के आस्वादनपरता का केन्द्र बन जाता है। काव्यपुरुष और विद्या-वधू के परिणय वर्णन से यही प्रेरणा प्राप्त होती है कि जब तक शिव के साथ शिवा (शक्ति) का अद्वयभाव नही होगा तब तक नवसृष्टि सभव ही नही है। इस प्रकार काव्य-पुरुष का अभिप्राय कवि-कल्पना-प्रसूत रचनात्मक साहित्य से है, और साहित्यविद्या है आचार्य बुद्धि व्याख्यात काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र। इन दोनो के संयोग के बिना साहित्य-सर्जना के संसार का काम पूरा नही होता। काव्य मौलिक कृति है, नवीन सृष्टि है तो काव्यशास्त्र उस सृष्टि की समीक्षा एवं व्याख्या है। दोनो वर-वधू की तरह एक दूसरे के पूरक है। काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या अपने प्रभावमय शरीर से कवियो के हृदय मे निवास करते है, तथा दोनो के लिए कविलोकरूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि की गयी जिसमे कविजन काव्यशरीर से मर्त्यलोक मे और दिव्य शरीर से स्वर्गलोक मे प्रलयपर्यन्त निवास करते है।

काव्य-पुरुष का कलेवर शब्द और अर्थ से निर्मित होता है। अत उसके मनोहारी रूप के लिए शब्द और अर्थ के संस्कार की अपेक्षा है। शब्द के ग्राम्य और संस्कृत,रूपो की भॉति अर्थ के भी ग्राम्य और सस्कृत रूप होते है। 'शब्द व्युत्पत्ति' या 'सौशब्द' शब्द संस्कार की द्वितीय सज्ञा है एव अर्थ संस्कार को अर्थव्युत्पत्ति या वक्रोक्ति कहा गया है। सौशब्द व्याकरण शास्त्र का विषय है और अर्थ व्युत्पत्ति अलंकार शास्त्र का। यह अलंकारशास्त्र ही कविप्रयोग-सरणि है। महाभाष्यकार ने **'शिष्टाशब्देषु प्रमाणम् '** कहा है तो भामह ने **'किञ्च काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम् ''** कहकर कवि-प्रयोग-सरणि को प्रतिष्ठित किया है। आचार्यो ने वक्रोक्ति मे काव्यसौन्दर्य को स्थापित करते हुए उसका सम्बन्ध समाधिगुण तथा लक्षणा से भी जोड़ा है। दण्डी के मत मे काव्य मे गौडीवृत्ति का आश्रय वाञ्छनीय होता है, और वह गौडवृत्ति वैदर्भी रीति के प्राणभूत 'समाधिगुण' मे प्रतिष्ठित होकर 'काव्य का सर्वस्व' कही जा सकती है, जिसमे लोक-मर्यादा का अतिक्रमण किये बिना एक वस्तु के धर्म का आरोप अन्यवस्तु पर किया जाता है। शङ्कर का 'अध्यास विचार' भी इसकी पुष्टि करता है जो व्यावहारिक भाषा मे लक्षणा द्वारा प्रवृत्त होता है। यही शब्दो की गौडीवृत्ति तथा वक्रोक्ति का बीज है जिसे राजशेखर ने 'प्रतिभास' की संज्ञा दी है। नैय्यायिक लक्षणा का अन्तर्भाव अनुमान मे करते है तथा प्राचीन वैय्याकरण लक्ष्यार्थ का समावेश वाच्यार्थ मे ही कर लेते है। अत उन्हे लक्षणा की स्वतन्त्र सत्ता की आवश्यकता नही प्रतीत होती है। हमारे साहित्यशास्त्री वस्तुत समन्वयवादी थे। अपनी वाक्यसिद्धि मे विविध शास्त्रो काप्रयोग निःसंकोच भाव से करते थे। उन्होने रस- विवेचना मे एक ओर जहॉ न्याय, मीमांसा, सांख्य और वेदान्त आदि दर्शनो की प्रतिपत्तियो का उल्लेख किया है, वही दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्रता को भी समेटे हुए है। जिसे दृष्टि मे रखकर आचार्य राजशेखर ने साहित्यविद्या को **''सर्व विद्यानां निष्यन्दः''** कहा है। अभिप्राय यह है कि काव्य-पुरुष और

साहित्यविद्या का पुराण शैली मे वर्णित आख्यान इतना तत्त्वपूर्ण है जिसके आधार पर काव्य-पुरुष के शब्दार्थमय शरीर का रहस्य विविध दृष्टियो से व्याख्यात हुआ है, जो कवि-सर्जना के लिए कवियो का प्रेरणास्रोत कहा जा सकता है।

इस प्रकार लौकिक जगत् मे काव्योद्भव की समस्त अवधारणाओ का पर्यवसित निर्मलितार्थ यही है कि काव्य का प्रादुर्भाव दैवी स्फुरणा के द्वारा हुआ। वेद इहलौकिक जगत् की अलौकिक सृष्टि है, जो ज्योतिर्मयतत्त्व के द्वारा प्रादुर्भूत हुई है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की असीम ज्ञानराशिकी अक्षयनिधि वेदो मे मानव की प्रत्येक क्रिया के मूल अङ्कुर समाहित है जो लौकिक जगत् की पृष्ठभूमि पाते ही पुष्पित एवं पल्लवित होकर विशालकाय वृक्ष का रूप धारण करती है। मानव की आलंकारिक भावाभिव्यक्ति की जड़े वैदिक ऋषियो के मन्त्रो मे आबद्ध है। अत॰ मूलत॰ काव्य की स्फुरणा दिव्य रही है जो भिन्न-भिन्न निमित्त से लौकिक धरा पर आविर्भूत हुई। उसने कभी नाट्यवेद की उत्पत्ति का आश्रय ग्रहण किया तो कभी ऋषि की दिव्य चेतना के रूप मे क्रौञ्चवध को माध्यम बनाया। कभी काव्यपुरुष के रूप मे साक्षात् वीणपाणि के द्वारा भेजी गयी।

सर्जना सृष्टि का आदिक्रम है चाहे वह काव्य की सर्जना हो अथवा जगत् की। काव्य-सृष्टि के आदि से ही विद्यमान रहा है, क्यो कि कवि अपनी सृष्टि मे ब्राह्मीसृष्टि का ही समावेश करता है। काव्य-सर्जना की सूक्ष्म वृत्तिया वेदो मे प्राप्त होती है, जिसके आलोक मे उक्त तथ्य प्रतिध्वनित हो रहा है।

❋❋❋

अध्याय-3

कवि-सर्जना के कारकतत्त्व

अध्याय-३

कवि-सर्जना के कारक तत्त्व

काव्य-हेतु

भारतीय चिन्तना के दिव्य आलोक मे जगत् कार्य-कारणात्मक सिद्ध होता है। जिस प्रकार हृदयाकर्षक वैविध्य से व्याप्त विधाता की प्रपञ्चात्मक जागतिक सृष्टि को देखकर उसकी कारणभूता ब्रह्म की अद्वितीया विधायिका शक्ति का परिज्ञान होता है, उसी प्रकार कवि की 'नवरसरूचिरा-निर्मिति' के दर्शन से उसके विधान मे निहित कवि की अलौकिक शक्ति का भान होता है। मानव स्वभाव से ही रचनाधर्मी प्राणी है। वह रचना साहित्य की हो या अन्य कलाओ की, रचनाधर्मिता उसके प्रातिभस्वरूप को उजागर करती है। फलत शक्त शब्दो की चेतना काया और अनश्वर भावनाओ की रससिक्त आत्मा पाकर कविताएँ जब मुखर हो उठती हैं, तो अन्तर्लोक मे खोया कवि न जाने क्यो मुस्करा उठता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयभूः'** के गौरव से वेष्ठित उसका व्यक्तित्व किसी आनन्दरूपिणी शक्ति से प्रेरित हो नवसर्जन कर सन्तोष की सॉस ले रहा है। अभी कुछ क्षण पहले उसके हृदय मे उठने वाली छटपटाहट एवं अनुभूति की तीव्रताओ ने संगीतमयी नपी-तुली कड़ियो का रूप धारण कर लिया है और अब वह चुपचाप बैठा अपनी नवजात मानस-सन्तान को कुतूहल से देख रहा है, परख रहा है। उसे आश्चर्य भी होता है कि उसका यह नवसर्जन उसकी पूर्वकल्पना से भी अधिक प्रभविष्णु है, जो सहृदयो को सतत् रसावेशित कर

उन्हे उस परमानन्द का अनुभव करा रहा है जिसमे निमग्न होकर वे विश्व का सब कुछ भूल ही जाते है।

कवि-सर्जना का प्रसंग आने पर यह प्रश्न सहज रूप मे मानस-पटल पर दोलायमान हो जाता है कि वस्तुतः 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' कवि-कर्म के मूल मे वह रहस्यात्मक तत्त्व क्या है? संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने इसे 'शक्ति ' 'प्रतिभा' 'दृष्टि' 'प्रज्ञा' आदि संज्ञाओ से अभिहित किया है। वस्तुतः यह कविशक्ति क्या है?, और इसका स्वरूप क्या है? इस विषय पर काव्यचिन्तक आचार्यो ने पर्याप्त विचार किया है, एवं काव्य- हेतु अथवा काव्यकारण के रूप मे स्वाभिमत समाधान प्रस्तुत किया है। शक्ति या प्रतिभा, व्युत्पत्ति या निपुणता और अभ्यास को मुख्यरूप से काव्य-हेतु के रूप मे प्रतिपादित किया गया है, परन्तु उक्त हेतुत्रय के विषय मे समस्त आचार्यो के मत एक से नही है उनके मतो की मीमांसा करने पर मूलरूप से तीन सम्प्रदाय उभर कर सामने आते है।

(१) प्रथमतः वह जो तीनों को समवेत रूप मे काव्योद्भव का हेतु मानता है।

(२) द्वितीय-वह जो प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति को ही काव्य के मूल मे निहित बतालाता है।

(३) तृतीय-वह जो केवल प्रतिभा या शक्ति को काव्य-कारण रूप मे स्वीकार कर व्युत्पति और अभ्यास को उसका संस्कारक, आभूषण अथवा परिपोष प्रदान करने वाले तत्त्व के रूप मे मान्यता प्रदान करता है।

प्रथम पक्ष के समर्थको मे **मम्मट**, **दण्डी, रूद्रट**, **भामह**, **वामन** और **मंखक** प्रमुख है। मम्मट ने शक्ति (प्रतिभा) निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास

को समान्वित रूप से काव्योद्भव का कारण बतलाया है[१]। दण्डी ने नैसर्गिक प्रतिभा, श्रुत (व्युत्पति) एवं अभियोग (अभ्यास) को काव्य का कारक कहा है।[२] रूद्रट के मत मे भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों काव्य की उत्पत्ति के मूल मे निहित है।[३]वामन ने लोक (व्युत्पत्ति), विद्या (अभ्यास) और प्रकीर्ण (शक्ति) को काव्य के साधन के रूप मे प्रतिपादित किया है।[४] इसके अतिरिक्त काव्यो से परिचय,काव्यरचना मे उद्यम, काव्योपदेश करने वाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रो का ज्ञान भी काव्याभिव्यक्ति मे कारण मानते है।[५] इस विषय मे वे दण्डी के अनुयायी ही लगते है, परन्तु प्रतिभा को प्रतिभान शब्द से अभिहित कर कवित्व का बीज स्वीकार किया है।

द्वितीय मत की उपस्थापना **राजशेखर** के द्वारा होती है उनके मत मे प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो काव्य निर्माण मे श्रेयस्कर है।[६] इन दोनो के आधार पर उन्होने कवियो के तीन भेद माने है- काव्यकवि, शास्त्रकवि और उभयकवि। वे इन तीनो मे किसी प्रकार का तारतम्य नही मानते, क्योकि अपने-अपने क्षेत्र मे ये सभी श्रेष्ठ है। इस प्रकार राजशेखर ने काव्यसर्जना की दृष्टि से प्रतिभा और व्युत्पत्ति को एक ही कोटि मे रखा है इस सन्दर्भ मे

---

१ इति त्रय समुदिता न तु व्यस्ता: तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतव:। काव्यप्रकाश १/३ वृत्तिभाग

२ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्यसम्पदनम् ।। -काव्यादर्श १/१०३

३ त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास:। -रुद्रट-काव्यालङ्कार १/१४

४ लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गनि। - काव्यालकार सूत्र १/३/१

५ लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षण प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् ।
-काव्यालकार १/३/११

६ प्रतिभाव्युत्पत्तिः मिथ: समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीय:।
-काव्यमीमासा, अध्याय-५

उन्होने अपनी रचना 'काव्यमीमांसा' के पञ्चम-अध्याय मे अन्यान्य आचार्यो को भी उद्धृत किया है। व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ बहुज्ञता है। व्युत्पत्ति के बल पर कवि वाणी की एक दिशा नही होती, वह सब दिशाओ मे अव्याहत गति से फैलती है। अभ्यस्त विषय तथा प्रत्यक्षीकृत विषय मे किस कवि की वाणी प्रवृत्त नही होती है? कवि ने जिस विषय को स्वयं देखा हो उसका वर्णन वह किसी न किसी प्रकार कर ही सकता है, परन्तु यह क्या काव्य है? कविवाणी के लिए कोई प्रतिबन्ध नही होता। कोई आवरण नही होता। वह इस जगत् के प्रत्येक स्थान को, प्रत्येक दिशा को स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है, और यह तभी सम्भव है जब कवि शास्त्रो मे व्युत्पत्ति प्राप्त करता हो। इसीलिए आचार्य मंगल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते है।[१] वह कवि की अशक्ति अर्थात् प्रतिभाहीनता से जन्य दोष को पूर्णतः ढक लेती है। श्रोता उसकी विदग्धता से आकृष्ट होकर शब्दार्थ गुम्फन को भुला देते है,[२] परन्तु इसके विपरीत आचार्य आनन्दवर्धन का मानना है कि कवि की "अव्युत्पत्ति से होने वाले दोष को उसकी शक्ति छिपाती है, पर प्रतिभा-दारिद्रय से यदि कोई दोष हो जाय तो वह तुरन्त भावको को दृष्टिगोचर हो जाता है।[३]"

राजशेखर ने अध्याय ४ मे मंगल को उद्धृत करते हुए एक अन्य स्थान पर यह भी कहा है कि काव्यनिर्माण के लिए 'अभ्यास' ही प्रधान कारण है। निरन्तर अनुशीलन का नाम अभ्यास है। अभ्यास सभी विषयो के लिए आवश्यक है। उसके द्वारा उत्कृष्टम कुशलता प्राप्ति होती है।[४] इसके

---

१ व्युत्पत्तिः श्रेयसी इति मगलः। -काव्यमीमांसा, अध्याय-५

२ कवेः संवियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचित्ताचित्तानां हेया शब्दस्यगुम्फना।। -काव्यमीमांसा, अध्याय-५

३ अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या सव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतो दोषः झटित्येवावभासते।। -ध्वन्यालोक ३/६ वृत्ति श्लोक

४ अभ्यासः इति मंगलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः।

विपरीत 'आचार्य महिमभट्ट' ने 'व्यक्तिविवेक' के एक प्रसंग विशेष मे **'तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः '** कहकर व्युत्पत्ति और शक्ति के अस्तित्व को अंगीकार किया है अभ्यास को नही।

तृतीयमत की उपस्थापना मे प्रायः सभी आचार्यो ने अपना अभिमत दिया है। शक्ति या प्रतिभा को काव्यचिन्तक समवेत स्वर मे काव्य-निर्माण के मूल मे निहित आदिमकारण के रूप मे स्वीकार करते है। इसके सन्दर्भ मे आचार्य **जगन्नाथ** का मत पूर्णतया स्पष्ट है। उनके अनुसार वह शक्ति ही कविगत काव्य का मूल कारण है,[१] जिसके द्वारा कवि काव्य का निर्माण करता है। आचार्य कुन्तक का मानना है कि काव्य मे जो कुछ अपूर्ववस्तु का निर्माण कवि करता है वह सब प्रतिभा नामक महाशक्ति का ही व्यापार है।[२] **'आचार्य भामह'** के मत मे किसी प्रतिभावान् मे ही काव्य की उत्पत्ति हो सकती है।[३] **आचार्य अभिनवगुप्त** ने 'प्रतिभान' को ही काव्य की मूलशक्ति स्वीकार किया है।[४] जैन **आचार्य हेमचन्द्र** के मत मे व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा ही काव्य का हेतु है।[५] **आचार्य वाग्भट** ने भी प्रतिभा को काव्य का कारण स्वीकार करते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसके संस्कारकतत्त्व के रूप मे मान्यता प्रदान की है।[६] अन्यत्र भी कहा है कि

स हि सर्वगामी सर्वत्रनिरतिशय कौशलमाधत्ते। -काव्यमीमांसा, अध्याय-४

१ तस्य कारणं कविगता केवला प्रतिभा। -रसगगाधर, आनन-१

२ यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वप्रतिभोद्भवम् । -वक्रोक्तिजीवित १/२८

३ काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित् प्रतिभावतः। -काव्यालकार १/५

४ शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुनूतनोल्लेखशालित्वम्। -ध्वन्यालोकलोचन १/१

५ व्युत्पत्त्याभ्यास संस्कृता प्रतिभास्यहेतुः।
... प्रतिभैव च कारणम् । -काव्यानुशासन- १/४

६ प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम् ।
व्युत्पत्याभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ।। -अलंकारतिलक, पृ० २

"सत्कवि की बुद्धि मे प्रतिभा सर्वत्र स्फुरित होती है।"[१] अलंकार महोदधिकार **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने नवनवोल्लेख के मूल मे प्रतिभा को ही स्वीकार किया है।[२] **जयदेव** ने प्रतिभा के प्रधान कारणत्व को सूचित करते हुए कहा है श्रुति और अभ्यास के साथ प्रतिभा काव्य मे उसी प्रकार कारण बनती है यथा मिट्टी और जल के बीज।[३] अर्थात् जैसे मिट्टी और जल के संस्कार से बीज लता के रूप मे विकसित हो जाता है उसी प्रकार अभ्यास और व्युत्पत्ति के सयोग से प्रतिभा काव्यरूप मे निष्पन्न होती है। **वामन** ने प्रतिभान को कवित्व का बीज कहा है।[४]

भट्टतौत ने "काव्यकौतुक" मे प्रतिभा की सॉसो से अनुप्राणित वर्णन मे निपुण कवि-कर्म के कारणरूप मे प्रतिभा को ही प्रतिपादित किया है।[५] **नाट्याचार्य भरत** ने रस को काव्य रूपीवृक्ष का मूल माना है। उनके अनुसार "जिस प्रकार वृक्ष के मूल मे बीज स्थित है जिससे क्रमशः वृक्ष, पुष्प तथा फल होते है उसी प्रकार रस मूल है जिस पर भावो की स्थिति अवस्थित है।"

यथाबीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात्पुंष्पं फलं यथा।

तथामूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।। (भरत-नाट्य० ६-३९)

---

१ प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती मत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।। -वाग्भटालङ्कार १/४

२ कारणं प्रतिभास्यैव नवोल्लेखप्रेङ्खितप्रज्ञाविशेषः। -अलंकारमहोदधि- १/६

३ प्रतिभैवश्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्मृदाम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव।। -चन्द्रालोक १/६

४ कवित्वबीज प्रतिभानम् । -काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १/१३/१६

५ प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभामता।
तदनुप्राणनाज्जीवर्द्धणनानिपुणः कविः।। -हेमचन्द्र काव्यानुशासन मे उद्धृत पृ०३

ध्वनि एवं रसवादी आचार्यो ने भी रस को काव्य का मूल माना जो प्रतिभा का विषयीभूत है। **आनन्दवर्धन** कहते है कि "उस स्वादु रसभाव रूप अर्थ तत्त्व को प्रवाहित करती हुई महाकवियो की सरस्वती अलौकिक रूप से परिस्फुरित होती हुई प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है।[१]" अभ्यास और समाधि को शक्ति का जनक मानने वाले आचार्य राजशेखर भी अन्तत यही स्वीकार करते है कि वह ही केवल काव्य का हेतु है।[२] "जिसे प्रतिभा नही उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम पड़ते है और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते है।[३]"

काव्य चिन्तक आचार्यो के काव्य हेतु - विषयक मत वैभिन्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि कुछ अपवादस्वरूप आचार्यो को छोड़कर प्रायः सभी ने 'प्रतिभा' को ही कवित्व का बीज माना है। साथ ही उसके संस्कार के लिए 'व्युतपत्ति' और 'अभ्यास' पर भी बल दिया है। संस्कृत आलंकारिको का एक वर्ग यह यह मानता है कि कवि जन्मजात ही नही होते उनका निर्माण भी किया जा सकता है। भामह, दण्डी, रूद्रट आदि के ग्रन्थ कवियो को काव्य - निर्माणार्थ प्रशिक्षित करने के लिए रचे गये हो, ऐसा लगता है। राजशेखर ने काव्य मीमासा मे कवि के प्रशिक्षण क्रम व चर्या आदि का जो विवरण दिया है उससे प्रतीत होता है कि संस्कृत कवि मात्र प्रतिभा का सम्बल लेकर काव्य-सर्जना मे प्रवृत्त नही होता था। उसे एक लम्बे

---

१ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतांकवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।। -ध्वन्यालोक १/६

२ समाधिरान्तर प्रयत्नो वाह्यर्स्वभ्यास। तावुभावपि शक्तिमुदभासयन्त। सा केवल काव्ये हेतु इति यायावरीय। - काव्यमीमासा, अध्याय-४

३ अप्रतिमस्य पदार्थसार्थ परोक्ष। इव प्रतिभावत पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।।
-काव्यमीमासा अध्याय-४

समय तक निश्चित शिक्षा दीक्षा मे होकर गुजरना पड़ता था। दूसरी ओर रस-ध्वनिवादी आचार्यो की मान्यतानुसार प्रतिभा ही काव्य-निर्माण मे कवि का प्रमुख आधार सिद्ध होती है, तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके उपकारक मात्र है। वस्तुतः काव्य कोराशिल्प या रचना कौशल ही नही है। वह एक अखण्ड सजीव व विकासशील प्रक्रिया है जिसका आरम्भ कवि की सर्जनात्मकता मे निहित है। वह लोक के प्रति एक सम्प्रेषण या आत्मनिवेदन है, क्योकि काव्यानुभूति का मूलाधार भी अन्ततः लोक जीवन ही तो है। अतएव कवि के लिए लोक-व्यवहार का तथा लोक की बौद्धिक व भावासत्तात्मक परम्परा के मूर्तरूप शास्त्रो एवं अन्य कवियो के काव्यो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

दूसरी तरफ काव्य एक कलात्मक अभिव्यञ्जना भी है। अतः उसकी पद्धति व उपकरणो पर अधिकार प्राप्त करने हेतु कवि के लिए अभ्यास की आवश्यकता का भी निषेध नही किया जा सकता। इसलिए दण्डी, मम्मट, आदि ने प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास की संयुक्त काव्य कारणता अंगीकार की है। केवल व्युत्पत्ति व अभ्यास द्वारा श्रेष्ठ काव्य की सर्जना सभव नही है, क्योकि प्रतिभा के अभाव मे ऐसा काव्य केवल निर्जीव शब्दार्थो की संघटना मात्र सिद्ध होता है। वस्तुतः काव्यस्त्रष्टा अपने भावो की अभिव्यक्ति लोक मंगल और आनन्द की भावना से करता है। अतएव उसके भाव प्रतिभाशक्ति के अनुकूल ही अभिव्यक्ति पाते है। सम्पूर्ण समष्टि की प्रतिभा साधारणीकृत अवस्था मे पहुॅच जाती है। भावो के साधारणीकरण की शक्ति ही काव्यशक्ति है। इसे केवल कवि की शक्ति ही नही माना जा सकता। यह जितनी कवि की शक्ति है उतनी ही सहृदय की शक्ति भी है। कवि इसके द्वारा काव्य का निर्माण करता है और भावक उसके आस्वाद का अनुभव।[१] अतः सिद्ध होता

---

१ शक्नोति पुमान् काव्यनिर्माणायास्वादानुभवाय चानयेति शक्ति ।

है कि प्रतिभा के ही धरातल पर कवि की सर्जनात्मक अनुभूति या असाधारण मनोदशा शब्दार्थ की त्वचा मे मूर्त होती है जहॉ बोध और भाव का रसायनीकरण होता है। प्रतिभा या शक्ति कविकर्म का काव्यसृष्टि की मूल कारण है यह निर्विवाद है।

मम्मटाचार्य- काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका उल्लास-१ पृ. २०

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा के स्वरूप और काव्य-सर्जन-प्रक्रिया मे उसका स्थान निरूपण करने से पूर्व 'प्रतिभा' के स्थान पर 'शक्ति' शब्द पर विचार कर लेना अनुचित न होगा। रूद्रट, आनन्दवर्धन, मम्मट अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यो ने सामान्यतया शक्ति का प्रतिभा के पर्यायवाची के रूप मे उपयोग किया है। रूद्रट ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि कवि की काव्य-रचना मे शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो ही कारण है। शक्ति को ही दूसरे लोगो ने प्रतिभा कहा है।[१] मम्मट ने प्रतिभा को व्याख्या शक्ति के रूप मे की है, जो कवित्व का बीजभूत संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्य बन ही नही सकता, यदि कथञ्चित बन भी जाय तो उपहास का पात्र होता है।[२] यद्यपि मम्मट ने प्रतिभा एवं शक्ति मे प्रत्यक्षतः पार्थक्य स्थापित नही किया है, तथापि उनकी व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि वे शक्ति को संस्कारविशेष मानते है और प्रतिभा को काव्य निर्माणोपयोगी शब्दार्थ का स्फुरण। राजशेखर प्रथम आचार्य है जिन्होने शक्ति को प्रतिभा से पृथक् करते हुए उसे व्यापक अर्थ प्रदान किया है। उनके मत मे शक्ति प्रतिभा से भिन्न वस्तु है। वास्तव मे शक्ति कर्तृरूप है और प्रतिभा कर्मरूप। शक्ति वाले मे प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्तिसम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है।[३] इस प्रकार राजशेखर कवि को काव्यशक्ति से शक्त

---

१ त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास
प्रतभेत्यपरैरूदिता सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति। -रुद्रट काव्यालकार १/१४

२ शक्तिः कवित्व बीज रूप: संस्कारविशेष यां बिना काव्यं न प्रसरेत् सृत वा उपहासनीयं स्यात् । -काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति

३ विसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिरभ्यास। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्ति कर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। - काव्यमीमासा अध्याय ४

वैसे प्रतिभा शब्द की व्युत्पत्ति पर भी विचार करे तो हम पायेंगे कि इसमे 'भाव' और 'करण' दोनो रूप समाहित है। प्रतिभा शब्द 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक दीप्त्यर्थक भा धातु से अङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है (प्रति+भा+अङ्) अङ् प्रत्यय भाव एवं करण दोनो अर्थो मे प्रयुक्त होता है इस दृष्टि से **'प्रतिभात्यर्थोऽनया सा प्रतिभेति'** तथा **'प्रतिभानं प्रतिभेति'** ये दो व्युत्पत्तियॉ हुई। प्रथम के अनुसार जिससे पदार्थ का प्रतिमान हो वह प्रतिभा है तथा दूसरे के अनुसार प्रकाश या स्फुरण ही प्रतिभा है। इसप्रकार प्रतिभा करण और भाव दोनो रूप है। यदि हम जन्मान्तरीय सस्कार को कारण रूप मानकर काव्योपयोगी शब्दार्थस्फुरणा को कार्यरूप भी मानते है तो यह तथ्य सिद्ध होता है दोनो एक ही प्रतिभा के दो पहलू है। यदि शक्ति को हम प्रतिभा का कारण मानते है तो वस्तुस्थिति यह है कि यह प्रतिभा का ही दूसरा नाम होगा।

विविध व्युत्पत्तियां एवं अर्थ

प्रतिभातत्त्व की व्याख्या संस्कृत काव्यशास्त्र की एक महती उपलब्धि है। आचार्यो ने प्रतिभा को काव्य की मूल सर्जना-शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। इसके अभाव मे काव्य का प्रवर्तन ही नही होता है, और यदि हठात् किया भी जाता है तो वह उपहास का ही विषय होता है। वैसे तो अलंकार और रीतिवादी आचार्यो ने भी प्रतिभा या शक्ति के काव्यबीजत्व को अंगीकार किया है, किन्तु काव्य के बहिरंग मे अधिक रूचि रखने के कारण वे काव्य की इस मूलशक्ति का उल्लेखमात्र करके ही रह गये। इसके स्वरूप व काव्य-सृष्टि मे इसके योगदान के विषय मे वे प्राय मौन ही रहे है। ध्वनिवादी आचार्यो ने ही सर्वप्रथम प्रतिभा के स्वरूप और काव्य-सृष्टि मे उसके कर्तृत्व की गंभीर व्याख्या की है। आलंकारिक आचार्यो ने प्रतिभा को 'संस्कार विशेष' 'पुण्य कर्मो एवं दैवी कृपा से उद्भूत अन्तःस्फुरणा' के रूप मे प्रतिपादित किया है। भट्टतौत ने इसे 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा', अभिनव गुप्त ने 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा', तथा हेमचन्द्र ने 'नवनवोल्लेखशालिनी बुद्धि' कहा है। दार्शनिक दृष्टि से प्रतिभा ईश्वरीय सर्जन शक्ति का मानवगत प्रतिरूप है। वह कवि की सर्जनाशक्ति तो है ही उसकी तत्त्वदृष्टि, अन्तर्दृष्टि, मानसचित्रो का विधान करने वाली कल्पना, काव्यात्मकअभिव्यञ्जना का कौशल, सौन्दर्यानुभूति, प्रातिभज्ञान तथा वस्तुओ मे अपूर्वता का दर्शन कराने वाली क्षमता आदि का पर्याय भी है।

बहिस्पत्यम् के अनुसार प्रतिभा शब्द की निष्पत्ति प्रतिभा + भावे + अङ् के द्वारा हुई है। इसका अर्थ बुद्धि या व्युत्पन्न बुद्धि होता है। कवि जब अपने काव्य कर्म मे प्रवृत्त होता है, तो उसकी बुद्धि नवीनता का उन्मेष करती है, इस नव-नव रूपो का उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम ही प्रतिभा

है। ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित सजीववर्णना मे निपुण व्यक्ति का नाम हैं कवि।[१] आचार्य अभिनव ने ध्वन्यालोकलोचन मे इसके नूतनोल्लनेखशालित्व को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन मे प्रतिभा को नूतन उल्लेखशालित्व से युक्त प्रज्ञा के रूप मे प्रतिपादित किया है-[२] स्मृति, मति और प्रज्ञा के रूप मे बुद्धि बुद्धिमान कवि मे कार्य करती हैं। अतिक्रान्त विषयो का स्मरण करने वाली **स्मृति** होती है। वर्तमान विषयो का मनन करने वाली **मति** होती है और अनागत या भविष्य का दर्शन करने वाली **प्रज्ञा** होती है। **अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः वर्तमानस्य मन्त्री मतिः अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री।**[३] इसी लिए कवियो को क्रान्तदर्शी कहा गया है, क्योकि उनकी बुद्धि सामान्य धरातल से ऊपर उठकर अतीत वर्तमान और भविष्य सम्यक् पर्यालोचन कर लेती है और अपनी आवश्यकता के अनुसार विषय का चयन कर लेती है। वह विगत अनुभवो को स्मृतिपथ मे ले जाती है, प्रत्यक्ष अनुभूतियो का मनन करती है और अघटित घटनाओ या वस्तुओ की कल्पना करती है इसप्रकार स्मरण, मनन और प्रज्ञान प्रतिभा के ही अंग है। जिसके आधार पर कवि वस्तु जगत् के तत्त्वो मे नवीनता का आविर्भाव कर देता है। अलंकारमहोदधि कार नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस नवीनता के मूल मे कवि की प्रज्ञा को ही निहित माना है।[४] आचार्य अभिनवगुप्त के मत मे यह प्रज्ञा वस्तु मे अपूर्वता का आविर्भाव कर देती है।

---

१ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणा: कवि:।।
तस्य कर्म स्मृत काव्यं --- हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० ३

२ प्रतिभास्य हेतु:। प्रतिभा नवनवोल्लेखेशालिनी प्रज्ञा। -काव्यानुशासन, १/४ वृत्ति

३ - काव्यमीमांसा, अध्याय ४ पृ० २३

४ कारणं प्रतिभास्यैव नवनवोल्लेखप्रेङ्खितप्रज्ञाविशेष:। -अलकारमहोदधि १/६

परन्तु यह अपूर्वता नूतनोल्लेखशालिता है क्या? यह विचारणीय है। अपूर्ववस्तु का निर्माण या नवनवीन सौन्दर्य रूपो की सृष्टि का तात्पर्य- 'अभूत का आविष्कार न होकर विद्यमान पदार्थो मे निहित सौन्दर्य का उद्घाटन ही है।' कवि की प्रज्ञा पदार्थ के स्वरूप में विद्यमान गुणो को ऐसे कौशल के साथ अतिरञ्जित कर प्रस्तुत कर देती है कि पदार्थ का सामान्य स्थूलरूप ही छिप जाता है और एक नवीन हृदयाह्लादक रमणीयरूप उपस्थित हो जाता है। विधाता की सृष्टि मे विद्यमान असंख्य नानारूपमय पदार्थो का जनसाधारण नित्यप्रति अवलोकन तथा व्यवहारादि करते है, किन्तु उनकी दृष्टि पदार्थो के स्थूलरूपो की ओर ही प्राय जाती है। कवि प्रतिभा अनायास ही उसके विशिष्ट रूपो का साक्षात्कार कर लेती है और इन्ही विशिष्ट रूपो को उभार कर ऐसी निपुणता के साथ प्रस्तुत करती है कि पदार्थो का सामान्य जनसाधारण लक्षितरूप आच्छन्न हो जाता है और वे और नवीन सहृदयहृदयहारीरूप धारण कर लेते है।

यह नवनवोन्मेष कवि की कल्पना-शक्ति के बल से उत्थित वह संरचना है जो एक पदार्थ के बारबार वर्णन से हर बार होने वाली नवीन सृष्टि है। एक ही वस्तु का वर्णन विभिन्न कवियो ने विविध कालखण्डो मे किया है। कभी-कभी एक ही कवि एक ही वस्तु को अपनी कल्पना-तूलिका के विभिन्न रंगो मे भरकर प्रस्तुत करता है। यही कवि-कल्पना द्वारा बार बार होने वाली नूतन सर्जना है। एक ही राम के चरित को आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक न जाने कितने ही देशो और भाषाओं के कवियो ने लेखबद्ध किया है परन्तु हरबार अपूर्ववस्तु का निर्माण ही हुआ है। अलग- अलग प्रतिभाओ ने विभिन्न देश, कालो मे उनको वर्णन का विषय बनाकर अपनी - अपनी दृष्टि से नवीन-सृष्टि की है। श्रीमद्भागवत्गीता से लेकर हिन्दी के अष्टछाप के कवि और सूरदास तक ने कृष्ण की हरे बास की छोटी सी वंशी पर अपनी कल्पना के हजारों - हजार रंग उड़ेले है, परन्तु हर रंग हर बार नया है, एवं

अपूर्व है। यदि बार - बार का वर्णन पुराना वासा या पिष्टपेषण मात्र हो तो काई उस रचना के अस्वाद से आनन्दित न होता। वस यही कवि का नवोन्मेष है कि वह हरबार नवीन-कल्पना करता है। हर बार उसके हृदय मे नव-नवीन स्फुरणा जन्म लेती है, और बार बार वह अभिनव सौन्दर्यमयी काव्य-सृष्टि के रूप मे पर्यवसित होती है।

कवि की इस प्रतिभा को अनेक आचार्यो ने **'संस्कारविशेष'** कहा है जो कवित्व का बीजभूत है। यह अनेक जन्मो की वासना है, जो कवि के हृदय मे अवस्थित रहती है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्रतिभा से नूतन काव्य उद्भुत होता है अत: इसके अभाव मे काव्य का प्रवर्तन ही नही होता है। हुआ भी तो वह उपहास का पात्र बनता है।[१] वामन का यह तथ्यकथन प्रतिभा की काव्य मे गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है। आचार्य कुन्तक की सम्मति मे पूर्वजन्म तथा इस जन्म के परिपाक से प्रौढ़ होने वाली कोई कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है।[२] आचार्य दण्डी के मत मे प्रतिभा पूर्व जन्म की वासना के गुणो पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नही मिली है तो वे उसे निरूत्साहित होकर काव्यकला से पराङमुख होने की सलाह नही देते, अपितु आग्रह करते है कि यदि शास्त्र तथा यत्न से कविता की उपासना की जाय तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है।[३] ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कहना है कि जिन सुकवियो की प्रवृत्ति पूर्व जन्म के पुण्य और अभ्यास

---

१ कवित्वबीजं प्रतिभानम् । कवित्वस्य बीज कवित्वबीज, जन्मान्तरागत संस्कारविशेष कश्चित् । यस्माद्विना काव्य न निष्पद्यते निष्पन्न वा हास्याऽऽयतनं स्यात्। - वामन-काव्यालकारसूत्रवृत्ति १/३/६

२ प्राक्तनाद्यतनपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव शक्ति:। - वक्रोक्ति जीवित १/२९

३ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणनुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।। काव्यादर्श १/१०४

के परिपाक के कारण होती है, दूसरो द्वारा रचित अर्थ के ग्रहण मे नि:स्पृह सुकवियो को अपना व्यापार नही करना पड़ता, वह भगवती स्वयं अभिमत अर्थ को आविर्भूत करती है। यही महाकवियो का महाकवित्व है।[१] केशवमिश्र ने **"शक्तिः पुण्यविशेषः स एव प्रतिभेत्युच्यते"** कहकर शक्ति को **'पुण्यविशेष'** माना है। लाचनकार ने भी प्रतिभा को 'अनादिप्राक्तनसंस्कार प्रतिभानमय·' कहा है। भट्टगोपाल के मत मे प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादान रूप संस्कार विशेष है। जिस प्रकार वृक्ष को देखने से बीज की कल्पना की जाती है उसी प्रकार काव्यरूपी कार्य की कारणभूता इस वासना शक्ति का अनुमान होता है।[२] आचार्यअभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक लोचन मे "अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमय·" कहकर प्रतिभा को पूर्वजन्मो के प्ररिपाक से उत्पन्न संस्कार के रूप मे प्रतिपादित किया है। राजशेखर की सम्मति में प्रतिभा के बल पर कवि अप्रत्यक्ष भावो का प्रत्यक्ष के समान वर्णन करता है, परन्तु प्रतिभाहीन के लिए पदार्थ परोक्ष ही रहता है। इस सन्दर्भ मे राजशेखर ने एक बड़े ही ऐतिहासिक तथ्य का परिचय दिया है। वे कहते है कि "मेघाविरूद्ध और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे, परन्तु उनके काव्य मे सांसारिक पदार्थों का वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह प्रतिभा के विलास का ही फल है ' राजशेखर का उक्त तथ्य इन अन्ध कवियो के पूर्वजन्म से अर्जित संस्कारविशेषरूप प्रतिभा की ओर सङ्केत करता

---

१ येषां सुकवीना प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषा परोपरिचितार्थपरिग्रहनि स्पृहाणा स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थभाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्व महाकवीनामित्योम् । -ध्वन्यालोक ४/१७ वृत्ति

२ कवित्वस्य लोकोत्तर वर्णना नैपुण्यलक्षणस्य। बीजमुपादानस्थानीय संस्कारविशेष कार्यकल्पनीयाकाचिद्वासनाशक्ति।

-काव्यालकार सूत्रवृत्ति टीका १/३/६

है उन्होने प्रतिभा के दो भेद माने है - कारयित्री एवं भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है इसके पुन तीन स्वरूप बतलाये है।

१. सहजा- पूर्व जन्म के संस्कारो से प्राप्त।

२. आहार्या - इस जन्म के संस्कार, शास्त्र एवं काव्य के अभ्यास से

३. औपदेशिकी- मत्रं तन्त्र देवता गुरू आदि की आराधना से प्राप्त[१]। यही वह सहजा प्रतिभा है जिससे सम्पन्न होने पर कवि की सरस्वती स्वत निर्बाधरूप से प्रवाहित हो जाती है। इससे युक्त कवि का चित्त पद-विन्यास मे स्थिरता प्राप्त कर लेता है। कौन पद रखे और कौन न रखे इस सन्देह मे वह दोलायित नही होता। वह शब्दपाक मे निष्णात हो जाता है।[२]

यहॉ एक प्रश्न विचारपटल पर उदबुद्ध होता है कि क्या पूर्वजन्म के संस्कार या आनुवंशिक संस्कार या सहज प्राकृतिक संस्कार ही प्रतिभा का रूप लेकर कवि कर्म हेतु उद्बुद्ध होता है? क्या बिना इस तरह के संस्कारो के प्रतिभा को अर्जित नही किया जा सकता। उत्तर मिलता है कि सहजा प्रतिभा के अतिरिक्त भी आहार्या प्रतिभा है, जिसे इस जन्म मे अध्यवसाय या परिश्रम से प्राप्त किया जा सकता है इसी को रूद्रट ने उत्पाद्या कहा है।[३]

---

१ अप्रतिभस्य पदार्थसार्थ परोक्ष इव प्रतिभावत पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेघाविरुद्धकुमारदासादयो जात्यन्धा कवय श्रूयन्ते। सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। इह जन्मसस्कारयोर्निराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। -काव्यमीमांसा, अध्याय-४

२ आवापोद्धरणे तावद्यावद्योलायते मन।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सारस्वती।। -काव्यमीमासा अध्याय-५

३ उत्पाद्या तु कथञ्चित् व्युत्पत्त्याजन्यते परमा- रूद्रट, काव्यालंकार १/१७

अतः प्रतिभा भेद विषयक उक्त मीमांसा के आलोक यह स्पष्ट है कि सहजा प्रतिभा ही नैसर्गिकी, जन्मजाता संस्कारापेक्षिणी है। यही वास्तविक एवं सर्वसम्मत और सापेक्षतया श्रेष्ठ है, और जो प्रतिभा रूद्रट, जगन्नाथ, हेमचन्द्र आदि आचार्यो के अनुसार शास्त्र और काव्य के अभ्यास से प्राप्त होती है वह स्वाभाविकी की अपेक्षा श्रमसाध्य है, अत वह स्वीकार्य नही है। वह द्वितीय भेद स्थानीय है वस्तुत प्रतिभा उत्पाद्या या आहार्या नही हो सकती, क्योकि यदि यह कृत्रिम साधनो या पुनः-पुनः अभ्यास से अर्जित हो सकती है तो प्रश्न यह है कि वे साधन कौन है? व्युत्पत्ति और अभ्यास? यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के हेतु है तो उन्हे काव्य हेतु के रूप मे पुन क्यो प्रतिष्ठित किया गया। इस समस्या के समाधान मे मेरा मिश्रित विचार यह है कि वस्तुतः काव्य कार्य मे प्रतिभा कवि का अन्तःधर्म है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास बाह्यधर्म। अतः प्रतिभा मूलतः सहजा, संस्कारजा अर्थात् स्वाभावकी ही होती है व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सहकारी या सहायक हो सकते है उत्पाद्य नही। इसके पुष्टिकीरण मे एक आचार्य का कहना है कि " प्रतिभा या शक्ति से ही काव्य का आविर्भाव होता है और अभ्यास उसकी वृद्धि करता है और उसके उत्कर्षाधान मे व्युत्पत्ति श्रेष्ठ है।

शक्त्या हि जायते काव्यं वर्धतेभ्यास योगतः।

तस्यचारूत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी।।

इन प्रतिभाओ के धनी कवि क्रमशः सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कहे जाते है। जिसकी सरस्वती जन्मत्तरीय संस्कारो से प्रवृत्त होती है, उस स्वाभाविक बुद्धिमान कवि को उन्होने सारस्वत कहा है। जो स्वतंत्रतापूर्वक काव्यसर्जना करता है। इस जन्म के संस्कार और अभ्यास से जिसकी सरस्वती का उन्मेष होता है। वह आभ्यासिक कवि कहलाता है। वह सीमित रूप से काव्यनिर्माण करता है। मन्दबुद्धि होने पर भी मन्त्रोपदेश,

अनुष्ठान आदि से वाणी का वैष्णव प्रदर्शित करने वाला कवि औपदेशिक कहा जाता है। वह सुन्दर किन्तु सारहीन रचना करता है। राजशेखर के द्वारा दिया गया प्रतिभा के विविधि रूपो का यह विवेचन यह अभिव्यक्त करता है कि अभ्यास एवं समाधि को शक्ति का उद्भावक मानते हुए भी उन्होनें उस सारस्वत कवि को श्रेष्ठ माना है जिसमे जन्मान्तर संस्कारो से काव्य की प्रवृत्ति हो। इस सन्दर्भ मे **काव्यप्रदीपकार** का भी मानना है कि शक्ति कवित्व का बीजभूत देवता-प्रसादादि से उत्पन्न संस्कार विशेष है, जिसे प्रतिभा पद के द्वारा अभिहित किया गया है।

काव्यमीमांसक आचार्यो के अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आचार्यो का एकवर्ग प्रतिभा को कवि की आत्मा मे निहित **संस्कारविशेष** मानता है। अत॰ प्रश्न यह है कि संस्कार है क्या? दृष्टिभेद से यह अनेक प्रकार से व्याख्यात है। संस्कार शब्द मूलत॰ दार्शनिक है भारतीय दार्शनिको ने विशेषतः स्मृतिज्ञान के सन्दर्भ मे इसे परिभाषित किया है। वस्तुत॰ ज्ञान की प्रक्रिया मे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा हम जब किसी वस्तु का साक्षात्कार करते है तो हमारी आत्मा मे एक सूक्ष्म सा भाव उस वस्तु के विषय मे रह जाता है जिसे 'भावना' नामक संस्कार या केवल 'संस्कार' कहते है। कवि के हृदय मे यह संस्कार सादृश्य, चिन्तन या अदृष्ट के कारण जब उद्बुद्ध हो जाता है तो वह पूर्वानुभूत वस्तुओ का नवोन्मेष करता है। यह संस्कार जन्मजात हो सकता है, आनुवंशिक हो सकता है, या इस जन्म के शिक्षा और अभ्यास से भी प्रस्फुटित हो सकता है। **महेश्वर भट्टाचार्य** के मत में यह इन्द्रियातीत, आत्मगुणरूपी पुण्यविशेष है। योगशास्त्र मे **माणिक्यचन्द्र भट्टगोपाल** और **चन्दीदास** आदि ने इसे आत्मा मे स्थित 'वासना' कहा है। भारतीय काव्यचिन्तक आचार्यो ने इसे कवि- हृदय मे स्थायीरूप से स्थित वासना की संज्ञा से अभिहित किया है। जो देवाराधन से उत्पन्न विलक्षण अदृष्ट के रूप मे कवि आत्मा मे रहता है, और उन उन रसो से सम्बद्ध भाव, अनुभाव एवं

व्यभिचारीभावो को प्राप्त कर स्वतः उद्बुद्ध हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कवि प्रज्ञा चिरपरिचित वस्तुओ और व्यापारो को नित्य-नूतन वैचित्र्य से गुम्फित कर देती है।

अतः स्पष्ट है कि मूर्त से अमूर्त की ओर संचारित होती हुई मनुष्य की अनुभूति अतीत से वर्तमान तक प्रलम्ब है। भारतीय चिन्तन पद्धति मे वर्तमान जीवन पूर्वजन्म के कर्मो की वासना का परिणाम माना गया है। ये वासनाए व्यक्ति के मानस मे अव्यक्तरूप मे विद्यमान रहती है। अनुकूल परिस्थिति तथा प्रेरणा प्राप्त कर क्रियाशील एवं अभिव्यक्त होती है। वासनाएं जिन्हे संस्कार भी कहा जाता है, और साहित्यशास्त्रियो ने जिन्हे स्थायीभाव की सज्ञा दी है हमारे अवधान की दिशा निर्दिष्ट करती है। फलस्वरूप कोई संगीत की ओर आकृष्ट होता है तो कोई काव्य की ओर। कालिदास ने भी कहा है 'फलो को देखकर पूर्वजन्म के संस्कार का अनुमान किया जाता है।[१]

अतः कहा जा सकता है कि काव्य सर्जना स्थूलरूप से शब्दार्थ के माध्यम से मानव अनुभूति की कल्पनात्मक पुनः सृष्टि है। यह अनुभूतिक सृष्टि भोग की अवस्था मे अर्थात् अनुभूयमान स्थिति मे संभव नही है। घटित होने के बाद अनुभूति संस्कार बन जाती है और संस्कार बनने के बाद ही वह काव्य मे परिणत होती है। अतः काव्यसर्जना का प्रथम चरण है भोगावस्था की समाप्ति के बाद अनुभूति का संस्कार मे रूपान्तरण। काव्य-रचना के समय समान प्रेरकपरिस्थितियो मे स्मृति और कल्पना की सहायता से कवि संस्कार को पुनर्जीवित करता है। अर्थात् अपनी पूर्वानुभूति की कल्पनात्मक आवृत्ति करता है। वह अपनी अनुभूति से सम्बद्ध वस्तुतत्त्वो की कल्पना के द्वारा पुनः निर्माण करता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कवि की दर्शना-शक्ति अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म होती है और उसका कल्पना क्षेत्र अधिक व्यापक होता

---

१ फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव। -रघुवंशम् १/२

है। अतः अनेक प्रकार की अनुभूतियो के संस्कार उसकी चेतना मे संचित रहते है। पुनः सर्जनात्मक क्षणो मे इन संस्कारो के मानसचित्र अनायास ही उसकी पश्यन्ती कल्पना मे उद्बुद्ध होने लगते है और वह अपने विवेक के द्वारा अनावश्यक का त्याग और आवश्यक का ग्रहण करता हुआ उनका उचित संश्लेष कर अभीष्ट बिम्बो की रचना करता है। सस्कारमूला प्रतिभाप्रसूत काव्य-सर्जना को रामचरितमानस की इस चौपाई मे देखा जा सकता है। **''सुन्दता कहँ सुन्दर करई। छवि गृह दीपसिखा जनु बरई ''** यह सीता के रूप के प्रति राम की उक्ति है। सीता के रूपसौन्दर्य से जनक-वाटिका का रूप और अधिक दीप्त हो रहा था। दिव्यगुणो से दीपित सीता के रूप की झॉकी प्रस्तुत करना तुलसी को अभी है। अनुभूति अमूर्त है। संभवत तुलसी ने अपने जीवन मे किसी दिव्यरूप का अवलोकन किया हो। उसका संस्कार उनकी अन्तश्चेतना मे विद्यमान है। अतः मानस मे जब यह प्रसंग उपस्थित हुआ तब स्मृति और कल्पना के द्वारा ये आकर्षक बिम्ब अनायास ही उभर आये और कवि ने उसे शब्द बद्ध कर दिया। पुनः सर्जना की इस पक्रिया मे पड़कर अनुभूति व्यक्तिगत वासनाओ से मुक्त हो गयी। उसका साधरणीकरण हो गया, क्योकि एक तो वह एक ऐसे काव्यगत पात्र पर आरोपित हो गयी, जिसका अपना व्यक्तित्व ही कल्पना की सृष्टि था। दूसरे स्वतन्त्र बिम्बो पर आरूढ़ होकर उसका स्वरूप व्यक्तिगत परिस्थितियो से स्वतन्त्र हो गया।

इस प्रकार प्रतिभा जन्मान्तरीय संस्कारविशेष के रूप मे कवि का ऐसा मानस-धर्म है, जो दूसरे जन्म मे होने वाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। इसी बल पर कवि उन वस्तुओ के वर्णन मे भी समर्थ होता है, उन तत्त्वो के उन्मीलन मे भी कृतकृत्य होता है, जो साधारण मानवबुद्धि से कथमपि साध्य नही होते। प्रतिभा के सहारे ही महाकवि कालिदास ने शाकुन्तल मे हेमकूट पर्वत पर होने वाले उन अद्भुत व्यापारो

तथा मेघदूत मे अलकापुरी के उन विलक्षण दृश्यो का वर्णन किया जो भारतवर्ष मे रहने वाले कवि के लिए कथमपि दृष्ट नही हो सकते।

वस्तुतः प्रतिभा शब्द का अर्थ है चमक। संस्कृत काव्य-चिन्तक आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा मे कतिपय आचार्यों ने प्रतिभा को **अन्तः स्फुरणा** के रूप मे स्वीकार किया है। भारतीय दार्शनिक चिन्तना मे इसे सहज समुद्भूत ज्ञान के रूप मे तथा आगमो मे पराशक्ति के रूप मे मान्यता प्रापत है योगतन्त्र मे इसे प्रज्ञा तथा न्याय वेदान्त एवं वैशेषिक मे आर्षज्ञान का पर्याय माना गया है।

काव्य शास्त्रीय आचार्यो ने प्रतिभा के उन्मीलन मे मन की एकाग्रता को मूलरूप मे स्वीकार किया है। रूद्रट के मत मे प्रतिभा के द्वारा अनेक प्रकार के अर्थ और उस अर्थ को समझाने वाले अक्लिष्ट पद कवि के अवधान मे चमक उठते हैं।[१] आचार्य रूद्रट की इस व्याख्या से दो तत्त्व प्रकाश मे आते है? प्रथम काव्य-सर्जना मे मन की एकाग्रता अथवा समाधि परमावश्यक है, जिसे योग दर्शन मे चित्त की अविक्षिप्त दशा कहा गया है। सम्प्रज्ञात समाधि को स्पष्ट करते हुए आचार्य पतञ्जलि का कहना है कि प्रज्ञा एकाग्रचित्त मे सदर्थ को प्रकाशित करती है, क्लेश का क्षय करती है, चित्त को निरोध समाहित की ओर अग्रसर करती है।[२] श्यामदेव के मत को उद्धृत करते हुए आचार्य राजशेखर का मानना है कि समाधि और कुछ नही, वह मन की एकाग्रता ही है। समाहित चित्त अर्थो का भलीभांति चिन्तन करता है, क्योकि सरस्वती का तत्त्व महान् रहस्यात्मक है। वह केवल विद्वानो को ही गोचर

---

१ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि च पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।। -काव्यालकार १/१५

२ यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थ प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।
- योगभाष्य १/१

होता है। उस सारस्वततत्त्व की सिद्धि के लिए यही परम उपाय है कि ज्ञेय की विधि को जानने वाले चित्त की परम समाधि हो।[१] वामन ने समाधि को 'अवधान की संज्ञा से अभिहित किया है। उनके मत मे आवहितचित्त ही अर्थ को देखता है।[२]

आचार्य रूद्रट के मत मे प्रकाशित द्वितीय तत्त्व यह है कि कवि के सुसमाहित चित्त मे ही प्रतिभा शक्ति के द्वारा उन-उन भावो के अनुकूल अर्थो को प्रकाशित करने वाले शक्त शब्द स्फूरित होते है। इसीलिए पण्डित राजजगन्नाथ कहते है कि काव्य घटनानुकूलशब्दारर्थोपस्थिति प्रतिभा का ही कार्य है।[३]

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने तो स्फुट शब्दो मे प्रतिभा की स्फुरणा शक्ति को स्वीकार किया है। उनके मत मे प्रतिभा कवि के हृदय मे काव्य सर्जना के निमित्त शब्द समूह, अर्थसमूह, अलंकारतन्त्र, उक्तिमार्ग आदि सामग्री को प्रतिभासित कर देती है।[४] आचार्य कुन्तक की सम्मति मे प्रतिभा मे तत्काल उदित एक अनिर्वचनीय परिस्पन्द के कारण लौकिक पदार्थो का स्वरूप एक विशेष उत्कर्ष या विच्छित्ति से आच्छादित हो जाता है। यह विच्छित्ति ही वक्रता है, जिसे उन्होने काव्य का जीवित स्वीकार किया है।[५]

---

१ काव्यकर्मणि कवे॰ समाधि॰ पर व्याप्रियते इति श्यामदेव॰। मनस एकाग्रता समाधि॰। समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति। सारस्वत किमपि तत्सुमहारहस्य यद्गोचर च विदुषां निपुणैकसेव्यम् । तत्सिद्वये परमयं परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधे॰ समाधि॰।। काव्यमीमांसा, अध्याय-४

२ चित्तैकाग्रय्मवधानम् । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति। - काव्यालकार१/३/१७

३ सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति। -रसगगाधर आनन-१

४ या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि।
तथा विधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। -काव्यमीमासा, अध्याय-४

५ यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्देन परिस्फुरन्त॰ पदार्था॰।
- वक्रोक्तिजीवित १/९ वृत्ति

यह वक्रता कवि के प्रथमोल्लेख के समय शब्दार्थ के अन्दर स्फुरित होती हुई सी प्रकाशित होती है।[१]

रस एवं ध्वनिवादी आचार्य काश्मीर शैवागम के अनुयायी थे। अत उनके प्रतिभा विषयक चिन्तन पर काश्मीरी शैवदर्शन का गहराप्रभाव पडा है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के विवेचन मे 'स्वातन्त्र्य' शब्द का प्रयोग किया है स्वातन्त्र्य के कारण कवि गुण और दोष मे भेद करता है, और इसी के कारण महाकवि सर्जन सम्बंधी नियमो की अवहेलना करने पर भी सुभग-भाव की रक्षा मे समर्थ होता है। अभिनवगुप्त शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी थे। इस दर्शन की दो शाखाएं थी क्रम-सिद्धान्त एवं कुलः सिद्धान्त। क्रम सिद्धान्त मे सर्जन पालन, संहार, अनाख्या और भासा पांच तत्त्वो को मान्यता दी गयी। भासा को प्रमुख तत्त्व माना गया और प्रतिभा की संज्ञा से अभिहित किया गया था इसी को चित शक्ति या स्वतन्त्रता का पर्याय घोषित किया गया।[२] 'महार्थ मञ्जरी' मे इसे और स्फुट शब्दो मे प्रस्तुत किया है। भासा प्रतिभा है जिसे महती और सर्वगार्मिणी माना जाता है। वह शिवैकात्मदेशिका और चिन्मय है। इसमे सम्पूर्ण विश्व सरलता से प्रतिबिम्बित होता है। यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। इसे भगवान परमेष्ठी की चित् शक्ति कहा गया है।

---

१ प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्त स्फुरतीव विभाव्यते।। -वक्रोक्तिजीवित १/३४
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्वेन महाकवे।। -वही १/३९

२ Abhinava Gupta, An Heistorical and phylosophical study K C Panday p 509

३ भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्मिणी।
स्वस्वभाव शिवैकात्मदेशिकात्मक चिन्मयी
यस्यां हि भित्ति भूताया मातृमेयात्मकं जगत ।
प्रतिबिबतयाभाति नगरादीव दर्पणे।।

आचार्य अभिनवगुप्त लोचन के प्रथम उद्योत के अन्तिम छन्द मे कहते है कि उस ज्ञानात्मिका विमर्शरूपा शिवातत्त्व की बन्दना करता हूँ, जिसके उन्मीलित होते ही सारा विश्व उन्मीलित हो जाता है।[१] उनका तात्पर्य यहां कवि की उस प्रतिभा से है जिसके उन्मेष मे सारा प्रतिक्षण नूतन छाया से मण्डित होकर कुछ अन्य ही दृष्टिगोचर होने लगता है। अपने हृदय-मन्दिर मे निरन्तर प्रकाशमान प्रतिभा रूप वाग्देवता के अनुग्रह से प्राप्त नानाप्रकार के लोकोत्तर अर्थों की रचना करने की शक्ति रखने वाले प्रजापत्ति के समान जगत् की रचना मे कवि के लिए भी नाट्य की वर्जनीयता का प्रश्न नही उठाया जा सकता है।[२] **भोजवृत्ति** मे वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के आदि मे टीकाकार **हेलाराज** का भी कहना है कि ऐसे प्रतिभा तत्त्व की मै स्तुति करता हूँ जिसके सम्मुख होने पर अन्तःकरण मे एक मनोहर उज्जृम्भण होता है और उसके अभिनव प्रकाश मे वस्तुजगत् प्रकाशित हो उठता है-

यस्मिन् सम्मुखतां प्रयाति रूचिरं कोप्यत्तरुज्जृम्भते।

नेदीयान्महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः।

तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं बिना शाश्वतीं

धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत्प्रातिमं सस्तुयः।।

स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो मुरुर्गुरुमयी च सा। - महार्थमञ्जरी

१ यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिमां शिवाम् ।।

- ध्वन्यालोक लोचन- प्रथम उद्योत अन्तिमछन्द

२ कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रा-पूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितगतः।

- अभिनव भारती, अध्याय-१ वृत्ति

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड के आदि मे टीकाकार हेलाराज द्वारा यहाँ प्रतिभा का आवास कवि का अन्त करण कहा गया है। जिस प्रकार शिव के साथ शक्ति अवस्थित है उसी प्रकार कवि के साथ प्रतिभा इसी के उन्मीलन से नूतन काव्य-जगत् का निर्माण होता है।

जैनदर्शन के अनुयायियो मे हेमचन्द्र और वाग्भट्ट के प्रतिभापरक चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। अभिनव गुप्त की ही परम्परा मे हेमचन्द्र का मानना है कि प्रतिभा व्यक्ति की प्रकाशस्वभाव आत्मा मे उसी प्रकार निरन्तर विद्यमान रहती है। जिस प्रकार प्रकाश स्वभाव सूर्य मे प्रकाश, पर यह चैतन्य आत्मा विभिन्न प्रकार के अज्ञानावरणो से आच्छन्न होती है। जब तक अज्ञान उपशमित नही होता, तब तक उसकी स्वतः प्रेरित दीप्ति को उद्भासित होने का अवसर नही मिलता। यह आत्मस्थ दीप्ति अलौकिक होती है और संसृति के बाह्यावरण को भेदकर अथवा देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करके त्रिकाल तथा त्रिकाल स्थित रहस्य को उद्घाटित करने मे सक्षम होती है। इन्होने प्रतिभा के दो भेद स्वीकार किये है सहजा तथा उत्पाद्या। सहजा का उन्मेष असदाचरण के अभाव से तथा व्युत्पाद्या का सदाचरण से अज्ञानावरण के नाश द्वारा होता है।

आचार्य महिमभट्ट ने प्रतिभा की तुलना भगवान् चन्द्रमौलि के तृतीय नेत्र से करते हुए कहते है कि प्रतिभा कवि की वह प्रज्ञा है, जो वस्तुमात्र के प्रत्यक्ष स्वल्प का स्पर्श करती हुई स्फुरित होती है यह रसोपयोगी शब्दार्थ चिन्तना मे एकतान रहती है। इसके द्वारा कवि निखिल त्रैकालिक पदार्थो का साक्षात्कार करते है।[१]

---

१ रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमिति चेतस।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवे।। -व्यक्तिविवेक, पृ० ३९०

आनन्दवर्धन की सम्मति मे कवियो की वाणी दिव्यानन्द रस को प्रवाहित करती हुई आलोक सामान्य व चतुर्दिक्स्फुरणशील प्रतिभाविशेष को अभिव्यक्त करती है।[१] यों तो इस संसार मे विभिन्न कवियो की अखण्ड परम्परा रही है परन्तु प्रतिभा विशेष के धनी महाकवियो की संख्या उगलियो पर गिनी जा सकती है[२] ध्वनिमार्ग का अवलम्बन करने पर कवि की प्रतिभा निःसीम हो जाती है। इसके सहारे दृष्ट पूर्व अर्थ भी काव्य मे नित्य नवीनता धारण कर अवतीर्ण होते है तथा हर कवि के लिए नूतन निर्माण का क्षेत्र अक्षुण्ण रहता है।[३]

अतः सर्जना दर्शन और वर्णन की द्विविध शक्तियो से युक्त मानव-मानस का वह व्यापार है जिसके माध्यम से वह वस्तु का तलस्पर्शन करते हुए उसमे निहित मर्म का मूर्त प्रकाशन करता है।[४] यह प्रतिभा कतिपय

---

१ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्पन्दमाना महताकवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।
-आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक १/६

२ येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनिससारे
कालिदासादि प्रभृतयः द्वित्रा पञ्चषा कवयः एव गण्यन्ते। -वही१/६ वृत्ति

३ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।। -ध्वन्यालोक ४/४

४ नानृषिः कविरित्युक्तः ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्माशशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथऽऽरूढा लोके कविश्रुतिः।।।
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेःर्मुनेः।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना।।
अविद्याबीजविध्वसाद यमार्षेण चक्षुषा।
काली भूतभविष्यन्ती वर्तमानमवीविशत् ।। -काव्यानुशासन, पृ० ३१६

विशिष्ट लोगो की जन्जात विरासत नही, अपितु मानवमात्र इससे युक्त होता है अन्तर मात्र इतना है कि सामान्यजन इस शक्ति से युक्त होने पर भी इसका अनुभव नही करते, क्योकि यह उनमे अपरिस्फुट दशा मे होती है अभ्यास एवं साधना ज्ञान एवं तदनुकूल परिस्थितियो के अभाव मे उनकी शक्ति सुप्तावस्था मे रहती है। फलत वे वस्तु का ग्रहण उसके स्थूल स्तर पर ही करते है। उनकी दृष्टि वस्तु मे निहित समन्विति का दर्शन नही कर पाती। कलाकार कोटि के व्यक्ति मे जन्मजात एव अद्भुत संस्कारो का परिपाक होता है। निरन्तर काव्यानुशीलन एव अभ्यास के द्वारा वे अपनी जन्मजात शक्ति को प्रौढ़ एवं पष्कृित करते रहते है एवं तदनुकूल परिस्थिति के उपस्थित होते ही वस्तु मे निहित सत्य एवं सौन्दर्य का उद्घाटन मौलिक एव स्वतन्त्र रूप मे कर देते है। इसी को प्राचीन आचार्यो ने प्रतिभान की सज्ञा दी है, जो प्राचीन महाकवियो मे पायी जाती है समाधि एवं एकाग्रचित्ता की उस दशा मे पहुँच कर वाणी शब्दो मे स्फुरित होती है, जहाँ अन्य व्यापार शान्त हो जाते है। अहं का पूर्णतया विगलन हो जाता है। सर्जना के क्षणो मे सर्जक को अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया का पूर्णतया बोध नही होता। इस अलौकिक स्फुरण के कारण ही प्राचीन आचार्यो ने इसे अबोधपूर्ण माना एवं अर्वाचीन विचारको ने अचेतन-मानस। प्रतिभा का सम्बन्ध मानस को अतल ग्रहराइयो से है क्योकि यह अबोधपूर्वा स्मृति का साक्षात्मार कर उसे मूर्तबिम्ब प्रदान करती है। अभिनवगुप्त का मनोमुकुर वस्तुत संकल्पविकल्पकात्मक मन न होकर अन्तर्मन ही है जिस प्रकार भारतीय दार्शनिको के अनुसार भगवत्प्राप्ति एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए अन्त करण की शुद्धि एक अनिवार्य साधन है, उसी प्रकार मनोमुकुर को काव्यानुशीलन एवं अभ्यास से निर्मल रखने पर बिम्बग्रहण एवं मूर्त विधान सम्यक्रूप से सम्भव है। प्रतिभा सरस्वती तत्त्व है, जिसके अनुसार वर्ण्यविषय मे इस सृष्टि के द्वारा लोकोत्तरता का आधान किया जाता है। इसके द्वारा कवि वस्तु मे सौन्दर्य तत्त्व को गहनता से देखता है, और उस

सौन्दर्य को विविध शब्दचित्रो के द्वारा सहृदय पाठको तक पहुँचाता है। यह सहृदयो के अन्तःस्थ चिर परिचित अनुभवो मे नित्य नूतनता का सन्निवेश कर देता है। वह ऋषि की भाँति वस्तुजगत् को अपने अवधान मे दर्शन कर उसे भाषा के माध्यम से सम्प्रेषणीयता प्रदान करता है।'

इस प्रकार कवि की प्रतिभा दो स्तरो पर कार्य करती है - सूक्ष्म और स्थूल - दर्शना सूक्ष्म स्तर है और वर्णना स्थूल। पहले स्तर पर केवल साक्षात्कार होता है दूसरे स्तर पर वही अभिव्यक्त होता है। सृष्टि प्रक्रिया मे दर्शना का स्तर 'पश्यन्ती' है, जहाँ कवि की पराशक्ति स्त्रक्ष्यमाण का आकलन करती है। तदनन्तर 'मध्यमा' और 'बैखरी' की भेद भूमियाँ शनैः शनैः व्यक्त होती है। राजशेखर ने इसी कारण 'कारयित्री' एवं 'भावयित्री' को एक ही प्रतिभा के दो भेद माने है। अर्थात् कवि भावक के रूप मे दर्शन करता है और कारक के रूप मे सर्जन करता है। भट्टतौत ने भी 'दर्शन' और 'वर्णन' को एक ही प्रतिभा से अनुस्यूत माना है। उनके सम्मति मे वह कवि नही जो ऋषि नही और वह ऋषि भी नही जिसमे दर्शन नही, वह दर्शन नही जिसमे विचित्र भावधर्म संवलित तात्त्विक बोध नही। अतः 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का संयोग होने पर ही कवि शब्द सार्थक होता है। कवि की शक्ति मे दोनो का मञ्जुल समन्वय होता है, क्योकि कवि का अविद्या बीज विध्वंस होने

' Pratibha is that power where by the poet sees the subject o his poem as steeped in beauty and gives to his readers in apt language a vivid picture of beauty he has seem It is a power wheveby the poet not only calls up in his reader's heart the impression of faded experuences but whereby he presents evernew wonderful charming combinations and relations of things heie before exeperiened or thought by the ordinary man History of sanskrit poeties P V Kane Page No 348

के कारण ही आर्षचक्षु उद्घाटित होता हैं। उसकी तीसरी ऑख खुलती है। देशकाल का व्यवधान हट जाता है। भूत भविष्य सभी वर्तमान हो जाते हं और वर्णन की विलक्षण धारा प्रवाहित हो जाती है।

अत॰ प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यो की साङ्गोपाङ्ग प्रातिभमीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते है कि इसकी व्याख्या के दो धरातल है पारमार्थिक तथा व्यावहारिक। पारमार्थिक धरातल पर ब्रह्म की स्पन्दनमयी शक्ति की प्रतिभा है क्योकि मूलतत्त्व मे स्पन्दन होने से ही जगत् का निर्माण और ध्वंस होता है। यह स्पन्दन सहज है, जिसका क्षेत्र कवि का अन्त करण है। इस स्पन्दन से प्रेरित कवि की आध्यात्मिकी वृत्ति नूतन निर्माण की ओर उन्मुख होती है। व्यावहारिक धरातल पर कवि की शक्ति प्रतिभा है। क्योकि इसी के आधार पर वह अपूर्व वस्तुओ का दर्शन नवीन वस्तु जगत् का सर्जन करता है। अतः प्राचीन साहित्यशास्त्रियो के अनुसार जन्मान्तरीय संस्कारो से प्राप्त प्रतिभा अन्तश्चेतना की वह शक्ति है, जिसके उन्मीलन मे पूर्व वस्तु जगत् अपूर्वता धारण कर लेता है। कवि के अव्यवहित चित्त मे आते ही उसमे से पुरातनता स्वत. पलायित हो जाती है और वैविध्यपूर्ण रमणीयता का आवरण धारण कर वह कवि की असाधारण मनोदशा मे स्वत स्फूर्त हो शब्दार्थ के औचित्यपूर्ण अलंकरणो से सुसज्जित हो आविर्भूत हो जाती है।

लोकोत्तर-वर्णना

कवि के काव्य जगत् का आधार भौतिक वस्तु जगत् ही है। जगत् की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय है। कवि उन वस्तुओ पर दृष्टिपात कर उनमे अपनी भावना-शक्ति से ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे वस्तु जगत् के आवरण से उन्मुक्त हो नूतन रूप मे सहृदय के समक्ष उपस्थित होते है। कवि अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा अवस्तु मे भी ऐसे वैचित्र्य का उन्मेष कर देता है कि वह लौकिक जगत् से विलक्षण प्रतीत होने लगती है। अपनी निर्मल प्रज्ञा के बल पर कवि लौकिक विचारो एव वस्तु का साधारणीकरण करने मे समर्थ होता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध एक विशेष परिधि से आवृत्त होता है। कवि अपनी शक्ति से उस परिमितवस्तु को अनावृत कर उसका सामान्यीकरण कर देता है, तदुपरान्त अपनी कल्पना सम्पत्ति के द्वारा उसमे रमणीयता भरकर उसे विलक्षण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वस्तुतः यह रमणीयता ही कवि के काव्य के लोकोत्तरत्व का मूल होती है।[१] कवि के प्रतिभा क्षेत्र के भीतर प्रवेश करते ही पदार्थो मे जीवनी शक्ति का संचार हो जाताहै और आह्लादजनकत्व की विचित्र सामर्थ्य उन्हे प्राप्त हो जाती है।

कवि अपनी प्रातिभ-तूलिका के द्वारा अभिनव वस्तु-चित्रण मे कल्पना के सहस्त्र रंगो को भरता है। वह जिन पदार्थो के स्वल्प का वर्णन प्रस्तुत करता है वे उनके द्वारा अविद्यमान रहते हुए उत्पन्न नही किये जाते है। अपितु सत्तामात्र से परिस्फुरण करने वाले इन पदार्थों मे उस प्रकार के अपूर्व उत्कर्ष की ही सृष्टि करते है, जिससे पदार्थ लोकोत्तर बनकर रसिको के हृदयो को आकर्षित करने वाली किसी कमनीयता से युक्त हो जाते है। यह कमनीयता

---

१ रमणीयता च लोकोत्तरह्लादजनकज्ञानगोचरता। - रसगगाधर, प्रथम आनन

ही काव्य का आधारभूत है, जो सहृदयो के हृदय मे अद्भुत आह्लाद का संचार कर देती है। कविजन वस्तुत: जगत् के पदार्थो मे अपनी शक्ति से सौन्दर्यातिशय का प्रतिपादन करने वाले किसी लोकोत्तर वैचित्र्यविशेष का वर्णन करते है, जिससे पदार्थ की वास्तविक सत्ता को आच्छादित करने में तत्पर एवं अपूर्वसौन्दर्य के कारण चित्ताकर्षक, अपने प्रकाश से देदीप्यमान उसके स्वरूप के द्वारा तत्काल ही निर्मित की गयी सी, वर्णन किये जाने वाले पदार्थ के स्वभाव की महत्ता झलकती है। इसीलिए उसे विधाता की महनीय संज्ञा प्राप्त है।[२] वस्तु-जगत् मे यह लोकोत्तरता कवि की सहजा और आहार्या दोनो प्रतिभाओ से युक्त होकर निष्पन्न होता है। यथा- विक्रमोर्वशीय नाटक मे उर्वशी के अपूर्व स्वरूप का वर्णन, कामिनी की सौन्दर्यसम्पन्नता एवं अनन्त विलास की सामग्री की भूमि रससम्पन्नता तथा असाधारण अतिशय से युक्त सुकुमारता के प्रतिपादन के आधार पर की गयी है।[३]

यहाँ उत्प्रेक्षा के द्वारा अनुमान की महत्ता से लोकातीत उर्वशी की संभावना की गयी है। क्योकि चन्द्रमा, काम एवं वसन्तरूप तीनो कारणो का सभी विशेषणो के साथ 'स्वयं' पद सम्बद्ध होता हुआ इसी अनुमान को भलीभांति पुष्ट करता है। कवि की प्रतिभा प्रस्तुत नायिका के स्वरूप की सुन्दरता रूप पदार्थ के निर्माण मे किसी अलौकिक स्रष्टा की कारणतारूप

---

१ सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् - ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

२ अपारे काव्यससारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते।।

३ अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद
श्रृगारैकरस स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर।
वेदाभ्यासजड कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि।। -विक्रमोर्वशीयम् १/१०

अतिशय को प्रस्तुत करती है जिसके कारण वह नायिका का स्वरूप सौन्दर्य ही उस अलौकिक स्त्रष्टा के द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किया सा लगता है।

अत· कवि-प्रतिभा से ही सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक उसी एक ही स्वरूप मे निश्चित रूप से विद्यमान वस्तुओ के नित-नूतनढंग से वर्णन होने के कारण उनका अद्वितीय एवं सहृदयो को आनन्दित करने वाला कोई दूसरा ही स्वरूप सामने उभरकर आता है। इसीलिए कहा भी गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ से श्रेष्ठ कवियो द्वारा नित्य प्रति तत्त्व का ग्रहण किये जाने पर भी अद्यावधि अप्रकट रहस्यवाला सा वाणी का पस्पिन्द सर्वोत्कर्ष से युक्त है।[1] अर्थात् सृष्टि के प्रारभ से ही श्रेष्ठ कवियो ने अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा के विलास की प्रभुता से जिसके तत्त्व का ग्रहण किया फिर भी नई नई प्रतिभाएं आज तक जिसके स्वरूप का निरूपण नही कर पायी। ऐसा वह वाणी का विलास सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान है। यहॉ कवि की निपुणता का कोई लोकोत्तर वैभव ही झलकता है। यहॉ कवि ने अपने अभिमान की व्यञ्जना की प्रधानता से इस प्रकार कहा है कि सृष्टि के प्रारमभ से ही प्रतिदिन जिसके तत्त्व का ग्रहण किया किन्तु आज भी जिसका उद्घाटन नही हो सकता ऐसा यह वाणी का परिस्पन्द है। इस तरह के तत्त्व को न जानने के कारण कोई भी इससे कुछ भी नही ग्रहण कर सकता। अतः मेरी प्रतिभा से उस परमतत्त्व का उद्घाटन किये जाने पर इसका रहस्य प्रकट हो जायेगा। इस प्रकार अपने अलौकिक काव्य व्यापार की सफलता को प्रतिपादित कर देने के कारण वाणी के परिस्पन्द के विजय की बात कवि द्वारा कही गयी है।

इस प्रकार प्रतिभा के योग से लौकिक वस्तुएँ कवि के अन्तर्जगत् मे विभाव बन जाती है, और लौकिक अनुभवो से उत्पन्न चित्तवृत्तियै भाव का

---

१ आसंसारं कविपुङ्गवै· प्रतिदिवस गृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्र इव जयति वाचा परिस्पन्द·।। -वक्रोक्तिजीवित ३/४ वृत्तिभाग

रूप ग्रहण करती है। प्रतिभा द्वारा रूपान्तरित ये भाव और विभाव काव्यसर्जना को शक्ति प्रदान करते है। कवि अपनी शक्ति से इनका साधारणीकरण कर इनसे परिमित आवरण को हटाकर उनमे रमणीय वैचित्र्य की भावना भर देता है। यह रमणीयता वस्तुतः सहृदय के हृदय को रमाने की योग्यता है, जिसका सम्बन्ध हृदयस्थ अनादि भावो से है। वह भावो मे ही रम सकता है, क्यो कि उसका समस्त व्यापार भावो के द्वारा होता है। अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय मे कोई रम्य भाव उद्‌बुद्ध करे और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भावो की वाहिका हो। यदि उसमे यह शक्ति नही है तो वह बुद्धि को तो चमत्कृत कर सकती है चित्त को नही। हिन्दी समालोचक रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और चमत्कार शब्द की भ्रांति को दूर करने के लिए रमणीयता शब्द के प्रयोग पर जोर दिया है। मतिराम के शब्दो में "रमणीयता वह है जिसमे चित्त रमण करे, जो चित्त को बलात् अपनी तरफ आकर्षित कर ले। यह रमणीयता ही काव्यानन्द की उत्पत्ति का मूल है जो लोकोत्तर है।

अतः कवि की प्रतिभा लौकिक विषयो को काव्य के धरातल पर एक अलौकिक स्वरूप प्रदान करती है। वक्रोक्तिजीवित मे 'नूतनोल्लेख लोकातिक्रान्तगोचरनिर्मिति' की व्याख्या के सन्दर्भ मे आचार्य कुन्तक ने लोकोत्तरत्व के विधायक तत्त्वो को स्फुट शब्दो मे कहा है। उनकी सम्मति मे लोक का अतिक्रमण और प्रसिद्ध व्यवहार की अवहेलना करके ऐसे पदार्थ का निर्माण जो अभूत पूर्व हो और प्रथमबार उल्लिखित हो नूतन कहलाता है। वस्तुतः वर्ण्यमानपदार्थ तो किसी न किसी रूप मे पूर्वप्रस्तुत रहता ही है। कवि या कलाकार उसका पुनर्निर्माण नही करता उसमे कुछ ऐसा उक्तिचारूत्व उत्पन्न कर देता है कि वह अभूतपूर्व और आलोक सामान्य ज्ञात होने लगती है, और अपने इस चमत्कार से सामाजिक के हृदय को आप्लावित कर देती

है। जो विशेषोन्मुख कलात्मक काव्य प्रस्तुत होता है वह पूर्ववर्ती परिवेश से भिन्न और स्पृहणीय होता है। इसी कारण वस्तु का वास्तविक स्वरूप आच्छादित हो जाता है। वर्ण्यवस्तुस्वरूप एक विशिष्ट सौन्दर्य का बाहक बनकर सहृदयो को आह्लादित करता है वर्ण्य-वस्तु मे लौकिक स्वरूप के स्थान पर एक लौकिक स्वरूप का आरोप कवि अपनी प्रतिभा से करता है जो लोकातीत और विशेष होता है।

अतः स्पष्ट है कि कवि मे जन्मान्तरीय संस्कार रूप मे विद्यमान उस अलौकिक सरस्वतीतत्त्व के उद्वहन मे वस्तुजगत् के तत्त्व अपने भौतिक स्वरूप का त्याग कर ललितसन्निवेश चारूरूप मे अभिव्यक्त होते है जो लोकातिक्रान्तगोचर हो जाते है।

कल्पना

कवि-प्रतिभा के सन्दर्भ मे 'कल्पना' शब्द का भी पर्यालोचन अपेक्षित है। कवि-सर्जना मे कल्पना का समावेश तो सुनिश्चित रूप से रहता है, परन्तु पारिभाषिक रूप मे 'इमेजिनेशन' या 'फेसी' के रूप मे इस तत्त्व का विधिवत विवेचन पाश्चात्त्य काव्यशास्त्रियो ने किया है फिर भी प्रतिभा के प्रसंग मे कल्पना तत्त्व का समानान्तर समीक्षण अपरिहार्य है।

कवि की अनुभूतियां और ज्ञान जीवन के तपस्या कुञ्ज से आते हैं। काव्य और कुछ न होकर कवि के आत्मा का प्रस्वेद ही है। अनूभूतियो और भावो के संचय का कार्य कवि अज्ञात रूप से करता है, परन्तु काव्य के रच्यमान क्षणो मे उसे एक नही दो-दो धरातलो पर अत्यन्त जागरूक रहना पड़ता है। पहला धरातल वह है जिस पर कवि के विचार उतरते हैं। जिस पर उसकी कल्पना है मॅडराती और भावनाएं किलोल करती है। इस धरातल पर कवि की चिन्ता का विषय यह होता है कि जो विचार या भाव उसके अन्तर्मन मे अस्पष्ट गुञ्जार कर रहे है उन्हे वह ठीक-ठीक सुन रहा है या नही, और दूसरा धरातल वह होता है जिस पर कवि उन विचारो और भावो की भावना कर, उसे वैयक्तिकता से निर्वैयक्तिकता की ओर ले जाता हुआ अपनी कल्पना से उनमे बहुरंगी आकर्षण भरकर उन्हे शब्दो के रूप मे मूर्तता प्रदान करता है। अतः काव्य भावना के द्वारा वस्तुजगत् का पुनः पुनः नूतनोन्मेष है। भावना कल्पना को उद्‌बुद्ध करती है। काव्यगत शब्द पहले पाठक को अर्थबोध कराता है फिर उसकी कल्पना को जाग्रत करता हुआ उसके मन मे वासना रूप से स्थित स्थायी मनोविकारो को उद्‌बुद्ध कर उसे आनन्द मे निमग्न कर देता है।

काव्य के द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। उसको इस प्रकार से अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थावबोध ही नही होता, अपितु उसके हृदय मे समान रागात्मक-अनुभूति का सचार हो जाता है। इस संप्रेषणीयता मे कल्पना की अपेक्षा है। कल्पना के द्वारा अनुभूति का प्रेषण ही काव्य है। इस प्रकार कवि-सर्जना शब्दो मे भावप्रेरित सर्जनात्मक कल्पना की मूर्त उपादानो द्वारा अभिव्यक्ति है जो निमित्त रूप भावक की अनुभूति को उद्‌बुद्ध करती है।

कवि-मानस मे भावचक्र का आवर्त निरन्तर गतिशील रहता है। कल्पना को मानसी क्रिया माना जाता है। संमूर्तन संश्लेषण और चमत्कार का कार्य कवि इसी मानसी क्रिया द्वारा संपादित करता है। कल्पना दृश्य वस्तुओ मे अदृश्य संबन्ध सूत्रो का विधान करने का प्रमुख साधन है। इसीलिए इसे विधायक कल्पना की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। कवि कल्पनाप्रवण जीव होता है। वह अपनी इस क्रिया के माध्यम से परोक्ष मे अथवा अदृश्य मे कुछ ऐसे सम्बन्ध सूत्रो को जोड़ देता है कि उसका सर्जन पहले से कुछ अधिक उपयुक्त वैभवपूर्ण और आकर्षक बन जाता है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप विधान मे प्रवृत करता है।[१] जब भावो की उमंग कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूलगुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता शब्दो के द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है।

भारतीय साहित्यकोश मे कल्पना के कार्यक्षेत्र का प्रसार काव्यसर्जन से लेकर काव्यास्वादन तक माना गया है। क्लृपसंपद्यमाने धातु से ल्युट् और टापप्रत्यय (क्लृप् + अन् + आ) के द्वारा कल्पना शब्द निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है सृष्टि करना । इस रूप मे यह सर्जना का पर्याय है।

---

१ भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका- डा० नगेन्द्र प्रथम सस्करण अध्याय-५ पृ०११८

"कल्पना नूतन उद्भावना तो करती है, वह विशृंखलता मे सामञ्जस्य और विसंगति मे संगति भी स्थापित करती है। कल्पना के अन्य कार्य है- अमूर्त को मूर्त एवं निर्जीव को सजीव बनाना, पूर्वपरिचित विषयो का नवसंस्कार तथा प्रचलित उपकरणो का नवीन प्रयोग। काव्य-सर्जना के सन्दर्भ मे कल्पना- शक्ति कवि को अभिव्यञ्जना, वक्रता, चारूत्व-कौशल और अप्रस्तुत विधान की सामर्थ्य प्रदान करती है। काव्यभाषा मे ललितोचित सन्निवेश चारू पदावली का समावेश कवि की उर्वरकल्पना का परिणाम होता है। काव्यास्वादन के लिए कवि मे भी कल्पना शक्ति की अनिवार्यता है, क्योकि इसके बिना वह काव्य मे निहित सूक्ष्म अर्थव्यञ्जनाओ और वक्रताओ को ग्रहण नही कर सकता।[१] आधुनिक विद्वानो ने सर्जनात्मक-कल्पना को 'उद्भावना शक्ति' के समकक्ष माना है। कल्पना प्रतिभा का गुण कहा गया है प्रतिभा अपूर्व वस्तु का निर्माण करने वाली प्रज्ञा अथवा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है, जो पाश्चात्य साहित्यालोचन मे प्रतिपादित सर्जनात्मक कल्पना (Creative Imagination) अथवा उ्भावना शक्ति (Inventive Faculty) के समकक्ष है।

कल्पना वह मानसी क्रिया है जिसके आधार पर कवि नूतन-सर्जना और अभिनव रूपव्यापार के विधान, की शक्ति प्राप्त करता है। यह कलाकार की सर्जना शक्ति है। हिन्दी विश्वकोश[२] मे विगत प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अनुभवो का बिम्बो और विचारो के रूप मे विचारणात्मक स्तर पर रचनात्मक नियोजन को ही कल्पना कहा गया है। कल्पना की मानसिक-प्रकिया के अन्तर्गत मुख्यतः दो प्रकार की मानसिक क्रियाएं होती है। प्रथम विम्बो एवं विचारो के रूप मे विगत संवेदनाओ का प्रतिस्मरण और द्वितीय उन प्रतिस्मृत अनुभवो की नये

---

१ भारतीय साहित्यकोश भाग १, प्रथम सस्करण, पृ०२१३

२ नागरी प्रचारिणी सभा, प्रकाशन, प्रथम सस्करण, पृ० ३८६

संयोजन मे रचना। कल्पना मे उक्त दोनो प्रकार की क्रियाओ का इतना अधिक सम्मिश्रण रहता है। इनकी स्पष्ट अनुभूति व्यक्तिविशेष को हो नही पाती। प्रथम प्रकार की कल्पना मे दिवास्वप्न एवं मानसिक उड़ाने आती है जिनकी सहायता से व्यक्ति काल्पनिक जगत् का निर्माण करताहै दूसरे प्रकारकी कल्पना कवि-सर्जना का मूल है, जिसकी सहायता से कवि तथ्यो के निरीक्षणो को एकत्र कर उनका आन्तरिक मन्थन करताहै और सर्जना सम्पन्न करता है।

कल्पना अंग्रेजी के 'Imagination' शब्द का पर्याय है। Image का अर्थ है चित्र अथवा छवि। काव्य के सन्दर्भ मे कल्पना काअर्थ हुआ बिम्बसृष्टि अथवा रूपसृष्टि करने मे समर्थ कविकी उद्भावना शक्ति। **'नटाल्स डिक्शनरी'** के अनुसार इसका सम्बन्ध **ललित कला** के क्षेत्र से होता है और यह विविध प्रत्ययो और सम्बन्धो से अभिव्यक्त होने वाली काव्यात्मक और सर्जनात्मक शक्ति का आधान होती है बिम्बसृजन, प्रत्यय, कौशल, अमूर्त कल्पना प्रधान विचार का सम्मूर्तन, इसका प्रधान कार्य माना गया है **'लित्रे'** के मत मे यह दो प्रकार से कवि कार्य मे प्रवृत्त होती है। अपने प्रथम स्वरूप मे यह यह अप्रत्यक्ष और अप्रस्तुत वस्तुओ को हमारी प्रज्ञा के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसका द्वितीयरूप कवि-सर्जना का प्रेरणास्त्रोत और प्रत्ययो को सजीव कल्पनात्मक कलेवर प्रदान करने मे साधन बनता है **बेब्स्टर** ने कल्पना को **'मूर्तविधायिनी पुनरूत्पादक शक्ति'** कहा है, जिसके द्वारा कलाकार संसृति के क्रिया कलापो का अवलोकन और आलोडन करता है, तथा प्राप्त अनुभवो एवं अनुमानो को संश्लेषित करता है।

इस प्रकार कल्पना पूर्व अनुभूतियो की योजना से अपूर्व अनुभूति की उद्भावना या क्रिया है, जो अतीत, वर्तमान और अनागत का पूर्ण अवगाहन करती है, तथा निष्कर्षरूप मे प्राप्त वस्तुओ मे ऐसा सामञ्जस्य उत्पन्न कर

देती है जो काव्य-सर्जन का आधार बनता है। इसी विशेषता को दृष्टिगत करते हुए इसे अन्तर्विधायिनी काव्यशक्ति की संज्ञा प्रदान की गयी है। विधायक कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओ के मानसिक बिम्बो को पुनरूत्पादित करके उनके प्रत्यक्षबोध को हृदयगंम करती है, और पुन: उन अवबोधो को संश्लेषित करके कवि-सर्जना का मूलाधार बनती है। कल्पना पूर्व-अनुभवो एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के आधारभूमि पर टिकी होती है। पूर्वनिर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा ज्ञान के अभाव मे न तो जन्मान्ध इन्द्रधनुष के सप्तरंगो की कल्पना कर सकता है और न जन्म से बहरा संगीत के सौन्दर्य की। पूर्व अनुभवो को सुरक्षित रखना और उन्हे अनुकूल स्थिति प्राप्त कर प्रकट करना स्मृति का कार्य है, जो कल्पना का आधार है। साहचर्य नियमो के कारण मानसगत बिम्बो मे परिवर्तन परिवर्धन और संस्कार संभव हैं, तथा वस्तुविशेष इनके कारण नूतनरूप धारण कर लेता है।

कल्पना की तीन कोटियां है १. बौद्धिक २. सौन्दर्यात्मक ३. व्यावहारिक। बुद्धि के आधार पर जब कल्पना आती है तो वह बौद्धिक चेतना सम्पन्न होती है। बौद्धिक कल्पना विचार अथवा अन्वेषण का आधार उपस्थित करती है। जीवन की किसी घटना विशेष को देखकर बुद्धि के आधार पर हम उसका समाधान ढूढ निकाले तो इसे बौद्धिक कल्पना का उदाहरण माना जा सकता है **'न्यूटन '** ने देखा कि सेब का फल वृक्ष से टूटकर पृथ्वी की ओर आता है उसने इस बात पर विचार किया ऐसा क्यो होता है। उसकी वृद्धि ने जबाव दिया पृथ्वी मे कोई आकर्षण शक्ति है, जो पदार्थो को अपनी ओर खीचती है। फिर क्या ? **गुरूत्वाकर्षण के सिद्धान्त** का पता चल गया। उसका यह निष्कर्ष **बौद्धिक कल्पना** का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। कला की सफलता सौन्दर्य एवं उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति मे होती है। सौन्दर्यानृभूति कला के प्राण है और अभिव्यक्ति उसका कलेवर। कवि इसी कल्पना का पुजारी होता है। तात्त्विकदृष्टि से इसे ही कारयित्री-प्रतिभा या

सहजा प्रतिभा कहना उचित होगा। इसी कल्पना से कवि की अन्तर्दृष्टि वस्तु मे निहित सौन्दर्य को और अधिक रमणीयता प्रदान करती है। इसी से कवि मे सौन्दर्य चेतना सम्बद्ध होती है। सौन्दर्यगत बिम्ब-विधायिका कल्पना को कला का आधार स्वीकार किया गया है। विभिन्न इन्द्रियो द्वारा बिम्बग्रहण एव प्रत्यक्षीकरण होने से इस कल्पना के रूप मे थोड़ा अन्तर आता है। चक्षुरिन्द्रिय को प्रभावित करने वाले विम्बो का निर्माण करने वाली कल्पना चाक्षुष होती है। इस कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बो मे रूपविधान अधिक होता है। काव्य मे चित्र और संगीत का सन्तुलित रूप अभिव्यक्त होता है। अत चाक्षुष बिम्बो के साथ श्राव्य बिम्बो का सन्तुलन हो जाता है। **'सरसिजम्'** आदि मे कालिदास ने जो उपमा दी है उसकी योग्यता उपमा की शक्ति में नही अपितु तदनुरूप मूर्तविधान मे है, जो कल्पनाश्रित है। **'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्** ' के साथ ही शैवाल से घिरे कमल का चित्र आंखो के सामने आता है, जिसने शैवाल से घिरे कमल को नही देखा अथवा कल्पना करने की जिसमे शक्ति नही है उसके लिए यह वर्णन कोई चित्र उपस्थित नही करता संभव है कि शैवाल से घिरे कमल को न देखने पर शैवाल और कमल की स्वतन्त्र स्थितियो का एकीकरण कर शैवाल से घिरे कमल का मानस चित्र मानसचक्षुओ के सामने ला खड़ा करे। अतः यह कल्पना जितनी कवि के लिए अनिवार्य है उतनी ही सहृदय और पाठक के लिए भी। इसे ही राजशेखर ने भावयित्री प्रतिभा कहा है। इस प्रकार से कल्पना नवीन रागात्मकवृत्ति जागरित नही करती अपितु रागात्मिकावृत्ति उभरने वाले क्षणो को जागरित करती है तथा अनुभूति का पूर्वानुभूति के साथ समन्वित कर आवेश तीव्रता और गंभीरता प्रदान करती है।

"चित्रकार की कल्पना जहां चाक्षुष मूर्तविधान करती है वही कवि की कल्पना चाक्षुष एवं श्रव्य दोनो प्रकार के मूर्तविधान मे प्रवृत्त होती है। सौन्दर्य के इस रूपविधान मे कल्पना काव्य को दो रूपो मे प्रभावित करती है, एक

ओर तो वह कृत्रिमता को प्राकृत रूप देती है, असंभाव्य को संभाव्य बनाती है, तो दूसरी ओर संभाव्य की भावना को उन्मेष प्रदान करती है।"[1] व्यावहारिक कल्पना का सम्बन्ध हमारे दैनिक व्यवहार जीवन से होता है।

इसी के माध्यम से हम दैनिक योजनाओ की रूपरेखा तैयार करते है, परन्तु सौन्दर्यपरक कल्पना सौन्दर्यचेतना का विषय बनती है। इसका स्वरुप उपयोगिता से सर्वथा मुक्त होता है। यह न तो व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति करती है और न उपयोगितावादी दृष्टि की। इससे हमारा भावकोश समृद्ध होता है और वस्तुविभावन तीव्र होता है। यह सौन्दर्यसृजन मे सहायक होने के साथ ही विभावन का मूलमन्त्र है जिसकी अपेक्षा कलाकार और सामाजिक दोनो मे समान रूप से है।

पश्चिम मे कल्पना को प्रारम्भ से ही शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है। प्लेटो ने उसे फेटेसी (मूल शब्द फेन्टेसिया) का अभिधान कर मिथ्याभास करने वाली विकृतमन की दुष्ट क्रिया कहा है, तो दॉते आदि कुछ विद्वानो ने कल्पना को माया, छल, भ्रान्ति आदि कहकर तिरस्कृत किया है। पाश्चात्त्य काव्य शास्त्र के परवर्ती युग मे इसे मान्यता प्राप्त हुई। **एडिशन, केम्स, डैल्यूले एलिसन** ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया। **कालरिज, वर्डसवर्थ, शेली** और **कीट्स** के काव्य मे कल्पना का स्थान सर्वोपरि रहा। **ब्लेक** आदि कवियो ने कल्पना को दोहरी अन्तर्दृष्टि कहकर उसे प्रत्यक्ष और वैज्ञानिक तथ्यो से भी महत्तर वस्तु घोषित किया। **कोलरिज** ने सर्जनात्मक कल्पना को आत्मा की शक्ति माना। प्रकृति ईश्वर की कला है। अतः प्रकृति का अवबोध ईश्वर का ही बोध है। कल्पना केवल ज्ञानेन्द्रियो द्वारा संवेदित विषयो को ग्रहण ही नही करती अपितु उन्हे स्वीकार कर उनका असीम की प्रकृति के प्रतीक रूप मे चिन्तन करती है। **वर्डसवर्थ** के साथ अपने कल्पना सम्बंधी

---

१ काव्य और कल्पना रामखेलावन पाण्डेय, प्रथम संस्करण, पृ० १७

मत की भिन्नताका उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है "उनका दृष्टिकोण कल्पना और ललित कलपना के प्रभाव को चित्रित करना था जो काव्य से प्राप्त होता है, परन्तु मेरा उद्देश्य काल्पनिक चिन्तन मे निहित मौलिक चिन्तन की गवेषणा करना है।" अतः कल्पना एक शक्ति है जिसका प्रयोग कलाकार तभी करताहै जब वह अपनी सर्वोत्तमदशा मे हो, अपने आत्मा के पूर्ण आधिपत्य मे हो। उनकी यह धारणा थी कि हृदय की किसी अन्तर्निहित शक्ति के कारण ही काव्य मात्र विचारो का संग्रह न होकर एक अविस्मरणीय अखण्डता का परिचायक बन जाता है। इसी विशेषता की उपस्थित मे उसमे संगति सामञ्जस्य और प्रभावित करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। प्रकृति के सुन्दर और स्थायी तत्त्वो को निरूपित करने वाली इस काव्य शक्ति को 'Shaping spirit of inagination, A Unifaing creative faculty, "the beatiful and beauty making power".' आदि नामो से अभिहित किया जाता है। जिसमे निहित अर्थ को इस रूप मे जाना जा सकता है कि कल्पना मे वह जिसका प्रयोग ऐसी शक्ति के लिए किया जाता है, जो वस्तुओ को पिघलाकर संयुक्त कर देती है, कवि-प्रतिभा वस्तुओ का एकीकरण करती है, जब कि ललित-कल्पना उन्हे इस रूप मे एकत्रित कर देती है जिनमे तारतम्य तो होता है पर रूपपरिवर्तन नही। इसी को पाश्चात्य विचारको ने Co-educating power कहा है। कल्पना वह शक्ति है जो वस्तुओ को अपने दबाव से मोड़कर इच्छित स्वरूप प्रदान करती है। Esemplastic कल्पना इस कार्य को कौशल के साथ सम्पादित करती है। इसी को कालरिज power की संज्ञा दी है। उनके मत मे कल्पना के मूलतः दो रूप है- मूलकल्पना और उत्तरजात कल्पना। मूल कल्पना सभी मानव चेतना मे निहित है। सभी मानवीयप्रत्यक्ष मे यह जीवन्त शक्ति और मूल कर्ता है, जो असीम के शाश्वत सर्जन-कार्य को सीमित मानस मे पुनरावृत्त करता है। उत्तरवर्ती कल्पना पूर्ववर्ती की प्रतिध्वनि है, जो चेतन

इच्छा के साथ रहती है। कार्य की दृष्टि से तो यह उसके सदृश होती है पर सक्रियता और परिणाम की दृष्टि से यह उससे भिन्न मानी जाती है। यह विघटन, प्रसरण और विकीर्णन के आधार पर पुनर्सर्जन की ओर उन्मुख होती है, जो दृश्य-जगत् के पदार्थो के बाह्यावरण को भेदकर इसमे निहित सत्य को परंपरितरूप मे अपने नवनिर्माण का विषय बनाती है।

इसी प्रकार अंग्रेज विचारको की भॉति जर्मन विचारको ने अपना मत प्रकट किया है काण्ट ने Critic of pure Religion मे कल्पना से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किये है। उन्होने उत्पादक और पुरूत्पादक नाम से कल्पना के रूपो को स्वीकार किया है। उत्पादक कल्पना स्वतः स्फुरित आत्म निर्णय की क्रिया है। यह चिन्तन के अमूर्तस्वरूप को मूर्तस्वरूप प्रदान करती है। पुनरूत्पादक कल्पना अनुभवसिद्ध अवबोध को बिम्बो के रूप मे परिणत करती है। आधुनिक अंग्रेज विचारको ने काव्य को कवि कल्पना का फल कहा है। कवि शैली के मत मे कवि कल्पना ही साक्षात् रूप से काव्य की अभिव्यक्ति करती है। काव्य को रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द मानने वाले भारतीय साहित्यशास्त्री कल्पना के विषय मे मूक है। उन्होने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का कारण स्वीकार किया है।

प्राचीन काव्यशास्त्र और संस्कृत-साहित्य मे कल्पना के अनेक प्रयोग मिलते है, किन्तु सर्वथा भिन्न अर्थ मे। यहॉ कल्पना का अधिकतर प्रयोग मिथ्याज्ञान या मिथ्यारचना के लिए हुआ है। संस्कृत-साहित्य मे कही कही कल्पना का व्यवहारसिद्ध और 'हाथी के सजाने के अर्थ' मे प्रयोग हुआ। श्रीहर्ष के नैषधीयचरित मे **'श्रद्धालु संकल्पित कल्पनायाम्'** मे कल्पना का प्रयोग 'सिद्धि' के अर्थ मे है। इसी प्रकार 'अमरकोष' रामाश्रयी टीका मे 'स्तोकसत्या' का पर्याय माना गया है। इतना ही नही भामह ने काव्यालंकार के पञ्चम परिच्छेद मे (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं सतोऽर्थादिति केचन) धर्मकीर्ति ने

''न्याय विन्दु'' मे ''कल्पनापोढं भ्रान्तं प्रत्यक्षम् '' और आर्यदेव ने 'चित्तशुद्ध प्रकरण' नामक पुस्तक मे 'जिसका उल्लेख एस. एन दास गुप्त ने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ के प्रथम भाग 'मीमांसादर्शन' के अन्तर्गत किया है।) प्रयोग किया है, परन्तु इनमे से एक भी प्रयोग कल्पना के आधुनिक अर्थ के समतुल्य नही है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र मे कल्पना का प्रयोग जिस अर्थ मे किया जाता है उस अर्थ को अभिप्रेत करने के लिए प्राचीन काव्यशास्त्रियो ने प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया है। डा० श्याम सुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानो ने इसी अभिप्राय का मत प्रस्तुत किया है। अत आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र या पाश्चात्त्य कलाचिन्तन की कल्पना को हम थोडे बहुत अन्तर को छोड़कर भारतीय काव्यशास्त्र की **प्रतिभा** कह सकते है, जिसका अंग्रेजी पर्यायवाची 'जीनियस' है, तथापि अनेक आंग्ल काव्यसमीक्षको ने प्रतिभा को कल्पना के अर्थ मे स्वीकार किया है। दार्शनिकदृष्टि से कुछ विद्वान् कल्पना का साम्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति (कल्पनापोढं भ्रान्तं प्रत्यक्षम्) द्वारा अभिहित मानस-प्रत्यक्ष के साथ बिठाते है। मानस-प्रत्यक्ष एक प्रकार प्रत्यक्षीकरण है जिसका स्थान संवेदना और बुद्धि के बीच मे बतलाया जाता है। दिङ्नाग ने बोध के दो प्रकारो को स्वीकार किया- प्रत्यक्ष बोध और कल्पना बोध।[१] आनन्द कुमार स्वामी ने भी प्रतिभा को कल्पना के अर्थ मे स्वीकार किया है।[२] पाश्चात्त्य कवि वर्डसवर्थ ने काव्य को सबल अनुभूति के सहज प्रभा की अपेक्षा शान्तावस्था मे चर्वणा का फल स्वीकार कर कल्पना प्रसूत कहा है। भावो की चर्वणा के लिए उस मानसिक

---

१ Jawala Prasad - History of Indian Epislemology - Page 205 Puslished Munshi Ram Manohar lal

२ And as Imagination bodies forth, the of things unknow the boet pen, Tarn them to shape and gives to airy nothings a local habitation and a home - Shakespeare

अवस्था मे पहुचने की आवश्यकता है जिसमे संवेदनशील रागात्मक आवेश प्राप्त हुआ। उस रागात्मक आवेश की तीव्रता को प्रत्यक्ष करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना ही पड़ता है। Shakespeare का मानना है कि "कवि दृष्टि उल्लास से भरकर पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती रहती है और जैसे-जैसे कल्पना स्फुरित होती है कवि की लेखनी जिसका अस्तित्व तक नही अलक्ष्यो को लक्ष्यकर उन्हे नामरूप देती रहती है।[१]" **रस्किन** के मत मे कविता कल्पना द्वारा रूचिर मनोवेगो के लिए रमणीयक्षेत्र प्रस्तुत करती है। "**ऽकामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु**[२]" के द्वारा कालिदास ने प्रेमी के इसी कल्पना प्रवणताकी तरफ ध्यानाकृष्ट किया है। **महादेवी वर्मा** कहती है कि "बाह्य उत्तेजना के अभाव मे अनुभूति का आवेश कल्पना का ही फल है।"

मेरे विचार से वस्तुत काव्य मे कल्पना का उद्गम वस्तुओ के चिन्तन द्वारा रूपविधान के प्रस्तुतीकरण मे है। कल्पना के द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तुओ का रूप कवि-मानस मे सहसा मूर्तरूप ग्रहण करता है। कवि कल्पना के द्वारा वस्तुओ के वैधर्म्य को दूरकर उनमे संतुलन उपस्थित करता है। वस्तुओ के यथादृष्ट रूप मे कल्पना के नूतन-विधान उपस्थित करता है। इस प्रकार संतुलित भावना या वस्तु प्रकृत भावनाओ और स्वतन्त्र रूपवाली, प्रतिदिन व्यवहार जगत् मे दीख पड़ने वाली वस्तुओ को लेता है और किसी वस्तु का उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर उसने रमणीय बिम्बो का विधान कर देता है, जिससे वस्तु मूलरूप से भिन्न प्रतीत होती हुई एक अलौकिक रुप धारण कर लेती है, परन्तु इसके विपरीत आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने सर्जनात्मक कल्पना और मौलिकता को अन्योन्याश्रित सिद्ध किया है। उनका कहना है कि

---

१ The Transformation of Nature in Art - New york 1956

२ पूर्वमेघ- छन्द स० ५

सर्जनात्मक कल्पना मौलिकता को अन्तर्भुक्त किये रहती है और इसके साथ यह भी कहा जाता है कि कल्पना का सम्बन्ध भावना से होता है और मौलिकता का चिन्तन से। भावना जब भावजगत् से निकलकर कल्पना के क्षेत्र मे पदार्पण करती है तो वह मौलिकता बन जाती है। मौलिकता जब चिन्तन के क्षेत्र से निकलकर भावना के क्षेत्रमे पदार्पण करती है तो वह कल्पना बन जाती है। अतः कल्पना कवि के रचना-संसार का अभिन्न अंग तो है, पर वह उसका मूल नही है। यहाँ आचार्यो ने उसे प्रतिभा के पर्याय रूप मे भी प्रयुक्त नही किया है। बात जो भी हो पर इतना तो स्पष्ट है कि भावना और चिन्तन मे सम्बन्ध होता है। अतएव कल्पना और मौलिकता मे भी सम्बन्ध होना आवश्यक है, पर इसका तात्पर्य यह नही समझना चाहिए कि भावना के क्षेत्र मे पायी जाने वाली सभी वाते मौलिक होगी। वस्तुसत्य यह है कि कल्पना मौलिकता को आधारभूत सूत्र प्रदान करती है। कल्पना भावना प्रवण होती है, इसके अतिरेक मे तथ्य का मौलिकरूप छिपा रहता है। ज्यो ही चिन्तन उसे भावना प्रवणता से मुक्त करके प्रकृतधरातल पर प्रतिष्ठित करता है वह अपने मौलिक स्वरूप मे और भी स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। इस क्रिया को हम खान से सद्यः निष्कासित सुवर्ण और भट्ठी मे तपे हुए स्वर्ण के रूपक द्वारा स्पष्ट कर सकते है। जिस समय सोना खदान से निकाला जाता है वह भूगर्भ के नाना तत्त्वो से लिपटा रहता है खान से निकालने के बाद हम उसे भट्ठी मे गलाकर शुद्ध करते है। जब वह शुद्ध हो जाता है तो उसमे एक नूतन दीप्ति आ जाती है और वह अपने असली स्वरूप मे उद्भासित होने लगता है। कहने की आवश्यकता नही है कि भाव प्रवणता की स्थिति अस्पष्ट जटिल और धुंध संवेदन की होती है जिसमे भिन्न-भिन्न स्थितियां सर्पशिशुवत् लिपटी रहती है चिन्तन के धरातल पर हम इन्हे आवश्यकतानुसार व्यवस्थित और संतुलित करते है। यही व्यवस्था और संतुलन सर्जना का मूल केन्द्र बिन्दु होता है। जिसे कल्पना सम्पन्न करती है।

व्यापार संभव नही है उसमे व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी **'दण्डचक्रन्यायेन'**[१] उपस्थिति अनिवार्य है।

हेमचन्द्र की सम्मति मे लोक शास्त्र और काव्य मे निपुणता ही व्युत्पत्ति है।[२] वस्तुतः यह मम्मट का ही अनुसरण है जिन्होने स्थावर- जंगमरूप संसार के व्यवहार, छन्द, व्याकरण, संज्ञा शब्दो के कोश, कला, चतुर्वर्ग और महाकवियो के काव्यो के पर्यालोचन से उत्पन्न विशेष प्रकार के ज्ञान को व्युत्पत्ति कहा है।[३] अन्यान्य आचार्यो ने 'बहुज्ञता' को व्युत्पत्ति की संज्ञा प्रदान की है।[४] यायावरीय राजशेखर की सम्मति मे उचितानुचित विवेक ही व्युत्पत्ति है, क्योकि कवित्व वही है कि ज्ञान-अज्ञान समस्त विषयो मे कवि वाणी का निर्बाधरूप से प्रसार हो। यह वहुज्ञता से ही सम्भव है।[५] आचार्य रूद्रट ने इस बहुज्ञता को 'युक्तायुक्तविवेक ' कहा है।[६] आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति मे प्रतिभा और व्युत्पत्ति मे प्रतिभा ही श्रेष्ठ है जो कवि के अव्युत्पत्ति जन्य समस्त दोष को ढक लेती है।[७] यथा- दिगम्बररूप मे खड़े शिव को देख मेरे पिता के शिर पर क्या है ? चन्द्रखण्ड, ललाट पर क्या है ? नेत्र, हाथ मे

---

१ त्रयः समुदिता, न तु व्यस्ता .. हेतुर्न तु हेतवः। काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति

२ लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः। - काव्यानुशासन पृ० ७

३ लोकस्य स्थावरजंगमात्कस्यलोकवृत्तस्य, शास्त्राणा छन्दोव्याकरणाभिधान कोशकलाचतुर्वर्गगजतुरग। खड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानॉ च महाकवि सम्बन्धिनाम् आदिग्रहणादितिहासादीना च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। -मम्मट काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति

४ बहुज्ञता व्युत्पत्तिः इत्याचार्याः। काव्यमीमासा अध्याय-५

५ उचितानुचिताविवेको व्युत्पत्तिः इति -यायावरीयः वही, अध्याय-४

६ छान्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।। -रुद्रट- काव्यालंकार १/१८

७ अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।। -राजशेखर काव्यमीमासा, अध्याय-५

क्या है ? सर्प, इस प्रकार कार्त्तिकेय के क्रमशः प्रश्न करने पर उत्तर देने वाली पार्वती ने वाये हाथ से उनका मुख बन्द कर दिया और मुस्कुराने लगी।[१] यहाँ कवि की व्युत्पत्ति दर्शनीयहै जिसने सहृदयो का ध्यान अनुचित प्रश्न से हटा दिया।

अतः काव्य-निर्माण मे देशकाल की परिस्थिति, सामाजिक परिवेश, और वैयक्तिक व्यवहार के औचित्य का परिज्ञान कवि के लिए अनिवार्य है। अन्यथा काव्यदोष ग्रस्त होने से उपहसनीय हो जायेगा। क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचारचर्चा मे इसी व्युत्पत्ति या विवेक का प्रमुख रूप से प्रतिपादन है। आचार्य वामन ने काव्यकर्ता के लिए व्याकरण, छन्द कोश, अर्थशास्त्र इतिहासाश्रित कथा लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र और कला का मनन आवश्यक रूप से निरूपित किया है। उनकी सम्मति मे शब्द और अर्थ को भलीभांति जानकर काव्यज्ञो की सेवाकर एवं अन्य कवियो के निबन्धनो को देखकर काव्यकर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए।[२] दण्डी ने इसी को लोक, विद्या, प्रकीर्ण इन तीन काव्यांगो मे समाहित किया है। लोक से उनका तात्पर्य लोकव्यवहार से है। कवि अपने वर्ण्य-वस्तु को मूलरूप मे लौकिक जगत् से ही ग्रहण करता है, जो उसकी प्रतिभा के आवेश से अपूर्णरूप धारण कर सहृदय के समक्ष उपस्थित होते है। विद्या मे व्याकरण, अभिधान, कोश छन्द शास्त्र, कला, कामशास्त्र और दण्डनीति का समावेश किया गया है। प्रकीर्ण मे लक्षज्ञत्व,

---

१ एतत्किं शिरसि स्थितं मम पितु॑, खण्ड सुधाजन्मनो।
लालाटं किमिदं विलोचनमिदं, हस्तेऽस्य किं पन्नगा॑।।

-राजशेखर काव्यमीमांसा अध्ययन -५

२ लोकोविद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि। १/३/१ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः १/३/२ शब्दस्मृत्यभिधान कोश छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वविद्या॑। -वही १/३/३ लक्षज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षण प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् । - वही, १/३/११

अभियोग वृद्धसेवा और अवक्षेप तथा प्रतिभान की गणना है। महाकाव्यो का अवलोकन लक्षज्ञत्व है, अभियोग का अर्थ निरन्तर उद्योग और परिश्रम है। काव्यमर्मज्ञो की सेवा वृद्धसेवा है कौन सा पद रखना चाहिए और कौन सा हटा देना चाहिए यह अवक्षेप है। जन्मसिद्ध संस्कार जो कवित्व का बीज स्थानीय है प्रतिभान है। एकाग्रता अवधान है। इन काव्याङ्गो से सस्कारयुक्त होती हुई कवि की प्रतिभा नूतनअर्थ को परिस्फुरित करती है। अत कवि को यथा संभव व्यापक विश्व के विभिन्न क्षेत्रो का जितना ज्ञान हो सके उतना ही उसका काव्य सशक्त होगा। इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्त कहते है कि समस्त वस्तुओ के पौर्वापर्य के परामर्श का कौशल ही व्युत्पत्ति है।[१]

राजशेखर के मत मे प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि पद का अधिकारी है। उन्होने शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि रूप से उनके भेदत्रय का निरूपण किया है[२] इनके सापेक्ष महत्त्व के विषय मे श्यामदेव का कथन है कि इनमे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है, परन्तु यायावरीय राजशेखर के मत मे अपने-अपने विषय मे सभी श्रेष्ठ है। न तो राजहंस चन्द्रिका का पान कर सकता है और न चकोर पानी से दूध से अलग कर सकता है। जो शास्त्र कवि है वह काव्य मे रससम्पत्ति का विच्छेद कर देता है। काव्यकवि शास्त्रीय तर्क-कर्कशता को भी उक्तिवैचित्र्य से शिथिल कर देता है, और उभय कवि दोनो विषयो में प्रवीण होता है। इनमे शास्त्र कवि तीन प्रकार के होते है प्रथम जो शास्त्र का निर्माण करता है, द्वितीय जो शास्त्र मे काव्य का निर्माण करताहै, तृतीय जो काव्य मे शास्त्र का सन्निवेश करता है। पुन काव्यकवि रचनाकवि, शब्दकवि, अर्थकवि, अलंकारकवि, उक्तिकवि रस कवि मार्गकवि

---

१ व्युत्पत्तिः तदुपयोगि समस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ।
- अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक लोचन पृ० १३७

२ प्रतिभा व्युत्पत्तिमाश्च कविः कविरित्युच्यते।
स चा त्रिधो शास्त्रकवि काव्यकविरुभयकविश्च।। -काव्यमीमासा अध्याय-५

और शास्त्रार्थकवि भेद से आठ प्रकार के होते है, जो क्रमश रचना, शब्द अर्थ, अलंकार उक्ति रस, मार्ग (रीति) और शास्त्रो मे प्रतिपादित विभिन्न अर्थो को अपना विषय बनाते है। महाकवि इन समस्त गुणो से युक्त ही होता है। इन विभिन्न क्षेत्रो से होती हुई कवियो की अनुभूतिया और विचार उसकी प्रज्ञा मे संसुघटित होकर काव्य मे अबध रूप से निःसृत होती है। इसीलिए आचार्य राजशेखर ने देह और मन की स्वस्थता, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वानो के साथ परिचर्चा, पाण्डित्य, अटूट स्मरणशक्ति और उत्साह कवित्त्व की इन अष्ट माताओ का प्रतिपादन किया है जिसमे अकेली प्रतिभा ही कवित्व की सच्ची जन्मदात्री है, शेष धायमाताओ मे व्युत्पत्ति प्रमुख है जिसकी उपेक्षा से काव्य शिशु दुर्बल भी हो जाता है।[१]

अतएव काव्योद्भव मे प्रतिभा मूलकारणभूता तो है, परन्तु उसके व्यामोह मे कवि का ज्ञानक्षेत्र भी अनुपेक्षित है, क्योकि लोकज्ञान ही काव्य की मूल सामग्री है। छन्द, व्याकण, अभिधान आदि का ज्ञान जो काव्यनिर्माण की अङ्गविद्याएं तथा चित्रशिल्पादि विविध कलाओ और चतुर्वर्ग प्रतिपादन एवं इतिहासादि का अनुशीलन कवि के कवित्व को सशक्त बनाता है। महाकवि भवभूति के कवि-पाण्डित्य की इस अनिवार्यता को ध्यान मे रखकर उसकी अपेक्षा की है "वेदो के अध्ययन, उपनिषद, सांख्य योग आदि के ज्ञान की बात कह लेने मात्र से क्या प्रयोजन? नाटक मे किसी गुण की प्राप्ति तो नही होती परन्तु ये कवि वाणी की प्रौढ़िमा और विदग्धता के पर्याप्त साक्षी है।[२]

---

१ स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ इमाः कवित्वस्य। -काव्यमीमासा, अध्याय-१०

२ यद्वेदाध्ययन तथोपनिषदा साख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि तसःकश्चिद्गुणोनाटके।
यत् प्राढत्वमुदारता च वचसा यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्थि ततस्तवेव गमकं पाण्डित्यत्वैक वैदग्धययोः।। -मालतीमाधव १/७

कवि का पाण्डित्य यदि काव्यामृतरूप मे प्राप्त हो जाए तो हम ऐसे पाण्डित्य का स्वागत करते है, परन्तु जब शास्त्र और पाण्डित्य की प्रौढिमा काव्य मे पिष्टपेषणता के रूप मे उदित होती है तो वह सहृदय के हृदय मे उस चमत्कार को नही उत्पन्न कर पाती जो **'ललितोचितचारूसन्निवेश'** के माध्यम से उन्हे प्राप्त होता है। यही कारण है कि काव्य की विकास-परम्परा मे कालिदास की प्रसाद मधुरावाणी, कविता का सहज लालित्य, भावो की हृद्यवैषद्य, शैली का सुकुमार संघटन और सहज मनोरम सौन्दर्य से मण्डित काव्य साधारण सहृदयो के मन को रमाने मे सहजरूप से समर्थ रहे, परन्तु भारावि और श्रीहर्ष आदि कवियो के काव्य विद्वान, सहृदयो के लिए भले ही औषधि हो परन्तु सामान्य सहृदयो के चित्त को हरण करने मे सापेक्षतया पीछे रहे।

पाण्डित्य-प्रदर्शन का क्लेश यह भी है कि अपेन आप को प्रौढ समझकर कवि गर्वोन्मत्त होकर जब सरल हृदय सहज काव्य का मार्ग त्याग कर उसे अपने ज्ञान की निधि से जटिल ग्रन्थि बना देता है तो ऐसे काव्यो को सामान्य सहृदय पाठको की उपेक्षा का विषय ही बनना पड़ता है, क्योकि वह कवि के इस ज्ञानग्रन्थि के खोलने मे अपने अभीप्सितार्थ रसास्वाद से विमुख हो जाता है, जो झटिति प्रतीति का विषय है और सद्यः परमानन्द की अवाप्ति मे समर्थ है। अतएव व्युत्पत्ति वस्तुओ का पूर्वापर परामर्श की विचक्षणता है। इस विमर्शन से संस्कारित प्रतिभा ही उत्कृष्ट काव्य का आधारभूत कारण बनती है। सम्भवतः इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर राजशेखर ने कहा कि "प्रतिभा और व्युत्पत्ति परस्पर घुलकर ही श्रेयस्कर होती है।[१]" कवि-प्रतिभा मे जब कल्पनाएं रूपायित होती है तो उनका परीक्षण और छोड़ने और जोड़ने का विमर्शन कार्य कभी साथ-साथ और

---

१ प्रतिभा व्युत्पत्ति मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति। -काव्यमीमांसा, अध्याय-४

कभी कवि के अनजाने मे चलता है, किन्तु कहा नही जा सकता कि सभी प्रतिभाशालियो मे यह औचित्यज्ञान सर्वदा जाग्रत ही रहता है। क्योकि सनातन धर्म मे जगत् के माता-पिता माने जाने वाले पार्वती, परमेश्वर के समागम का 'कुमारसंभवम्' मे वर्णनकर कालिदास जैसा महाकवि भी आलंकारिक आचार्यो के आक्षेप का भाजन हुआ। ऐसे वर्णन कवि-समय के अनुसार निषिद्ध है। क्या इस वर्णन के रच्यमान क्षणो मे कविकालिदास का **'उचितानुचितविवेक'** नष्ट हो चुका था। यदि नही तो फिर इसका कोई औचित्य यहॉ प्रतीत नही होता है।

अतः व्युत्पत्ति कविकर्म के निर्वाह हेतु एक ऐसा तत्त्व है, जिसके बिना काव्य के स्वरूप का निर्माण नही होता। वह काव्य के भव्य भवन के निर्माण हेतु दिया जाने वाला कच्चा माल है। वह प्रतिभा भी भॉति अपरिहार्य नही, परन्तु अत्यावश्यक अवश्य है।

अभ्यास

अभ्यास पूर्णता का विधायक तत्त्व होता है। पुनः-पुन अभ्यास के द्वारा व्यक्ति की विषय मे पैठ बन जाती है और वह प्रवृत्त विषय मे सिद्धहस्त हो जाता है। भूतकाल से वर्तमान काल तक के कवियो के कवित्व विषयक मीमांसा के आलोक मे यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि केवल अन्त स्फूर्ति के दबाव से काव्य निर्माण मे प्रवृत्ति नही होती। बाह्यकारण सन्निवेश संघटनाएँ किसी को कवि बनने के लिए प्रचोदित कर सकती है। प्राचीन काल मे ऐसी धारणा रही है कि विद्वान् मे यदि काव्य-रचना की सामर्थ्य न हो तो उसकी विदग्धता पूर्ण नही। राजसभा विद्वद्गोष्ठी आदि स्थानो मे शास्त्रार्थ और काव्य-विनोद एवं समस्यापूर्ति हुआ करते थे, जहां कवि बार-बार अभ्यास के द्वारा प्रादूर्भूत अपनी काव्यधारा से उपस्थित जनो को अभिषिक्त करता था। उज्जैन आदि नगरियो में कवियो की परीक्षाएँ भी हुआ करती थी।

अत जब कवित्व के लिए विशेष प्रोत्साहन पुरस्कार प्रतिफल थे, तब विद्वानो का काव्याभ्यास की ओर आकर्षित होना आश्चर्य की बात नही। उक्त तथ्य मे चाहे अतिशयोक्ति की गन्ध भले हो पर इतना तो नितान्त सत्य है कि काव्य-निर्माण मे जिनकी जरा भी सहजप्रवृत्ति हो वह बार-बार अभ्यास के द्वारा अपनी प्रतिभा को संस्कारित कर उसे उद्दीप्त कर सकता है।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति का समन्वित आधार ग्रहण कर कवि अभ्यास के बल पर महाकवि पद को प्राप्त कर सकता है यही कारण है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य दण्डी ने काव्य के साधक हेतुओ मे प्रतिभा के साथ शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक बताया है। उनकी सम्मति मे केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नही होती है उसके लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास का समान सहयोग अपेक्षित है। प्रतिभा तो पूर्वजन्म की

वासना के गुणो पर आधारित रहती है अत किसी व्यक्ति को प्रतिभा यदि सहज रूप मे प्राप्त नही हुई तो उसे निरूत्साहित होकर काव्य कर्म से उदासीन नही होना चाहिए, अपितु शास्त्र एवं बार-बार अभ्यास से यदि काव्य की उपासना की जाय तो निश्चय ही उस पद वाग्देवी सरस्वती अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है।[१] काव्य-शक्ति अल्प होने पर भी यत्नशील लोग विदग्धगोष्ठियो मे सिर ऊँचा करके चल फिर सकते है।[२]

अभ्यास का अर्थ है काव्यमर्मज्ञो से विधिवत् शिक्षा लेकर निरन्तर काव्य-निर्माण की प्रवृत्ति करते रहना, पुनः-पुनः प्रवृत्ति ही अभ्यास है।[३] प्राचीन कवियो के साथ अपने नवनिर्मित श्लोको का जोड़-तोड़ अभ्यास है। पुरातनपद्धति के अनुसार कवि शिष्य बनकर अपने गुरू या उस्ताद से कविता सीखता था उसके संशोधन कर लेने पर ही कवि श्रोताओ के समक्ष जाता था। काव्यविद्या को ग्रहण करने के लिए गुरुकुलो का, शिक्षणालयो का आश्रय लिया जाता था। और इस प्रकार से शिक्षित कवि को 'काव्यविद्यास्नातक' की संज्ञा मिलती थी।[४] इस अभ्यास के स्तरो का परिचय इस दृष्टि से दिये गये कवियो के नामो से हो जाता है। पहले कवि अपने मन ही मन काव्य की सर्जना करता है और संकोचवश उसे छिपाता है। दूसरो के समक्ष प्रस्तुत नही करता ऐसा कवि **'हृदय कवि'** कहलाता है। कुछ संकोच हटने पर भी दोषभय से अपनी रचना को दूसरे का नाम देकर पढ़ता है। उसे

---

१ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारण काव्यसम्पद। -काव्यादर्श १-१०३

२ - काव्यादर्श १-१०५

३ काव्यं कर्तु विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन
करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति । -काव्यप्रकाश मम्मट १ ३ वृत्ति

४ य कवित्वकाम काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातक।
- राजशेखर काव्यमीमांसा अध्याय-५

'अन्यापदेशी' कहा जाता है। जो किसी कवि को अपना आदर्श बनाकर उसकी छाया पर काव्यरचना करता है वह **'सेविता'** है। जो प्रकीर्णरूप से रचना करने लगता है वह -**घटमान'** कवि कहलाता है पूर्वप्रबन्ध का स्त्रष्टा **महाकवि** बन जाता है। जो विभिन्न भाषाओ और रसो मे अनेक प्रबन्धो की निर्बाध रचना करने लगता है वह **'कविराज'** पद को धारण करता है। जो मंत्रादि के उपदेश से सिद्धि प्राप्त कर आवेश के समय कविता करता है वह **'आवेशिक'** कवि है। जब इच्छा हो तभी निरवच्छिन्न कविता करने वाला **'अविच्छेदी'** है और मन्त्रसिद्ध जो कवि कन्याओ और कुमारो मे सरस्वती का संचार कर देता है उसे **'संक्रामयिता'** कहते है। कवियो की यह उपाधियॉ सहजा और आहार्या प्रतिभा के आधार पर पुन-पुनः अभ्यास करने की है।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से कवियो के वाक्यो मे परिपक्वता आती है यह 'काव्यपाक' है जो सुबन्त और तिङन्त शब्दो की श्रोतमधुरा व्युत्पत्ति है।[१] अन्य आचार्यो के मत मे पदगुम्फन मे निष्कम्पता ही 'पाक' है। कहा भी गया है कि पदो को रखने तथा हटाने मे प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक मन दोलायमान रहता है। जब पदो की स्थापना मे स्थिरता आ जाय, तो समझना चाहिए की कवि की सरस्वती सिद्ध हो गयी।[२] राजशेखर ने इस अभ्यास की प्रक्रिया को विभिन्न नौ पाको मे ऑका है। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी का कहना है कि यह तो अशक्ति है पाक नही, क्योकि एक ही विषय मे महाकवियो के अनेको भी पाठ परिपक्व होते है। अत रसोचित

---

१ सुपां तिडां च व्युत्पत्ति वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।
तदेतदाहु सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।। -भामह-काव्यालकार १-१४

२ अवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मन।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती। -काव्यमीमासा, अध्याय-५

शब्दार्थ तथा सूक्तियो की रचना को पाक कहते है।[१] पूर्ण रस परिपाक ही अभ्यास का अन्तिम लक्ष्य है।

प्राचीन काल मे काव्यशिक्षा का नियमित पाठ्यक्रम रहता था। स्वय राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा मे कविचर्या कैसी हो?, शब्दहरण कैसे किया जाय?, अर्थहरण की क्या विधि है? इनकी शिक्षा दी है। काव्य वाचको व्यासो और कवियो की उपरोक्त वर्णनपद्धति स्पष्ट करने के लिए वर्णक साहित्य की सृष्टि हुई। ज्योतिरीश्वर[२] का वर्ण्यरत्नाकर ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसमे काव्य मे वर्ण्यवस्तु के प्रति सूक्ष्म प्रतिपादन प्राप्त होता है।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यासके मूल मे कवि-स्वभाव निहित है। कविके अनुरूप ही इन तीनो की विशेष परिणति होती है।[३] स्वभाव की विभिन्नता ही विभिन्न काव्यसरणियो को जन्मदेती है। शक्ति और शक्तिमान मे अभेद होने से सुकुमारस्वभाव वाले कवि की सहजशक्ति भी सुकुमार व्युत्पत्ति को धारण करती है उस शक्ति तथा व्युत्पत्ति के द्वारा वह सुकुमार-मार्ग से अभ्यास मे तत्पर होकर काव्य-रचना करता है। इसी प्रकार सुकुमार-मार्ग से भिन्न वैचित्र्य के कारण सहृदयो को आह्लाद प्रदान करने वाला कवि विचित्र-स्वभाव का होता है। वह विचित्र-शक्ति के द्वारा वैदग्ध्य के कारण मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता हुआ वैचित्र्य के वासना से अधिवासित चित्त वाला होकर विचित्र मार्ग के आश्रयण से काव्याभ्यास करता है। इस प्रकार दोनो कवियो के कारण भूत विचित्र एवं सुकुमार से युक्त स्वभाव वाले कवि की

---

१ इयमृशक्तिर्नपुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीन्नामलनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति तस्माद्रसोचित शब्दार्थसूक्तिनिबन्धनपाकः। -काव्यमीमासा, अध्याय-५

२ ज्योतिरी रत्नाकर निबन्ध, हिन्दीसाहित्य परंपरा और परख, पृ० २२

३ सम्प्रति तत्र ये मार्गा कविप्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।। -वक्रोक्तिजीवित १/२४

उसके अनुरूप ही विचित्र शोभा के अतिशय से सुशोभित होने वाली शक्ति उल्लसित होती है उस शक्ति के द्वारा वह सुन्दर व्युत्पत्ति का उपार्जन करता है तथा दोनो की छाया के परिपोषण से काव्य के कोमल अभ्यास मे तत्पर हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक स्वभाव वाले कविजन काव्य को समस्त कारण समुदाय की पराकाष्ठा से मनोहारी सुकुमार, विचित्र या उभयात्मक काव्य की रचना करते है।

कवि-स्वभाव के अनुरूप उसी ढंग की सहजशक्ति कवि मे उल्लसित होती है, तथा उस शक्ति के द्वारा वह कवि उसी प्रकार की व्युत्पत्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार शक्ति और व्युत्पत्ति के बल पर अभ्यास करता हुआ काव्य रचना करता है अतः मेरे विचार मे शक्ति तो कवि मे सहज रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य रूप से प्राप्त होते है, जब कि काव्य-सर्जना मे केवल शक्ति ही कारण नही होती व्युत्पत्ति और अभ्यास भी कारण होते है, क्योकि अनादिवासना से अधिवासित अन्त करण वाले सभी अपनी व्युत्पत्ति और अभ्यास के अनुसार ही काव्यकर्म मे प्रवृत्त होते है। व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनो कवि-स्वभाव की अभिव्यक्ति कराते है। कवि अपने स्वभाव के अनुरूप अपनी प्रतिभा के बल पर व्युत्पत्ति और अभ्यास से परिपोष प्राप्त करते हुए काव्य-सर्जना करते है। अकेले प्रतिभा काव्य का उद्भव नही कर सकती, क्यो कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा चरितार्थ होती है। यदि कवि अभ्यास न करे तो कवि-कर्म मे उसकी प्रवृत्ति ही न होगी। इसलिए ठीक ही कहा है **अनभ्यासे विषं शास्त्रम् ।** शास्त्रविषयक यह उक्ति काव्य पर भी घटित होती है। काव्यहेतु रूप मे इन तीनो तत्त्वो की अपरिहार्यता की मात्रा क्रमशः घटती जाती है। कैसी भी व्याख्या की जाय पर कवित्व मे समग्र प्रासाद की मूल आधार शिला प्रतिभा ही है।

अध्याय-४

सर्जना और रस

अध्याय-४

सर्जना और रस

काव्य-सर्जन और रस-सिद्धान्त

भारतीय वाड्मय का काव्य शब्द वस्तुत रस के समस्त साहित्य का पर्याय है। जीवन की अनन्तता और व्यापकता की भाँति काव्यकृतियो मे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् की अनुभूतियो एवं वस्तुओ का सहज सम्मिश्रण होता है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। काव्य के विशाल प्रदेश मे उसकी विभिन्न विद्याओ के जितने भी रचना प्रक्रिया गत रूप दृष्टिगोचर होते है उनमे सर्वत्र जीवन की रागात्मिका अभिव्यञ्जना का पक्ष ही मुखर है। कहने की आवश्यकता नही है कि काव्य का चरम साध्य आनन्द है,[१] जो राग और बोध तथा भावना एवं कल्पना का जीवन्त चित्र अंकित करता हुआ जड़ एवं चेतन मे अद्भुत सामरस्य लाने की चेष्टा करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रमुख पतिपाद्य रस है। काव्य-सर्जना का विस्तार हमारी जीवन चेतना का ही रसप्रबुद्ध आत्मप्रसार है। कवि का सर्जनात्मक व्यापार अनुभूति से अभिव्यक्ति की दिशा मे सतत विकासशील रहता है? परन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र के चिन्तक आचार्यो ने रस या सौन्दर्यानुभूति की जितनी मीमांसा सहृदय या सामाजिक की आस्वादन-प्रक्रिया की दृष्टि से की उतनी कवि की सर्जना-प्रक्रिया की दृष्टि से नही की। अत रस सिद्धान्त के परम्परागत स्वरूप पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि

---

[१] सकलप्रयोजनमौलिभूतं - समनन्तरमेवरसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्या-सन्तरमानन्दम्। - काव्यप्रकाश १/१ वृत्ति

वह काव्य के स्रष्टा और उसके सर्जना-व्यापार की उपेक्षा करता है और निश्चय ही यह आक्षेप एक सीमा तक उचित प्रतीत होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि काव्य के आत्मभूत ब्रह्मानन्दसहोदर इस अलौकिक तत्त्व मे ऐसी सामर्थ्य का अभाव है जिसके बल पर सर्जन-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जा सके। वस्तुत इस दृष्टि से रस-सिद्धान्त पर विचार ही नही किया गया, अन्यथा सर्जन-प्रक्रिया का जैसा स्पष्ट एवं सुसंगत चित्रण रस-सिद्धान्त के द्वारा सम्भव है, वैसा अन्य किसी काव्यशास्त्रीय या सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्व द्वारा नही। अलङ्कारशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थो मे काव्यसर्जनापरक धारणाओ एवं विचारो का निरूपण मिलता है जिसके आलोक मे काव्य का निर्माणपक्ष साक्षात् प्रतिबिम्बित होता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने काव्योद्भव के मूल मे निहित प्रतिभा के विषयीभूत रस को काव्यसर्जना का मूलतत्त्व स्वीकार किया है।[१] आचार्य अभिनवगुप्त का मानना है कि रसावेशवैशद्य एवं सौन्दर्यानुभूति के धरातल पर ही उतरकर प्रतिभा नवसर्जना का अपूर्व संसार निर्मित करती है।[२] आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि रसानुकूल चिन्तन मे एकाग्रचित्त कवि ही पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करते हुए नवसर्जना मे प्रवृत्त होता है।[३]

अतः कवि-हृदय मे रस की उष्णता पैदा होने पर ही उसकी प्रतिभा उज्जवल बनती है। अपनी रसानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए ही कवि काव्य-सर्जना करता है। इसलिए उसकी प्रतिभा रस के अनुसार चलती है। कवि जब

---

१ न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थ प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र ६/३१

२ तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम् - ध्वन्यालोक लोचन पृ० २९

३ रसानुगुणशब्दार्थचिंतास्तिमितचेतस।
क्षण स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवे। - व्यक्तिविवेक २/११,७

रसपरवश रहता है तब उसकी शक्तिविशेष 'प्रतिभा' भी रस से शासित होकर नया अर्थ खोजती है और यदि रस से मेल न खाने वाले अंश चमक जॉय तो तत्काल उन्हे मिटा देती है। कवि-प्रतिभा को जब तक इस प्रकार की तन्मयता प्राप्त नही होती, तब तक वह सुस्वाद नवसर्जना कैसे कर पायेगी? इस सन्दर्भ मे यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी कि प्रतिभा सरपट दौड़ने वाले घोड़ो की भॉति है। उन्हे सही मार्ग पर चलाने वाला सारथि है- कवि का रसावेश। **'यावत् पूर्णोनि चैतेन तावन्नैववमत्यमुम्'** अर्थात् जब तक कवि हृदय रस से परिपूर्ण नही हो जाता तब तक काव्य पंक्ति प्रस्फुटित ही नही होती है।

अतः काव्य-सर्जना के प्रस्फुटन के लिए पहले कविके हृदय का रस की उत्कटता से भर जाना अपेक्षित है। इस तरह सर्जना से त्वरितपूर्ण की दशा मे कवि जिस प्रक्रिया से गुजरता है, रसावेश की दृष्टि से वह सहृदय द्वारा अनन्तर अनुभूत स्थिति के समान ही है। अतः रसात्मक बोध की स्थिति पहले कवि के साथ है और इस प्रकार काव्य-सर्जना का सम्बन्ध रस सिद्धान्त से सीधा जुड़ जाता है।

रस की अवधारणा

काव्य सर्जना एक अखण्ड, सजीव एवं विकासशील प्रक्रिया है जिसका प्रारम्भ कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा मे निहित है। जो कवि के रसावेशित हृदय मे अपना व्यापार करती है। यही कारण है कि नाट्याचार्य भरतमुनि ने रस को काव्य रूपी वृक्ष का मूल स्वीकार किया है।[१] इस सन्दर्भ मे आचार्य अभिनवगुप्त का वह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमे उन्होने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है कि बीज स्थानीय कविगत रस से वृक्ष स्थानीय काव्य उत्पन्न होता है उसमे पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है, जिसमे फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए सामाजिक के लिए सारा काव्यजगत् रसमय ही होता है।[२] अभिनवगुप्त का मूल मन्तव्य यह है कि बीज से लेकर फलोत्पत्तिपर्यन्त वृक्ष के विकास की जो सहज-प्रक्रिया है वही कविगत अनुभूति की काव्य की माध्यम से सहृदय के रसास्वादन मे परिणति की भी प्रक्रिया है। अत॰ कविगत रस काव्यरूप वृक्ष के मूल मे स्थित रहते है। इसलिए इसी के द्वारा आनन्दास्वाद प्रीतिपूर्वक **'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'** इत्यादि रूप उपदेश का ज्ञान होता है।[३] अतः अभिनव के मत मे काव्य कविगत साधारणीभूत अनुभूति है। यही संवित् परमार्थतः रस है। काव्य इसी रसात्मक

---

१ यथा बीजद्भवेद् वृक्षोवृक्षात्पुष्पंफलं यथा।
तथा मूलं रसा॰ सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता॰।। - नाट्यशास्त्र ६/३८

२ तदेवं मूलं बीज स्थानीय॰ कविगतो रसः। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनव्यापार॰। तत्र फलस्थानीय॰ सामाजिकरसास्वाद॰। तेन रसमयमेव विश्वम् । - अभिनवभारती, भाग-१, अध्याय-६/३८

३ बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिमिति। - अभिनवभारती, भाग-१, अध्याय-६

संवित् की शब्दार्थमय अभिव्यञ्जना है जिसके माध्यम से सहृदय भी कविगत रससंवित् का साक्षात्कार करने मे समर्थ होता जाता है।[१] आद्याचार्य भरतमुनि ने **'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते'** के द्वारा इसी सत्य की ओर संकेत किया है।[२]

आचार्य राजशेखरने भी भावयित्री प्रतिभा के सन्दर्भ मे कवि-कर्म को वृक्ष की ही उपमा दी है।[३] आदिकवि के शोक की श्लोक परिणति मे लोचन-कार अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को प्रकट किया है कि वाल्मीकि शोकानुभूति उसी प्रकार छन्दोमय रूप मे छलक पडी जैसे रस से परिपूर्ण कलश छलक पड़ता है। अतः कवि-सर्जना वस्तुत कविगत रस का ही उच्छलन है।

रस की अनुभूति वस्तुत आनन्द की अनुभूति हैं। इसीलिए इसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। जगत् का कारण ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। उसी आनन्दमय ब्रह्म से प्रपञ्चात्मक जगत् उद्भूत होता है- और पुन उसी मे लीन भी होता है। वह आनन्द की उच्चतम कोटि जिसमे सारे आनन्द एकीभूत हो जाते है। काव्य रसरूप है। इसकी रसरूपता मे आनन्द का अनुभव होता है। अतः ब्रह्म रसरूप है।[४] रस को ही प्राप्त कर जगत् का प्राणी आनन्दित होता है।[५] यह रसात्मक ब्रह्म जब जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे रम रहा है। तब यह

---

१ कविगतसाधरणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नट्व्यापार। सैव च सवित्परमार्थतो रस। सामाजिकश्च तत्प्रीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धार बुद्धया विभावादिप्रतीतिरिति। - अभिनवभारती, भाग-१, अध्याय ६

२ नाट्यशास्त्र, अध्याय-७, श्लोक २

३ तया खलु फलित कवेर्व्यापारतरु अन्यथा सोऽवकेशीस्यात्।
-काव्यमीमासा अध्याय-४

४ अखण्डं सच्चिदानन्दमवाड्मनसगोचरम् ।
आत्मानमाखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।। - वेदान्तसार- मङ्गलश्लोक

५ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। - तैत्तिरीय उपनिषद् २.७ १

कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थो मे रस को उत्पन्न करने की क्षमता नही है? वस्तुस्थिति तो यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है और काव्य गृहीत होने पर आनन्ददायक है।[१] लोकस्थिति का रसावेशित शाब्दिक चित्रण ही वस्तुतः काव्य है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अवश्यमेव किसी न किसी रस का अङ्ग बनती है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ किसी चिद्वृत्ति विशेष को उत्पन्न करता है। आचार्य आनन्दवर्धन का मानना हैं कि यदि वह पदार्थ किसी वृत्तिविशेष को उत्पन्न नही करता है तो वह कवि का विषय भी नही है।[२] कवि की दृष्टि मे उसकी सत्ता नही के समान है। इस युक्ति से देखने पर तो संसार की प्रत्येक वस्तु कवि के वर्णन का विषय बनती है, क्योकि वह किसी न किसी रस का अंग होती है। यही कारण है कि कवि किसी विशिष्ट वस्तु को ही अपनी सर्जना का विषय नही बनाता प्रत्युत वह मुक्तहस्त से प्रत्येक वस्तु का, चाहे वह क्षुद्र से क्षुद्रतम अथवा महान् से महत्तम समानमात्रेण समावेश करता है। उसकी भावना से भावित होने पर प्रत्येक वस्तु रसत्व को प्राप्त कर लेती है। वह केवल वस्तु मे ही नही अपितु अवस्तु मे भी अपनी काल्पनिक शक्ति के द्वारा काव्योचित रमणीयता और मनोज्ञता की उद्भावना कर देता है।[३] अत उसकी दृष्टि मे

---

१ तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात।
- अभिनवभारती ६/३१ वृत्ति

२ वस्तु च जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। चित्तवृत्ति विशेषा- हि रसादेयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यत्र चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । आनन्दवर्धन। - ध्वन्यालोक ३/४३ वृत्ति

३ रम्यं जगुप्सितमुदारमथापिनीचमुग्र प्रसादि गहनं विकृत च वस्तु।
यद् वाऽप्यवस्तु कविभावक-भावनीय तन्नास्ति यन्न रसभावगुणैति लोके।।
-धनञ्जय-दशरूपक ४/८५

कोई भी वस्तु न तो गर्हणीय है और न ही उपादेय। उसकी सर्जना मे सभी समानरूप से अवतरित होते है।

काव्य का मूलस्रोत भावो की अभिव्यक्ति है। कविहृदय मे उद्वेलित होने वाले भावो को शब्दो के माध्यम से जो वस्तु प्रकट करती है उसी का नाम काव्य है। अत॰ भावानुभूति भावाभिव्यक्ति का प्रथम सोपान है। कविहृदय मे रस का उदय तब तक नही हो सकता जब तक कवि उस भाव से स्वय आप्लुत न हो। उसके हृदय मे भाव इतना भर जाता है कि वह छलकने लगता है तब रसमयी कविता का जन्म होता है। रसरूपता को प्राप्त होने वाले जिस भाव की चर्चा आचार्य भरत ने की है वह रसात्मक वीताविघ्नभाव मूलतः पहले कविहृदय मे ही उद्भूत होता है।[१] रसोमीलन के प्रथम प्रतिष्ठापक आचार्य भरत ने काव्य मे रस महात्म्य स्वीकार कर भावो से ही रस की निष्पत्ति मानी है।[२] उनका मानना है कि जैसे अनेक प्रकार के व्यञ्जन, औषधि आदि भोज्यद्रव्यो के संयोग से भोजन मे सुस्वादु रस निष्पन्न हो जाता है उसी प्रकार नाना मनोभावो के संयोग से स्थायी भाव रस के रूप मे परिणत हो जाता है। अथवा जैसे गुड़ आदि वस्तुद्रव्यो, व्यञ्जनो, औषधियो के संयोग से षाडव रस निष्पन्न होता है, वैसे ही नाना भावो के संयोग से स्थायी भाव रसत्व (आनन्द) की कोटि मे पहुॅच जाते है।[३] आचार्य भरत की रस परिकल्पना वैदिक साहित्य के **"यद्वै सुकृतं तद्वैरसः"** पर आधारित जान पड़ती है। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे **'सुकृत'** शब्द का प्रयोग 'शोभनीय

---

१ रसानात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राहणो भाव एव रस॰।

२ न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित॰। - नाट्यशास्त्र ६/३६

३ यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति॰। यथा हिगुडादिर्मिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनरैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। - नाट्यशास्त्र ६/३१ की कारिका का गद्यभागे

ढंग से सजाये हुए' के अर्थ को मिलता है और भरत की शास्त्रीय विधि से संयोजित नाट्यसामग्री तथा स्थायीभावो के संयोग से निष्पन्न रस को नाट्यरस की संज्ञा देते है। वैदिक परिकल्पना रस मे रूप और आधार दोनो के समन्वय का सङ्केत देती है तथा आचार्य भरत भी इसी दृष्टि को अपनी नाट्य रसपरिकल्पना मे प्रश्रय देते हुए प्रतीत होते है।

कवि-सर्जना और रस-निष्पादक तत्त्व

काव्यकृति एक ऐसी शाब्दिक निर्मिति है, जिससे किसी भाव, वस्तुस्थिति, अथवा व्यक्ति काबोध होता है। इन्ही को एक शब्द मे काव्यार्थ कहा जाता है। रससिद्धान्त के अनुसार काव्यसर्जन आत्मेतर विषयो के माध्यम से कवि के भावो का ही काव्यगत निबन्धन है। काव्यजगत् का निर्माण कवि अपने भावजगत् के आधार पर करता है। उसके वैचित्र्य विधान मे उसकी भावानुभूति ही आधारभित्ति होती है, क्यो कि भावबोध के अभाव मे रसप्रतीति का अन्तदर्शन ही असम्भव है। जब तक कवि का हृदय रसोवेशित नही होता, तब तक काव्य की अविरल धारा प्रस्फुटित नही होती है। काव्य-सर्जना का समग्र विवेचन रससिद्धान्त के मूल मे स्थित दो रूपो मे किया जा सकता है भाव-पक्ष और विभावपक्ष -

दोनो तत्त्वो मे प्रधानता के कारण भावपक्ष को ही प्रधानता दी जाती है। कवि अपनी स्थायीभावात्मक प्रवृत्ति अर्थात् मूलप्रकृति, रूचि, मनोवृत्ति प्रेरणा आदि के अनुसार आलम्बन या विषयवस्तु के प्रति संदर्भविशेष, अनुकूल परिस्थिति या वातावरण (उद्दीपन) के प्रभाव से आकर्षित होकर अपने सर्जनात्मक व्यापार मे प्रवृत्त होता है। मूल प्रवृत्तियॉ या स्थायीभावो के अनुकूल परिस्थितियॉ वातावरण ही रसप्रक्रिया मे विभाव की संज्ञा धारण करते है जो कविहृदय मे जन्मजन्मान्तर से विद्यमान स्थायीभावो मे एक ऐसा स्पन्दन उत्पन्न करते है, जिससे वे अपेनी पूर्णदशा मे प्रकट हो कवि को तदनुकूल काव्यचिन्तन मे बलादाकृष्ट कर लेते है। जब उस विषय मे उसकी प्रवृत्ति इतनी गहन हो जाती है कि उसका आधारभूत विषय के साथ सामञ्जस्य या तादात्म्य स्थापित हो जाताहै तो वह विभिन्न सहयोगी तत्त्वो (संचारीभावो) से सम्बन्धित अनुभूतियो विचारसूत्रो के सहयोग से उसे वाणी

(शब्द), चेष्टा, रूप, अभ्यांसादि विभिन्न प्रकार के अनुभावो या कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। अत: यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार के रस-सिद्धान्त के विभिन्न अवयव, रस-प्रक्रिया के विश्लेषण एवं आस्वादन-व्यापार की व्याख्या मे सहायक सिद्ध होते है उसी प्रकार ये सर्जना-प्रक्रिया के भी आधारभूत तत्त्व सिद्ध होते है। इस रसावयवो पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार कर उनके व्यापक एवं विस्तृत अर्थ को विषय बनाकर समग्रचिन्तन के आलोक मे कवि के सर्जनात्मक व्यापार पर प्रकाश पड़ता है।

स्थायीभाव-	जन्मजन्मान्तरागत कविहृदयस्थ मूल प्रवृत्तियॉ, भावनाएं, ग्रन्थियां एवं रुचियॉ	काव्यसर्जना के मौलिक तत्त्व
	आलम्बन- वस्तुजगत् , व्यक्ति, पदार्थ	काव्य-सर्जना के आधारभूत हेतु
विभाव-		
	उद्दीपन- भावनाओ के उज्जृम्भक तत्त्व (नदी, तालाब, पुष्प, वनिता वदनारविन्द, परिस्थितियां एवं वातावरण	काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्व
संचारीभाव-	अनुभूतियॉ अनुभव बोध एवं संवेदनाएं	काव्य-सर्जना के सहयोगी तत्त्व
अनुभव-	शब्दशरीर, अभ्यास, काव्यव्यवहार, अर्थाभिव्यक्ति के अन्य साधन	काव्यभिव्यक्ति के माध्यम

कवि की काव्य-सर्जना प्रक्रिया मे स्थायीभाव ही मूलतः शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त होते है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कला या सर्जना का यह वह आधारभूत केन्द्रीय तत्त्व है जो अनादि काल से मानव-मन मे वासना के रूप मे स्थित है। इसी की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है। स्थायीभाव एक ऐसी स्थिर मनःस्थिति है जो अनादि वासनारूप मे प्रमाता के चित्त मे विद्यमान रहती है। स्थायीभावो का जीवन की मूल मनोवृत्तियो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्यास्वाद के समय वासनारूप से विद्यमान स्थायी भावो का जब साधारणीकरण हो जाता है तो वे रसदशा को प्राप्त होते है। काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने मूलरूप मे इन स्थायीभावो को रस की संज्ञा प्रदान की है जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के मध्यम से अभिव्यक्त होते है। कुछ भाव विशुद्ध मौलिक होते है, कुछ सम्मिश्रित एवं व्युत्पन्न। प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान मे भावो का जो वर्गीकरण किया गया है उनमे अनेक बातो को लेकर साम्य और वैषम्य है। आचार्य भरत ने रति, हास शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय इन आठ स्थायीभावो को स्वीकृति प्रदान की है।[१] निर्वेद नवॉ स्थायी माना गया है।[२] ये नव स्थायीभाव मानव के हृदय मे स्थायीरूप से सदा भिन्न रहते है। इसीलिए इन्हे 'स्थायीभाव' कहते है ये सामान्यरूप से अव्यक्तावस्था मे रहते है; किन्तु जब जिस स्थायीभाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है, और रस्यमान या आस्वाद्यमान[३] होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित स्थायीभावो का वर्गीकरण का

---

१ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौभय तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः। - काव्यप्रकाश ४/३०

२ निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। - काव्यप्रकाश ४/३५

३ रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। - नाट्यशास्त्र ६/३ वृत्ति

आधार विशुद्ध मनौवैज्ञानिक है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने जिसे मूल प्रवृत्तियो से सम्बन्ध मनःसंवेग कहा है उन्ही को साहित्यशास्त्र मे स्थायीभाव कहा गया है। भय, क्रोध घृणा, करूणा, काम, आश्चर्य, हास, दैन्य, आत्मगौरव तथा वात्सल्य इन दस मनःसंवेगो से सम्बन्धित दस मूलप्रवृत्तियो को मान्यता प्रदान की है। उनका मानना है कि मूलप्रवृत्ति वह प्रकृति प्रदत्त शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष पदार्थ की ओर आकर्षित होता है, और उसकी उपस्थिति मे विशेष प्रकार के संवेग या मनः क्षोभ का अनुभव करता है। स्थायीभावो के विश्लेषण मे मनोवैज्ञानिक युग का मानना है कि स्थायीभाव सामूहिक अचेतन मन मे स्थित वंशपरम्परागत अनादि काल की भावप्रतिमाएं अथवा वासनाएं है जो समस्त मानव-जाति मे दीर्घकाल से विद्यमान स्थिर, स्थायी अथवा चिरकालीन संस्कारो या वृत्तियो के रूप मे प्रसुप्तावस्था मे रहा करते है। मैक्डूगल भी कहते है कि स्थिरवृत्ति वस्तुत व्यक्ति की वस्तु अथवा विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया का ही परिणाम है, जिसमें सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अनुभूति का संभार रहता है। सुख से राग और दुःख से द्वेष की उत्पत्ति होती है। काव्य-सर्जना मानव की रागात्मकवृत्ति की ही अभिव्यञ्जना है। अपने अन्तःकरण मे विद्यमान इन्ही प्रवृत्तियो की प्रतिक्रिया स्वरुप कवि काव्यपरक चिन्तन मे प्रवृत्त होता है। इन्ही संस्कारो के वशीभूत होकर उसकी कलात्मक चिन्तना परिस्फुटित होती है। सच तो यह है कि हमारे जीवन मे भाव का प्रसार वहां तक है जहॉ तक हमारी चेतना की गति है। उसे चाहे अनुभव की विधि, वेग या उर्जा का रूप माना जाय, अथवा संवेदनाओ की संहति या विसंहति का, सभी स्थितियो मे उनकी जीवनगत सत्ता का निषेध नही किया जा सकता। भाव हमारी चेतना की व्यवहारगत क्रिया है जिनमे कर्तृत्त्व-शक्ति एवं संवदेनाओ की अभिव्यक्ति समन्वित रहती है।

आचार्य भरत का मानना है कि स्थायीभाव वाणी अंग और सत्त्व से मिले हुए काव्य के अर्थो को भावित करने के कारण 'भाव' कहलाते है। कवि इन्ही स्थायी या स्थिर भावनाओ से भावित अन्तःकरण वाला होकर रसानुभव करते हुए उन्हे शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अत उनके मत मे विभावो से लाया हुआ जो अर्थ, अनुभाव से तथा वाणी, अंग और सात्त्विक भावो के अभिनय से प्रतीत होता है उसी का नाम 'भाव' है। भावो को इसलिए भी भाव कहा जाता है क्योकि उनके द्वारा वाणी अंग और मुख के राग से तथा सत्व और अभिनय से कवि की अनुभूतियां काव्यार्थरूप से नट के द्वारा प्रकाशित होती है, जो सहृदय मे भी विद्यमान मनःप्रवृत्तियो द्वारा उद्‌बुद्ध कर उनमे रस का संचार कर देती हैं। ये भाव अनेक प्रकार के अभिनयो से सम्बन्ध रखने वाले रसो को भावित करते है।

कवि की सर्जना-शक्ति को सर्जन हेतु प्रेरित एवं उद्दीप्त करने के लिए बाह्य कारणो, परिस्थितियो एवं परिवेश का योग सदा अपेक्षित रहा है। बिना उज्जृम्भण के मूल मनोवृत्तियो मे क्रियात्मकता स्वरुप धारण नही करती। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि कलाकार की सर्जना-शक्ति एक तरफ किसी रुचिकर विषय का सन्धान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मे करती रहती है तो दूसरी तरफ विभिन्न स्थितियो, परिस्थितियो, वातावरण, परिवेश या सन्दर्भ विशेष के प्रभाव के कारण विषय-विशेष मे उसकी रूचि या प्रवृत्ति अधिक हो जाती है, क्योकि जीवन और जगत् मे नाना प्रकार के विषय-वस्तु विद्यमान है किन्तु वे स्थिति अथवा परिस्थिति विशेष मे ही हमे रूचिकर प्रतीत होते है। यही कारण है कि चाहे शरत्कालीन चन्द्रिका हो या वसन्तकाल मे कोकिला का पञ्चमनाद अथवा प्रातः कालीन सूर्य की अरूणिम किरणो के स्वागत मे अपने कोमल हाथो को फैलाता हुआ कमल या फिर मलयानिल आदि तत्त्व, परिस्थिति अथवा परिवेश विशेष मे ही कवि-सर्जना के विषय बने। यही कारण है कि कालिदास 'मेघदूतम्' मे मेघ से सूर्य के मार्ग को सद्यः छोड़ देने

का अनुरोध करते हुए दीखते है।[१] उनके अनुरोध के मूल मे वातावरण, परिस्थिति परिवेश एवं सन्दर्भ का परिवर्तन ही है। कई बार तो सामान्य विषय भी परिस्थितिविशेष या युगविशेष का वातावरण, कवि के लिए इतना अधिक आकर्षक एवं रूचिकर सिद्ध होता है कि उसकी सर्जन-शक्ति उद्दीप्त होकर सक्रिय हो जाती है और वह ललित पदगुम्फन मे दत्तचित्त हो उठता है। अत कवि की इस सर्जना-शक्ति के उद्दीपन और सक्रियता के लिए दो तत्त्व आवश्यक है एक आधारभूत विषय और दूसरा परिस्थिति या वातावरण। रस-सिद्धान्त के आलोक मे कवि-सर्जनात्मकता के इन द्विविध तत्त्वो को देखा जाय तो विभाव को दो रूप आलम्बन और उद्दीपन प्राप्त होते है जिन्हे कवि-सर्जना के सन्दर्भ मे उसके आधारभूत वर्ण्यविषयवस्तु और उद्दीपन की संज्ञा दी जा सकती है।

अतः चाहे रसाभिव्यक्ति का विषय हो अथवा काव्य-सृष्टि का, यह तो नितान्त सत्य है कि मानव के अचेतन मन मे जन्मजन्मान्तर से अनेकानेक वृत्तियॉ सुप्त रूप मे निवास कर रही होती है उनके जागरण हेतु किसी बाह्य तत्त्व की अपेक्षा होती है। जब तक प्रसुप्त वृत्तियॉ बाह्यतत्त्वो के द्वारा उज्जृम्भित नही होगी तब तक उनका बाह्यप्रकाशन संभव ही नही है। काव्य-सर्जना से सम्बन्धित अनेकानेक भाव कवि की अन्तश्चेतना मे विद्यमान रहते है, परन्तु शाब्दिक अभिव्यक्ति उनकी तभी होती है जब वे जागतिक दृश्यमान पदार्थो से अथवा प्राकृतिक भव्यता से स्पन्दित होते है। यही कारण है कि

---

१ तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां पण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयमिरतो वर्त्म मानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हेतुनलिन्या
प्रत्यावृत्तास्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूय.।। -पूर्व मेघ- ४३
सुखानिलोऽयंसौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथ.।
गन्धवान सुरभिर्मासो जातपुष्फलद्रुम ।। - वाल्मीकिरामायण

प्रातः कालीन प्राचीदिशा मे अपनी अरूणिम आभा बिखेरती ऊषा, पक्षियो के कूंजन से गुञ्जायमान नीलाम्बर अथवा वनितावदनारविन्द, अथवा मलयानिल कविसर्जना मे सनातन विषय रहे है। इनमे उज्जृम्भित कवि की स्थायी मनोवृत्ति उनके कोमल चित्रण द्वारा श्रुतमधुरपदावली मे अभिव्यक्त हो जाती है।

रससिद्धान्त मे विभावो का कार्य **"विभावयन्तीति विभावाः"** के अनुसार रत्यादि स्थायी भावो के विशेषरूप से आस्वाद्य बनाना है, क्योकि यों तो हम संसार मे स्थायीभावो के कारण रूपविभावो का अनुभव नित्यप्रति करते ही रहते है, किन्तु जब वे कवि के द्वारा काव्य या नाट्य मे वर्णित होकर तत्संबद्ध स्थायीभावो के व्यञ्जक बनते है, तभी वे शास्त्रीय भाषा मे विभाव की संज्ञा धारण करते है।[१] इसी प्रकार इनकी इस व्यञ्जना से अनुप्राणित होकर कवि के अन्तःभाव उद्बुद्ध होते है और उसकी सर्जना के द्वारा शब्द शरीर धारण करते है। अतः जिस प्रकार विभाव काव्यार्थो के व्यञ्जक बनते है उसी प्रकार कविगत अन्तः मनोवृत्ति के भी उद्बोधक सिद्ध होते है।

मानव की जन्मान्तरागत मूलवृत्तियाँ जब बाह्यतत्त्वो के योग से उद्दीप्त होती है तो वह बाह्याभिव्यक्ति का माध्यम खोजती है। यह तथ्य मनोविश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक सत्य से परे नही है कि सर्जना-शक्ति उद्दीप्त होकर विभिन्न प्रकार के साधनो एवं माध्यमो से व्यक्त होती है। वह वाणी, चेष्टाओ, मुद्राओ तथा सात्त्विक भावो आदि के रूप मे अभिव्यक्त होती है। जब वह वाणी के माध्यम से व्यक्त होती है तो साहित्य या काव्य की संज्ञा धारण करती है। जब अभिनय नृत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त होती है तो संगीत, एवं जब रेखाओ के

---

१ विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः।। - काव्यप्रकाश ४/२८

माध्यम से अभिव्यक्त होती है तो चित्रकला की संज्ञा से अलंकृत होती है। इसी प्रकार रस-सिद्धान्त मे रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा उद्दीप्त होकर अनुभावो के द्वारा बाह्याभिव्यक्त होते है। आचार्यभरत ने अनुभावो का विशेष रूप से अभिनय मे प्रयोग दिखलाया है, उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुत आन्तररसानुभूति की बाह्याभिञ्जना के साधन है, और उनमे शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। नट कृत्रिमरूप से इन अनुभावो का अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य रामादि के अन्त.स्थ रत्यादि भावो की बाह्यानुभूति इन्ही साधनो के द्वारा होती है। वे रसानुभूति के बाह्य प्रकाशक है। **''अनुपश्चात् भवन्तीति अनुभावाः''** व्युत्पत्ति के अनुसार भावो के पश्चात् उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण ये अनुभाव कहलाते है। यह रसानुभूति के कार्य होते है। दूसरे शब्दो मे कहे तो ये आन्तररसानुभूति से उत्पन्न उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार है। साहित्यदर्पणकार के शब्दो मे अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणो से स्थायिभाव को बाह्यरूप मे जो प्रकाशित करता है वह रत्यादि का कार्यरूप काव्य मे अनुभाव के नाम से जाना जाता है।[१]

इन अनुभावो के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। स्थिर मनोवृतियॉ विभावो के द्वारा उद्दीप्त होकर इन अनुभावो के द्वारा प्रकाशन के लिए आतुर हो जाती है। आचार्य भरत भी स्वीकार करते है कि विभिन्न काव्यार्थो का जिनके द्वारा वाणी, वाचिक, आङ्गिक अभिनयो पर आश्रित अनेक प्रकार के व्यापार किये जाते है वे अनुभाव कहलाते है।[२] अतः कवि की सर्जना-प्रक्रिया मे शब्दो को अनुभाव-स्थानीय माना जा सकता है, क्यो कि कवि अपने

---

१ उद्बुद्धं कारणैः स्वैः सवैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। - साहित्यदर्पण ३/१३२

२ वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृत.।। - नाट्यशास्त्र ७/५

अन्त॰ रसानुभूति का बाह्य प्रकाशन जब करता है तो उनमे वह पदावली ही माध्यम बनती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी इसी तथ्य की तरफ सङ्केत किया है कि विभावानुभाव के द्वारा सुन्दर कथा शरीर का निर्माण होता है।[1] तिलकमञ्जरी मे धनपाल का कहना है कि "कवि-सर्जना" की कसौटी शब्द-अर्थ, अजस्र कथारस और गुण मे है। महान रचनाकार इन सभी विधाओ पर अपना पूर्ण अधिकार रखता है।[2] अर्थात् वह कथारस ही है जो नाटकादि मे विभावो के माध्यम से दर्शक का और काव्य तथा अन्य प्रबन्धो मे नूतन मधुर पदावली के माध्यम से सहृदय को आनन्दविभोर कर देता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के तृतीयाङ्क मे **"अये ! लब्धं मे नेत्रनिर्वाणम्"** तथा **'श्रुतं श्रोतव्यम्'** के सन्दर्भ मे कथा रस की उच्छल तरङ्ग है जिनमे हमारा मन अभिषिक्त हो जाता है। इसी प्रकार शकुन्तला का अनिन्द्य लावण्य **"अनाघ्रातं पुष्पं"** इत्यादि पदावलियो मे सुरक्षित है जिसके श्रवण से कवि की भावना से भावित उस अनिन्द्य लावण्य का सम्प्रेषण सहृदय पाठक तक हो जाता है।

वस्तुत॰ हमारे अचेतन मन मे प्रसुप्त स्थायीभावो की अभिव्यक्ति दो रूपो मे होती है- एक, जो स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व से अभिन्न है। द्वितीय, जो व्यक्तित्व से भिन्न बाह्यपदार्थ है। काव्याभिनय, नृत्य, गीत आदि की अभिव्यक्ति का माध्यम व्यक्ति के व्यक्तित्व से अभिन्न है जब कि चित्रकला, वस्तुकला आदि की अभिव्यक्ति मे बाह्यपदार्थो, रंग तूलिका का सहयोग अपेक्षित है। अतः अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम उन्हे ही माना जा सकता है जो हमारे व्यक्तित्व से भिन्न नही। इन्हे तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। १. वाणी या भाषा २. सत्त्वोद्रेक ३. चेष्टा, अभिनय, नृत्य। ये

---

१ विभावभावानुभावसचार्यौचित्य चारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा।। - ध्वन्यालोक ४/१०

२ केचिद् वचसि वाच्येऽन्ये केऽप्यशून्ये कथारसे।
केचिद् गुणे प्रसादादौ धन्याः सर्वत्र केचन्।। - धनपाल, तिलकमञ्जरी।

तीनो प्रकार के माध्यम रसवादी आचार्यों द्वारा प्रदत्त तीन प्रकारके अनुभावो वाचिक, सात्त्विक, आङ्गिक के साक्षात्रूप स्वीकार किये गये है, जिन्हे काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने सात्त्वती, भारती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियो की संज्ञा-प्रदान की है।[1] इनमे सात्वती विशेषतः मानस व्यापाररूप, भारती वाचिक और आरभटी तथा कौशिक कायिक व्यापाररूप होती है कवि अपने काव्यपरक मानस-व्यापार की अभिव्यक्ति मे भारतीवृत्ति का ही आश्रयण करता है। इसीलिए भारती को शब्दवृत्ति की संज्ञा दी गयी है।[2] शेष को अर्थवृत्ति माना गया है। कवि का सम्पूर्ण व्यापार शब्दो की त्वचा मे मूर्त होता है। उसकी अन्तः अनुभूतियाँ, संवेदनाओ की तीव्रता, शब्दो के माध्यम से ही बाह्यरूप मे प्रकाशित होती है। जिस प्रकार से विभावादि के द्वारा उद्बुद्ध रत्यादि स्थायीभाव अनुभावो के द्वारा बाह्यरूप मे प्रकाशित होते है, उसी प्रकार कवि की अन्तःस्थ रसानुभूति के बाह्यप्रकटन मे शब्द ही माध्यम बनते है। इनके माध्यम से कवि आत्मस्थ भावो का बहिः प्रकाशन करता है। कवि का सम्पूर्ण काव्य-जगत् शब्दो के द्वारा ही भासित होता है, परन्तु कवि के भावप्रकाशन के शब्द सामान्य नही होते, अपितु कुछ विलक्षण ही हुआ करते है, जिसे काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने कही ध्वनि, कही वक्रोक्ति, तो कही रीति और कही अलंकार के रूप मे कहा है, क्योकि यदि कवि अपने भावो को शब्द सामान्य के द्वारा अभिव्यक्त करे तो वह सहृदय पाठक मे अलौकिक आनन्द के संचार मे असमर्थ रह जायेगा। अतः कवि के शब्दो मे निहित विलक्षणता ही काव्यरसिको को आनन्द मे निमग्न कर देती है।

---

[1] तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा --।
सा च कौशिकी सात्त्वती-आरभटी-भारती।। - दशरूपक २/७७

[2] भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनमुखैः। - दशरूपक ३/५

कलाभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे मनोविश्लेषको की भी यही अवधारणा रही है कि अचेतन मन अपनी वृत्तियो, भावनाओ और सस्कारो को सामान्य भाषा मे या अभिधात्मक शैली मे व्यक्त नही करता, क्यो कि ये उसके अचेतन मन मे भाव प्रतिमाओ और बिम्बो के रूप मे संचित रहते है। यही कारण है कि अचेतन मन की अभिव्यक्ति सदा बिम्बो या प्रतीको के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप मे होती है। अतः अचेतन स्तर की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति मे कवि अभिधा के स्थान पर सदा लक्षणा और व्यञ्जना का प्रयोग करता है। इसी से काव्य मे उपमान बिम्ब, प्रतीक एवं अप्रस्तुत की योजना की प्रमुखता रहती है। रस-सिद्धान्त के आचार्यो ने भी स्थायिभावो के अभिधात्मक उल्लेख को 'स्वशब्दवाच्य दोष' मानते हुए उसकी अभिव्यक्ति सदा अप्रत्यक्ष व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही स्वीकार की है।[१] अतः काव्यशास्त्रीय आचार्यो द्वारा स्थायीभावों की अभिव्यक्ति अथवा रस की व्यञ्जना पर बल देने का कदाचिद् यही मनोवैज्ञानिक आधार रहा है कि स्वाभाविक रूप से वह सदा अप्रत्यक्षरूप मे बिम्बो और प्रतीको के माध्यम से व्यञ्जित होता है उनका कथन या उल्लेख तो भाषा की बौद्धिक प्रक्रियामात्र है।[२]

---

१ न तावद्वाव्यवाचकभाव: स्वशब्दैरनावेदितत्वात् नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषा न स्वशब्दाभिधेत्वमात्रेण। यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्ति: स्यात्तदा केवलवाच्य-वाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादोभवेत्। न च काल्पनिकत्वम्-अभिभागेन-सर्वसहृदयाना रसास्वादोद्भूते:।। दशरूपक ४/४४ वृत्ति

तृतीयस्तु रसादिलक्षण: प्रभेदो वाच्यसामर्थ्यक्षिप्त: प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथाहि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन्पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्ग:। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्त्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादि-

रसवादी आचार्यो ने रस के प्रप्रिेक्ष्य मे व्यभिचारी भावो को स्थायिभावो के सापेक्षतया क्षणिक चञ्चल किन्तु उसका सहयोगी तत्त्व स्वीकार किया है। संचारीभाव स्थायी भावो की तुलना मे दुर्बल होता है तथा वह उसी पर निर्भर रहता है। वस्तुतः व्यभिचारी शब्द के मूल मे 'वि' और 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु है, जो गत्यर्थक है। इसीलिए व्यभिचारीभावो मे रसाभिमुख संचरण की शक्ति मानी गयी है। रसोन्मीलन के आद्याचार्य भरतमुनि का भी मानना है कि जो रसो मे नाना प्रकार से विचरण करते हुए रसो को पुष्टकर आस्वाद्य बनाते है व्यभिचारी कहलाते है।[१] "जिस प्रकार सूर्य इस नक्षत्र अथवा उस दिन को ले जाता है किन्तु वह उन्हे अपने कन्धो अथवा बाहुओ पर नही ले जाता तथापि 'ले जाना' क्रिया की लोक-प्रसिद्धि उसी प्रकार बनी हुई है। उसी प्रकार व्यभिचारीभावो के सम्बन्ध मे भी यह सत्य है। अतः ये व्यभिचारी भाव वासना अथवा संस्काररूप मे हमारे अन्तःकरण मे सदैव विद्यमान रहते है, किन्तु काव्य विषयो मे उनकी अभिव्यक्ति विद्युत्तुल्य है। काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने स्थायी एवं व्यभिचारी भावो पर सूक्ष्मदृष्ट्या विचार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त का मानना है कि "व्यभिचारी भावो का रूप विद्यत् के उन्मेष एवं निमेष के समान है जो अपने आविर्भाव एवं तिरोभाव की क्रिया मे स्थायिभावो के सौन्दर्याधायक होते है।" उनके मत में यद्यपि स्थायिभावो की स्थिति भी स्थिर नही होती तथापि वे अपने संस्कार और धारावाही सजातीय प्रवाहरूप मे स्थिर ही होते है। दशरूपककार धनञ्जय का मानना है कि "जिसप्रकार समुद्र मे तरंगे उठती है और उसी मे विलीन होती रहती है उसी प्रकार जो भाव इत्यादि स्थायीभावो

प्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता।। आनन्दवर्धन -ध्वन्यालोक १/४ वृत्ति

१ विविधमाभिमुख्येन रसेषु चन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्वोपेता प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। भरत -नाट्यशास्त्र

मे उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है वे व्यभिचारी कहलाते है।" इसके विपरीत धनञ्जय ने उन भावो को स्थायी माना है जो विरोधी-अविरोधी भावो से विच्छिन्न नही होते अपितु विरोधी भावो को भी शीघ्रमेव अपने स्वत्व मे परिणत कर लेते है।[१] उनकी स्थिति लवणाकर अर्थात् क्षाररसमुद्र के समान है। जैसे क्षारसमुद्र स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट नद्यादि के जल से सम्पूरित होकर भी अपना क्षारत्व नही छोड़ता, अपितु उन जलो को अपने स्वभाव मे परिणत कर क्षार बना लेता है उसी प्रकार स्थायीभाव भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल व्यभिचारियो से मिलकर भी अपने स्वभाव को नही छोड़ते और उन्हे अपने रूप मे समाविष्ट कर लेते है।

कवि की सर्जन-प्रक्रिया मे व्यभिचारी भावो को कवि की अनुभूतियो, अनुभवो प्रत्यक्षबोधादि के रूप मे ग्रहण करते हुए सहयोगी तत्त्व के रूप मे माना जा सकता है। कवि-सर्जना के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाय तो ये व्यभिचारी भाव कवि अन्तश्चेतन मे विद्यमान स्थायी भावो की उद्दीप्ति मे सहायक होते है। मनोवैज्ञानिको ने इन्हे वैयक्तिक मनमे अस्थिर मनोवृत्तियो की संज्ञा प्रदान की है। सामूहिक मन की भावप्रतिमाएं कला को आधारभूत सामग्री प्रदान करती है किन्तु उनके परिपोष मे वैयक्तिक मन की संचरण शील अस्थिर भाववृत्तियो एवं अनुभूतियो का योग अपेक्षित है। अत: स्थायीभाव यदि सामूहिक मनोवृत्तियो का सूचक है। तो संचारीभाव व्यक्तिक मन की अनुभूतियो, वृत्तियो का द्योतक माना जा सकता है। काव्य-सर्जना मे यदि स्थायीमनोवृत्तियो के द्वारा कवि आधारतत्त्व को प्राप्त करता है तो यह भी सत्य है कि व्यभिचारियो के माध्यम से उनके भाव परिपुष्ट होकर काव्य मे मनोज्ञता की उद्भावना मे अभिव्यक्त होते है। जिस प्रकार ये विविध प्रकार से

---

१ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य:।
आत्मभावं नयत्यान् स स्थायीलवणाकर:।। - दशरूपक ४/४३

रस को परिपोष-प्रदान करते है उसी प्रकार कवि के सर्जना मे उसकी अन्तः अनुभूतियो के परिपुष्ट करते हुए काव्यरूप मे उसके उच्छलन मे सहायक होते है। इनके द्वारा कविकी अन्तःअनूभूतियॉ और संवेदनाएं शक्त होकर बहिःप्रकाशन हेतु आतुर हो जाती है, जिनकी चरम परिणति शब्द के रूप मे होती है।

सर्जना और साधारणीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत द्वारा प्रणीत **"विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** सूत्र ही काव्य के आत्मभूत (जीवनाधायक तत्त्व) के मूल मे निहित है। इस सूत्र मे प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द की व्याख्या मे परवर्ती काव्यशास्त्रीय रसवादी आचार्यो ने विभिन्न दृष्टिकोणो और दार्शनिक प्रतिपत्तियो के आधार पर अपने मत-मतान्तर प्रतिष्ठित किये, परन्तु भरत के मत मे 'निष्पत्ति' शब्द के प्रयोग के अभिप्राय का निहितार्थ मात्र इतना है कि " जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनो से संस्कृत अन्न का उपयोग करते हुए सुमनस पुरुष रसो का आस्वादन करते है तथा हर्षादि को प्राप्त होते है उसी प्रकार सहृदय विभावानुभावव्याभिचारीभावो द्वारा व्यञ्जित स्थायीभावो का आस्वादन करते है और हर्षादि भावो को प्राप्त होते है।[1]" भरत के उक्तमत से स्पष्ट है कि आस्वादन के मूल मे रत्यादि स्थायी भाव ही है, जो वासना अथवा संस्कारके रूप मे सहृदय सामाजिक के अन्त करण मे विद्यमान रहते है, और जब काव्य अथवा नाट्य मे उपस्थापित काव्यार्थो के द्वारा उद्‌बुद्ध हो जाते है तो रसास्वाद का विषय बनते है। अतः स्थायी भावो की व्यञ्जना ही रस है। यहॉ आचार्य भरत एक प्रश्न उठाते है कि क्या रसो से भाव उत्पन्न होते है अथवा भावो से उस की निष्पत्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर मे किन्ही आचार्य का मत है कि "परस्पर के सम्बन्ध से इनकी निष्पत्ति होती है।" परन्तु भरत के मत मे यह ठीक नही है, क्यो कि भावो से

---

१ यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वैपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका. हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति।

- नाट्यशास्त्र ६/३१ गद्यभाग

ही रस की निष्पत्ति होती है न कि रसो से भावो की।[१] क्यो कि नाना प्रकार के अभिनयो से सम्बद्ध इन रसो को ये भावित करते है,[२] परन्तु लोक मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी नाम के कोई पदार्थ नही है। लोक मे केवल उनके हेतु विद्यमान है। अत: जैसे "नानाप्रकार के बहुविध द्रव्यो से व्यञ्जन की भावना की जाती है उसी प्रकार भाव अभिनयो के साथ होकर रसो की भावना कराते है।[३]" अतः रत्यादि भावो की व्यञ्जना मे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कार्य, कारण और सहकारी के रूप मे स्थित है। अत 'विभावानुभावव्यभिचारी' भावो के साथ संयोग होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है। अतः प्रधानरूप से सामाजिक आत्मस्थ रत्यादि स्थायीभावो का ही मूल रूप मे आस्वादन करता है। आचार्य भरत ने भी कहा है कि '"जिस प्रकार पुरुषो मे रराजा और शिष्यो मे गुरू होताहै। उसी प्रकार सभी भावो मे स्थायीभाव ही इस जगत् मे प्रधान है।[४]"

परन्तु यहाँ एक प्रश्न सहज रूप से मानस-पटल पर उभरता है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो के द्वारा सहृदय के अन्तस्थ रत्यादिभाव किस रूप मे व्यञ्जित होकर उनके रसास्वाद का विषय बनते है? इसके उत्तर मे परवर्ती रसवादी आचार्यो ने पर्याप्त मत-वैषम्य है, परन्तु सभी साधारणीकरण-व्यापार पर एक मत है जिसे भट्टनायक ने 'भोजकत्व' अथवा

---

१ केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृतिरिति तन्न। कस्मात् । दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

- नाट्यशास्त्र, अध्याय-६ ३३ वृत्ति।

२ नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान् । - वही ६/३४

३ नानाद्रव्यैर्बहुविधैव्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयै सह।। - वही ६/३६

४ यथा नराणां नृपति: शिष्याणां च यथा गुरू: ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।। - नाट्यशास्त्र ७/८

'विभावन-व्यापार' की संज्ञा प्रदान की है इसी को अभिनव ने 'अभिव्यञ्जना-व्यापार' कहा है।

समस्त काव्यार्थो की प्रतीति का मूलाधार अभिधा द्वारा प्रदत्त वाच्यार्थ ही होता है, परन्तु रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया मे जो अर्थ अभिधा, लक्षणा द्वारा उपस्थित होता है। वह एक विशेष नायक अथवा एक विशेष नायिका के रूप मे व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध होता है। इस रूप मे सहृदय सामाजिक के लिए इसका कोई उपयोग नही होता है। अभिव्यञ्जनाशक्ति कथा मे परिष्कार कर उसमे से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका साधारणीकरण कर देती है अर्थात् इस शक्ति के द्वारा लोकजीवनगत रामादिपात्र अपना वैयक्तिक व्यक्तित्त्व छोड़कर नितान्त सामान्य प्रतीत होने लगते है। इस साधरणीकरण प्रक्रिया के पश्चात् सामाजिक का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि और संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस प्रकार काव्यगत नायकनायिकादि की जो स्थिति काव्य मे थी साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा सामाजिक की लगभग वही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार वह अपनी अन्तश्चेतना मे उद्बुद्ध रत्यादि स्थायाभावो का आस्वाद करता है।

मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्कार रूप मे रति आदि स्थायी भाव सामाजिक की आत्मा मे स्थित रहता है। वह साधारणीकृत रूप से उपस्थापित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त या उद्बुद्ध होकर तन्मयीभाव के कारण, वेद्यान्तरसम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्दरूप मे अनुभूत होता है। वस्तुतः काव्य या नाट्य की अद्भुत अभिव्यञ्जना-शक्ति से लोक-जीवन के ललनादिरूप पदार्थ काव्य या नाट्य के विषय बनते ही ऐसे हो जाया करते है कि उनकी लोकजीवन सम्बन्धी विशेषताएं विलुप्त हो जाया करती है। उनमे क्रमशः विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का विचित्र

कवि-सर्जना के आलोक मे इसे देखा जाय तो यह साफ दृष्टिगोचर होता है कि कवि के चित्त मे जब भाव का उद्रेक होता है, तभी वह उसे मूर्तरूप देने के लिए शब्दार्थ का माध्यम ग्रहीत करता है। भावाभिव्यक्ति तभी होती है, जब भावानुभूति हो। कवि जब भावो से भावित अन्तःकरण वाला होता है, तभी काव्यसर्जना होती है। अतः अनुभूति सर्जना से पूर्व की क्रियाओ मे प्रथम और अनिवार्य है। अनुभूति के बाद ही सर्जना या अभिव्यक्ति प्रारम्भ होती है, परन्तु अपनी भावानुभूतियो को अभिव्यक्ति प्रदान करनेके लिए उसे विभावन या साधारणीकरण-व्यापार का भी आश्रय लेना पड़ता है। इसके द्वारा वह पहले वर्ण्य विषयवस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित करता है फिर उसे व्यक्त करता है विषयवस्तु से तादात्म्य स्थापन के पश्चात् ही उसकी प्रज्ञा वस्तु मे निहित अन्तश्तत्त्व की नवीन एवं मनोज्ञ उद्भावना करने मे समर्थ होती है। कवि जिस जागतिक वस्तुतत्त्व को ग्रहण करता है वह व्यक्ति, वस्तु, स्थान अथवा परिस्थितिविशेष की परिधि से आवृत्त होता है। कवि अपने अन्त.करण की भावनाशक्ति के द्वारा उसे भावितकर वैयक्तिकता से निर्वैयक्तिकता की आधारभूमि पर स्थापित कर देता है, जिससे वह वस्तु अलौकिक, सामान्य या सार्वभौमिक हो जाती है। इस भावनप्रक्रिया के द्वारा कवि का उस वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पहुँचकर कवि भी अपने व्यक्तिविशेष के आवरण को छोड़कर अलौकिक व्यक्तित्व मे आरुढ़ हो जाता है, और तब अपनी तत्कालोदित चिद्वृत्तियो या अनुभूतियो को अभिव्यक्त कर देता है। कवि अपनी सर्जना की इस बेला मे वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य हो नितान्त आनन्द का अनुभव करता है। उसकी यह आनन्दमय अनुभूति ब्रह्मानन्द सदृश्य होती है। इसमे वह एक ऐसे घनप्रकाश का अनुभव करता है, जिसमे दुःख (रजस्), मोह (तमस्) सर्वथा अभिभूत होकर शुद्धसत्त्वमात्र का उद्रेक होता है। वह अपनी संवित् को सहृदय तक पहुँचाता है। अपने परमानन्दानुभव के क्षणो मे वस्तुविशेष के प्रति उदित अपनी अनुभूतियो एवं

संवेदनाओ को शब्दो के माध्यम से संप्रेष्य बनाता है। काव्य के अनुशीलन से सहृदय सामाजिक उसके तत्कालोदित मनोविकारो एवं भावानुभूतियो से परिचित होकर परमानन्दस्वरूप 'रस' का आस्वादन करता है।

हमारा मनोविज्ञान कविकी सर्जनागत प्रक्रिया पर अपनी मुहर लगाता है। मनोवैज्ञानिको की यह परीक्षित सत्य है कि प्राय अचेतन मन की सर्जन शक्ति के उद्दाम आवेग मे कवि का चेतन मन जो सदा 'अहं' पर केन्द्रित होता है वह कुछ क्षण के लिए 'अहं' की सीमाओ का उल्लंघन करके सामूहिक मन मे निमज्जित हो जाता है। व्यक्ति और समूह की सीमाएं लुप्त हो जाता है। उसका व्यक्तित्व सार्वभौमिकता से आवृत्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे ही सच्ची और उदात्त कला का सर्जन होता है, जो व्यक्ति, युग और प्रदेश की सीमाओ से ऊपर उठकर सार्वभौतिक स्वरूप धारण कर 'कालजयी' कहलाती है, किन्तु जहॉ ऐसा नही होता है कलाकृति एक सीमित परिधि मे रह जाती है, और समयान्तराल मे उसका अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। अस्तु हम सर्जन-प्रक्रिया के विभिनन सोपानो मे वैयक्तिक मन का 'अहं' से मुक्त होकर सामूहिक मन से संयुक्त होना आवश्यक मान सकते है। यहॉ उसके 'अहं' का 'सर्वसाधरणीकरण' भाव मे विगलन हो जाता है। इसी प्रक्रिया को रससिद्धान्त की पदावली में कवि की "वैयक्तिक अनुभूतियो का साधारणीकरण" कर सकते है।

इस प्रकार कवि अपने अलौकिक व्यक्तित्व मे स्थित होकर साधरणीकृत वस्तुओ से अलौकिक रसानुभूति करता है जो उसकी काव्य-सर्जना मे अभिव्यक्ति पाती है। कवि लौकिक भावो की आधारभूमि पर बैठकर काव्यसर्जन नही करता, अपितु उसका एक अलौकिक काव्य-व्यक्तित्व ही उसकी कृति मे प्रकाशित होता है, अत सहृदय की रसानुभूति एक अलौकिक अनुभव है। उसी प्रकार कवि की सर्जनात्मक भावानुभूति भी वस्तुत

अलौकिक ही होती है। कवि की यह अलौकिक भावानुभूति रसात्मक संवित् बनकर काव्यरूप मे अभिव्यक्त होती है। यद्यपि उसकी इस अलौकिक भावानुभूति का आधार लौकिक ही होताहै, तथापि वह वर्णनीयविषयवस्तु के तन्मयीभवन की बेला मे अलौकिक हो जाती है। काव्य की रच्यमानता के क्षणो के गुजर जाने पर कवि पुनः इस लौकिक जगत् का सामान्य सा प्राणी हो जाता है, पुनः उसे अपनी अलौकिक काव्य-सर्जना को देखकर- "यह अलौकिक भावाभिव्यक्ति कैसे हुई?" इस रूप मे स्वयं आश्चर्य होता है। वह उसे कुतूहल से देखता है और उसका आस्वादन करता हुआ आह्लादित होता है।

रसवादी आचार्यो ने रस को **'विभावादिजीवितावधिः'** और **'चर्व्यमाणतैकप्राणः'** कहा है। तात्पर्य यह है कि रस की चर्वणा सहृदय सामाजिक को तभी तक होती है जब तक विभावादि की प्रतीति होती रहती है,उनके समाप्त होते ही रसास्वादन स्वतः समाप्त हो जाता है। कवि की सर्जनात्मक-प्रक्रिया को रसास्वादन के समानान्तर देखा जाय तो इस सन्दर्भ मे यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या रसानुभूति की अवस्था मे ही कवि सर्जना करता है अथवा रसानुभूति की अवस्था के उपरान्त उसकी शेष वृत्तियो के द्वारा अभिनवगुप्त ने रसानुभूति का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है उसके अनुसार रसानुभूति की अवस्था मे काव्यनिर्माण मे कवि की प्रवृत्ति सम्भव नही प्रतीत होती है। सम्भवतः इस दशा के तुरन्तपश्चात् ही जब कवि की चेतना रसानुभव के तीव्र संस्कार से युक्त रहती है, काव्य का निर्माण होता है। अतः काव्यसर्जना के क्षणो मे वास्तविक रसदशा मे न होकर भी कवि 'रससमाहितचेता' तो रहता ही है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनो ने अलङ्कार, गुण, रीति आदि काव्यात्मक अभिव्यञ्जना के विभिन्न तत्त्वों को रस के साथ सम्बद्ध मानकर यह निरूपित किया है कि काव्य-सर्जना मे आरम्भ से अन्त तक कवि का सम्पूर्ण व्यापार रस से ही प्रसूत एवं उसकी

अभिव्यञ्जना मे तत्पर रहता है, क्यो कि जब कवि रसादि के प्रति तत्पर होकर सर्जनकर्म मे प्रवृत्त होता है तब यह संभव नही कि कोई वस्तु उसके अभिमत रस का अंङ्ग न बने।[१] अत. रसवादियो के मत मे रस काव्य की आत्मा होने के कारण उसका अङ्गी है। जिस प्रकार शरीर की अभिव्यक्ति तथा उसके माध्यम से आत्मा ही स्वयं को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार काव्यात्मकवर्णना या अभिव्यञ्जना वस्तुत कविगत रस का ही बहि.प्रकाश है। रस से आक्षिप्त होकर ही उन्हे काव्य मे औचित्य प्राप्त होता है। कवि की सर्जनात्मकता के सन्दर्भ मे दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कवि अपने काव्य का आस्वादन सर्जना के रच्यमान क्षणो मे ही करता है? क्या कवि के सन्दर्भ मे सर्जन और आस्वादन समानान्तर चलने वाली क्रियाएँ है? मेरे विनम्र विचार मे सर्जना के रच्यमान क्षणो मे तो आस्वादन की स्थिति संभव नही लगती। क्योकि उस समय कवि 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य' हो भावो की रसात्मक संवित् मे आकण्ठ डूबा रहता है, और उसे शब्दार्थ का स्वरूप देने की तरफ उन्मुख रहता है। फलतः रसात्मक अनुभूतियाॅ काव्यपक्तियो के रूप मे ढलकर सामने आती है। कवि का आस्वादन उसकी सर्जनात्मक-क्रिया के तुरन्त पश्चात् की प्रतिक्रिया जान पड़ती है। अतः रसास्वाद के सम्पूर्ण समीक्षासाहित्य का मूल कविकी सर्जना है। क्योकि रसास्वाद तभी होगा जब सर्जना हो। बिना सर्जना के आस्वाद कहाॅ? वस्तुतः काव्य-सर्जना के अनन्तर कवि कुछ क्षणो के लिए काव्य का आस्वाद अवश्य करता है और उस स्थिति मे वह अपने ही द्वारा सृष्ट काव्य का आस्वादयिता बन जाता। और सामाजिक के मन मे होने वाली भावानुभूति प्रक्रिया पहले कविके मन मे पहले ही हो जाती है। स्वयं अभिनवगुप्त भी यह स्वीकार करते है कि

---

१ यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।
रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गातां नीयमान न प्रगुणीभवति।
- ध्वन्यालोक ३/४२ वृत्ति

काव्यास्वादनकाल मे कवि सहृदय के तुल्य ही हो जाता है।[१] सहृदय के सम्पूर्ण रसास्वादन का स्रोत कविकी सर्जनात्मकता ही है, क्योकि इसमे आत्मचेतना की उन क्रिया-प्रतिक्रियाओ का अद्भुत सम्मिलन विद्यमान है जो साहित्य-स्रष्टा के 'अहं' से उद्भूत होकर विविध रूप प्रकारो मे अपना आत्मप्रसार करती है। जीवन के उर्वर धरातल पर काव्य का शस्य-श्यामल प्रदेश अपनी हरीतिमा मे पल्लवित एवं पुष्पित होकर जिन रसात्मकअनुभूतियो का परिपक्व अन्न प्रदान करता है उससे सहृदय सामाजिक का मन पोषण सतत हो रहा है। अतः काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के विश्वजनीन धरातल पर मानवमात्र के मनःप्रसादन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। जीवन की समुन्नति कवि की काव्य सर्जना की ही समृद्धि है।

---

१ मूलबीजस्थानीयः कविगतोरसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव।

- अभिनवभारती अध्याय-६, पृ २९४ (गा.सं)

अध्याय-९

सर्जना और वक्रोक्ति

अध्याय-५
सर्जना और वक्रोक्ति

कवि-सर्जना और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

काव्य-सर्जना कवि-मानस के विभिन्न सूक्ष्म व्यापारो का समुच्चयात्मक फल है। काव्य के रच्यमान क्षणो मे कवि का अन्तःकरण विभिन्न सूक्ष्म क्रियाओ से गुजरता है और प्रत्येक क्रिया के द्वारा वह अपनी अनुभूतियो और संवेदनाओं को सुभग, मनोहर तथा रमणीय बनाकर अभिव्यक्त करना चाहता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से आज तक कवि का एक लक्ष्य रहा है- जो कुछ विभूतिमान् है, सुन्दर है, रूचिर है चाहे वह विश्वनियन्ता परमात्मा के अवतार का विग्रह, चाहे प्रकृति-दर्शन हो अथवा किसी अङ्गना का लावण्य हो, उनके सामञ्जस्य से भाव की अनेकधा स्थितियो से अनुभूतिपरक निदर्शना के लिए वाणी-प्रयोग की सतत साधना कवि करता रहा है। उसकी इस साधना के परिणामस्वरूप अलङ्कार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यसिद्धान्त उभरकर सामने आये। वस्तुतः ये सिद्धान्त प्रथमतः कवि की सर्जनात्मकता की परिधि से ही आकर काव्यविशेष के रूप मे समादृत हुए। अतः कवि-रच्यमानता को इन सिद्धान्तो के आलोक मे रखकर देखने पर उसका क्या बिम्ब दृष्टिगोचर होता है यह विचारणीय है? पिछले अध्याय मे हमने रस-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे कवि की रच्यमानता को उद्घाटित करने का आयास किया। सम्प्रति वक्रोक्तिसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे कवि की रच्यमानता विचारणीय है?

वक्रोक्तिसिद्धान्त सर्वाशेन कवि के सर्जनात्मकपक्ष मे है, जिसे 'काव्यजीवित' के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को जाता है। भारतीय रचनात्मक तथा शास्त्रात्मक काव्यजगत् के आकाश मे यह सिद्धान्त प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा, परन्तु उसकी आभा कुन्तक की प्रज्ञा मे ही आकर विकीर्ण हो सकी। अपने ग्रन्थ के मंगल श्लोक मे ही उन्होने कवीन्द्रो के मुखचन्द्र मे सुभाषितो के विलास से सुन्दर नृत्य करने वाली देवी भगवती को वक्रोक्तिस्वरूपा ही प्रतिपादित किया जो कवियो के यशः वृद्धि की निमित्तस्वरूपा है।[१]

कुन्तक से पूर्ववर्ती आचार्यो ने वक्रोक्ति को किसी न किसी रूप मे स्वीकार जो अवश्य किया पर उसका उपपादन काव्य के अङ्ग रूप मे ही रहा। वक्रोक्ति को काव्य का अङ्गी तत्त्व (प्राणभूत) रूप मे स्वीकृति कुन्तक से ही मिली। भामह ने काव्य का केन्द्रीय तत्त्व 'चारूता' बताया और उसका स्रोत अलंकार— अर्थात् अलङ्कारो की स्वरूपनिष्पत्ति वक्रतासापेक्ष है। उन्होने शब्द और अर्थ की उभयविधि वक्रता का समावेश कर उसे वाणी और अर्थ का मूल अलङ्कार निर्दिष्ट किया। उनके शब्दो मे वक्रोक्ति "वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः' ही नही है अपितु यह "वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते" भी है, जिससे वक्रोक्ति का वस्तुविषय शब्द और अर्थ की वक्रता तक व्याप्त होकर अलंकारमात्र का मूलाधार बनता है। अतिशयोक्ति की **'लोकातिक्रान्तगोचरता'** और **'गुणतिशयता'** का निरूपण करते हुए उन्होने उसे वक्रोक्ति का पर्याय ही माना। अतः कहने के लिए भामह भले ही अलङ्कारवादी माने जाएँ पर उनका विशेष आग्रह वक्रोक्ति की

---

१ वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिर नर्तकीम् ।
देवी सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ।। - वक्रोक्तिजीवित १/१

ओर है, जिसका वैशिष्ट्य व्यक्त करते हुए उन्होने उसे अलङ्कार का सर्वस्व अङ्गीकार किया है।[1]

आचार्य दण्डी ने तो सम्पूर्ण वाड्मय का विभाजन स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति संज्ञक द्विविध प्रकारो मे किया। वे स्वभावोक्ति को आद्यंलकार मानते हुए वक्रोक्ति की महत्ता कम नही करते, क्योकि वक्रोक्ति के आश्रय से ही समस्त अलंकारो का चमत्कारपूर्ण संपोषण होता है।[2] उनके मत मे शास्त्र में स्वभावोक्ति तथ्यकथन होती है और काव्य मे वक्रोक्ति। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि काव्य में स्वभावोक्ति होता ही नही। निश्चय ही उनकी दृष्टि मे शास्त्रीय स्वभावाख्यान-असुन्दर तथा काव्यगत स्वभावाख्यान-सुन्दर होता है, परन्तु काव्य मे स्वभावोक्ति का प्रयोग अभीष्ट है।[3] अतः कहा जा सकता है कि दण्डी भी भामह की भाँति स्वभावोक्ति का समावेश वक्रोक्ति मे नही करते। भामह के अनुसार स्वभावोक्ति भी अपने ढ़ंग से वक्रोक्ति हो सकती है, किन्तु दण्डी का मत है कि वक्रोक्ति की अपेक्षा उसका महत्त्व न्यून है। वामन ने वक्रोक्ति की अर्थव्याप्ति और भी कम कर दी, वे सादृश्यमूलक लाक्षणिक प्रयोगों मे ही वक्रोक्ति की संस्थिति बताते है - **'सादृश्य लक्षणा वक्रोक्तिः।'** रूद्रट ने शब्दालङ्कार के एक भेद के रूप मे स्वीकारकर वक्रोक्ति को बिल्कुल सीमित ही कर दिया। अभिनवगुप्त ने लोकव्यवहृत शब्दार्थ से विलक्षण स्वरूप मे उनकी अवस्थिति को वक्रोक्ति कहा - **''शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।''** राघवपाण्डवीयम् मे सुबधु, बाणभट्ट और कविराज विश्वनाथ को जिस अर्थ मे 'वक्रोक्तिमार्ग

---

[1] सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थोऽपि विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनय बिना।। - भामह काव्यालंकार ८५

[2] भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाड्मयम् ।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।। - काव्यादर्श २/३६

[3] शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम् । - काव्यादर्श २/१३

निपुणः' कहा गया है वह वक्रोक्ति के अर्थविस्तार का सूचक है, क्योकि वहॉ वक्रोक्ति पद शब्दालङ्कारमात्र का वाचक न होकर 'वचनवैदग्ध्य' एवं 'उक्तिवैचित्र्य' का पर्याय है जिसके द्वारा शब्दार्थयुगल मे चमत्कार का प्रस्फुरण किया जाता है। बाण ने 'कादम्बरी' (वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन) और 'हर्षचरित' मे प्रसङ्गवश वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग करते हुए उसे इतिवृत्तात्मकता से भिन्न और 'शब्दक्रीड़ा' के विविध बन्धो से युक्त माना है, जिसका सम्यग् निर्वाह करने का सामर्थ्य महाकवियो मे ही होता है।

अतः सर्जक अपनी सर्जना मे शब्दार्थगुम्फन के द्वारा किसप्रकार सहृदयहृदयाह्लाद के उत्पादन मे समर्थ होता है? उसकी प्रकृति क्या है? इन प्रश्नो के अनुसंधान मे अपनी मेधा का प्रयोग करने वाले समस्त आलङ्कारिको ने अन्ततः शब्दार्थ सौन्दर्य को ही स्वीकार किया है। परन्तु काव्य मे इस सौन्दर्य का प्रस्फुटन कैसे होता है? अलङ्कारवादी आचार्यो को तो वनिता के आनन पर राजमान स्वभाविक कमनीयता आकृष्ट कर नही पाती[१] फलत. आकर्षण के लिए भूषण तो प्रवर्द्धित सौन्दर्य की अपेक्षा है अत: सहजकमनीयता संवलित उक्ति के आकर्षण मे अलङ्कारिक छटा अनिवार्य है। रीतिवादी सहजकमनीयता के उभार मे ही कवित्व का प्रस्फुटन मान लेता है, परन्तु भामह की कारिका इस तथ्य की तरफ भी सङ्केत कर रही है कि अलङ्कारो द्वारा प्रवर्धित सौन्दर्य मे सहजकमनीयता की आधारभित्ति रहती तो आवश्य है और इस भित्ति का मूल है— कवित्व का उन्मेष, जो अतिशयलोकोत्तररूप मे उक्ति को संस्थिति प्रदान करता है। इसी बद्धमूल भावना से अनुप्राणित होकर आचार्य कुन्तक ने अलंकार, रस, ध्वनि आदि काव्यात्मक चमत्कारो को भाषागत प्रयोग की सीमा मे देखा और कवि के सर्जनात्मकता के पक्ष मे वक्रोक्ति को प्रतिष्ठित कर काव्य का प्राणतत्त्व बताया।

---

१ न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् । भामह -काव्यालङ्कार १/१३

काव्य एवं कुन्तक की दृष्टि

काव्य स्वरूप पर समस्त आलङ्कारिक आचार्यो का अपना अभिमत रहा है। किसी ने शब्द को काव्य माना तो कोई अर्थ को ही काव्य कहता है, परन्तु कुन्तक का दृष्टिकोण इस सन्दर्भ मे सर्वथा भिन्न रहा है। उनके मत मे वक्र कविव्यापार से शोभित होने वाले एवं सहृदय-हृदयाह्लादक वाक्य-विन्यास मे सहित भाव से युक्त शब्दार्थ अवस्थिति ही काव्य है।[१]

इसप्रकार कविचातुरी से निर्मित कमनीयता से युक्त केवल शब्द अथवा रचना वैचित्र्य से आनन्दोत्पादन मे समर्थ अर्थ, दोनो मे पृथक्-पृथक् काव्यत्व का पक्ष खण्डित हो जाता है, क्योकि दोनो पृथक्-पृथक् नही अपितु मिलकर ही काव्य संज्ञा धारण करते है उनका **'तिलेषुतैलवत्'** साहचर्य ही काव्य है क्योकि शब्दार्थ सदा अवियुक्त होकर ही प्रतीति मे स्फुरित होते है। दोनो की सहृदयो को आनन्दित करने की जो कारणरूपा आलौकिक अवस्थिति अथवा विचित्र विन्यास भङ्गिमा है वही काव्य है,[२] जो कविप्रतिभाप्रसूत है। यदि कवि, प्रतिभा सम्पन्न है तो उसकी रचना मे शब्दार्थ साहित्य की परस्परस्पर्धित्वरूपता मे कोई बाधा उपस्थित नही हो सकती है। शब्दानुरूप अर्थ और अर्थानुरूप शब्द स्वतः उसके रचना-पथ मे आते रहते है जिसे वह प्रतिभा के बल पर अलौकिक रूप से गुम्फित कर देता है। कुन्तक के मत मे काव्य मे शब्दार्थ की अवस्थिति, न्यूनाधिक्य के अभाव के कारण चित्ताकर्षक

---

१ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। -वक्रोक्तिजीवित १/७

२ अनयो: शब्दार्थयोर्या काव्यलौकिकी चेतनकारिकारितायाः
कारणम् अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभगी। - वही -१/१७ वृत्ति

तथा परस्पर विद्यमान प्रतिस्पर्धा के कारण सुन्दर होती है[१] और यह सौन्दर्य शब्दार्थ मे निहित होता है— कवि के वक्रतापूर्ण व्यापार से। परन्तु कवि का यह वक्रव्यापार क्या है? जिससे अनुप्राणित काव्य सजीव हो उठता है? यह विचारणीय है कुन्तक के मत मे वैदग्ध्यपूर्ण भंगिमा द्वारा कथन ही वक्रोक्ति है। विदग्ध कवि का चातुर्यपूर्ण कथन अर्थात् विचित्र प्रकार की उक्ति वक्रोक्ति है।[२]

इसप्रकार पूर्वसूरियो द्वारा अनुद्भावित वक्रता का विधान कुन्तक का अपना पौरूष है। उनका कहना है कि लोकोत्तराह्लाद समर्थक होने से ही काव्य भाषा का सामान्य भाषा से प्रस्थान भेद है। काव्य भाषा मे यह सामर्थ्य कवि व्यापार-प्रसूत वक्रता का ही है। काव्यगत वस्तु और आह्लाद, सामान्य भाषा अथवा शास्त्रगत वस्तु और आह्लाद से भिन्न प्रकृति का है। इस भिन्नता को उभारने का श्रेय कविव्यापार को है।[३] वे आनन्दवर्धन की भाँति काव्य मे ने तो शब्दभेद स्वीकार करते है और न अर्थभेद, किन्तु व्यवहार और शास्त्र की जड़ भाषा से काव्य भाषा का व्यतिरेक दिखाने के लिए उसे विचित्र कहते है, क्योकि कवि चातुरी से निर्मित, उक्तिवैचित्र्य रूप शब्दार्थ ही सहृदयो के हृदय मे अद्भुत आनन्द का संचार करते है। उनका **"विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः"**[४] प्रमाणभूत वक्तव्य है। काव्य भाषा सौन्दर्य अथवा चारूत्व के सम्प्रेषण मे समर्थ होती है यह सामर्थ्य उसे प्राप्त कहाँ से होती है? तो कुत्तक का उत्तर

---

१ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। - वक्रोक्तिजीवित १/१७

२ वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः
- वक्रोक्तिजीवित १/१० वृत्तिभाग

३ लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कार कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। - वक्रोक्तिजीवित १/२

४ वक्रोक्तिजीवित १/१० वृत्तिभाग

है कि यह कवि का प्रातिभव्यापार है जो अपने पारसस्पर्श से काव्य भाषा की प्रत्येक क्षमता को सौन्दर्य सम्प्रेषण का स्रोत बना देती है। कवि की सहज प्रतिभा, नूतन शब्दार्थो से रमणीय, बिना किसी यत्न के उत्पादित सहृदयहृदय को आनन्द देने वाले, स्वल्पमात्र अलंकारो से भूषित वैचित्र्य का पोषण करती है, जो अविभावित स्थिति वाले सौन्दर्य से सहृदयो को आनन्दित करती है।[१] कवि जिस वस्तु का वर्णन करता है वह विना तराशे हुए पाषाणखण्ड के समान होती है परन्तु जब वह कविप्रतिभा मे आती है तो उसके चतुरव्यापार से चमत्कारपूर्ण शब्दो मे निबद्ध होकर, निकष पर चढ़े हुए मणिसदृश मनोहर ढ़ंग से काव्य-मर्मज्ञो को आनन्दप्रदान करने वाली काव्य-रूपता को धारण कर लेती है।[२]

कुन्तक का कहना है कि कविकर्म के सर्जनात्मक पथ मे यद्यपि शब्दार्थ का वाच्य-वाचकत्व भाव रहता है, परन्तु दोनो के परमार्थ मे कोई अनिर्वचनीय अपूर्वतत्त्व ही रहता है क्योकि कवि तात्पर्य को कहने के निमित्त शब्द तो अनेक होते है, परन्तु उसके संरम्भ की अभिव्यक्ति मे समर्थ एक ही वाचक शब्द होता है तथा सहृदयो को आह्लादित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर विशेष अर्थ ही होता है[३] यथा -

---

१ अम्लानप्रतिभोद्भिन्नवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्न विहित स्वल्पमनोहारिविभूषणः।। - वक्रोक्तिजीवित १/२५
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः।। - वक्रोक्तिजीवित १/२७

२ प्रतिभाप्रतिभासमानघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रढयमेव वस्तुविदग्धकविविरचित-कविवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीठमणिमनोहरतया तद्विदह्लादकारि-काव्यत्वमधिरोहति। - वक्रोक्तिजीवित १/७ वृत्तिभाग

३ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयह्लादकारि-स्वस्पन्द-सुन्दरः।। - वक्रोक्तिजीवित १/९

महाकवि कालिदास मेघदूतम् मे उस समय के यक्ष वर्णन को प्रस्तुत करते है जब अपनी प्रियतमा से बहुतदूर रहने वाले शापग्रस्त यक्ष का उसकी प्राणप्रिया यक्षिणी के पास सन्देश लेकर मेघ पहुंचता है - ''**भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं** -------।'' इस छन्द मे कविप्रयुक्त **'अविधवे'** पद का अर्थ ही उस यक्षिणी को आश्वसन देने वाले धर्म का कारण है अर्थात् तुम्हारा पति अभी जीवित है। इस प्रकार यक्षिणी को अपने सुहागिन होने का आश्वासन प्राप्त हो जाता है। यहाँ कालिदास यक्षिणी के सम्बोधन मे मेघ से अन्यअनेक शब्दो का प्रयोग कर सकते थे परन्तु उससे उस चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्राप्ति नही होती जो 'अविधवे' पद के द्वारा हो रही है।

इसप्रकार कुन्तक की दृष्टि मे कवि का समूचा शब्दार्थस्वरूप व्यापार ही वक्र है, लोकोत्तर है, शास्त्र और व्यवहार की अपेक्षा "कुछ अन्य" ही है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी सहृदय के हृदय को आनन्दित करने वाले काव्य के अन्यत्व को ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत मे कहा है।[१] अतः यह अन्यता विचारणीय है? कवि इस अन्यता का विधान काव्य मे कैसे करताा है? कुन्तक कहते है कि वर्ण्यवस्तु यदि स्वभावसुन्दर है तब तो कविप्रतिभा उसे यथावत् उकेर ही देती है। यदि वैसी नही है तो वैसी बना देती है। सामान्यत वक्रता के लिए वर्ण्यवस्तु को स्वभावसुन्दर होना चाहिए। आधार यदि रूचिर है, मनोज्ञ है तो कवि की सर्जनात्मक अलौकिक आभा मे वह दीप्त हो उठता है और अपने विलक्षण स्वरूप मे स्थित होकर सहृदयो को आह्लाद प्रदान करता है। अतः स्वभाव पर ही वक्रता सुशोभित होती है। कुन्तक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि – **स्वभावस्यैवरूपेण निरूपणमेव हि वक्रतायाः परं रहस्यम्**। अर्थात् वक्रता की अन्तरात्मा स्वभाव का ही सहज उभार है।

---

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । - ध्वन्यालोक -१/४

कविजन अपने प्रातिभाव्यापार के द्वारा सर्जना के क्षणो मे सर्वप्रथम मस्तिष्क मे आये हुए पदार्थ के प्रतिनिधिरूप अन्य पदार्थ के असंभव होने पर अत्यन्त ही नूतन ढंग से शब्दार्थो मे किसी लोकोत्तर काव्य की शोभातिशयता का उन्मीलन कर देते है। इसीलिए कुन्तक उन दोनो प्रकार के कवियो की वन्दना करते है जो वस्तु मे निहित स्वभावसिद्ध अव्यक्त सुभगतत्त्व को वाणी के सहारे उभार देते है अथवा जो भूत को अपनी क्षमता से सुन्दर बना देते है।[१] तात्पर्य है कि कवि अपनी सर्जना मे वस्तु मे लीन तत्त्व को उभारता भी है और अपनी प्रौढ़ि से आहृत भी करता है। वर्ण्यवस्तु मे लीन सुभगतत्त्व का सौन्दर्य लोकोत्तर है जो उसमे स्वभावतः है, परन्तु न तो वह सर्वसाधारण की ऑखो मे आता है न ही उभर पाता है। उसके लिए तो कवि की तीसरी ऑख अपेक्षित है। जिससे वह त्रैलोक्यवर्ती और त्रिकालवर्ती पदार्थ समुदाय को देख लेता है। इतना ही नही, वह उससे उस लोकोत्तर सुभग-तत्त्व का भी साक्षात्कार करता है जो सर्वसाधारण की ऑखो का विषय ही नही बना।[२] अतः कवि का वर्ण्यविषय बनने के लिए वस्तु मे स्वाभाविक सौन्दर्य अनिवार्य है, क्योकि स्वभाव के बिना कोई वस्तु कही ही नही जा सकती।[३] वस्तुस्वभाव मे ही कवि व्यापार की अतिशय चारूता निवास करती है, वरना सामान्य वस्तुकथन तो नीरसभित्ति पर चित्रांकन तुल्य ही होता है।

---

१ लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभग तत्त्व गिराकृष्यते
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद वाचैव यो वाक्पतिः।
वन्दे द्वावपि कविवरौ------- वक्रोक्तिजीवित २/१०७ श्लोक

२ सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्कारोव्येव भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः।।
- महिमभट्ट - व्यक्तिविवेक १९३६ पृ० ३९१

३ स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहित यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।। - वक्रोक्तिजीवित १/१२

अतः यहाँ विचारणीय यह है कि कुन्तक का यह **'स्वस्पन्द सौन्दर्य'** क्या है? जो कवि-सर्जना का विषय बनती है? उनके मत मे स्वभाव वस्तु का अपना धर्म होता है। **'स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः'** अर्थात् जिसके द्वारा अपने स्वरूप का कथन और ज्ञान होता है वह स्वभाव होता है, जो पदार्थ को 'प्रढया' अर्थात् 'ज्ञान' और 'उपाख्या' अर्थात् 'कथनरूपता' मे लाने का कारण होता है। 'स्पन्द' शब्द का अर्थ है – कम्पन, जिसकी निष्पत्ति 'किञ्चित् चलनार्थक' 'स्पदि' धातु से होती है। चित्स्वरूप ब्रह्म की स्वभावभूता शक्ति उससे निकलकर जागतिक सृष्टि करके पुनः उसी मे विश्रान्त होती रहती हैं। उसका यही आवर्तनात्मक कम्पन ही स्पन्द है, जिसका प्रयोग कश्मीरी शैवमतानुयायी होने के कारण कुन्तक ने अपने ग्रन्थ मे अन्यअनेक अर्थो में किया है। अतः कवि काव्य मे जिस अर्थ का विधान करता है वह अपने स्पन्दात्मक स्वभाव से सुन्दर प्रतीत होकर सहृदयो को आह्लाद की चरमभूमि मे स्थित कर देता है।[१] यह स्वभाव वस्तु का परमार्थ रूप होता है, जो अभिनव और रसमय हुआ करता है। अतः कवि-वर्णना मे कुन्तक ने जिस सुभगतत्त्व की लीनता बताई, वह स्पन्दमयता ही है। वही वस्तुमात्र का स्वभाव है, जो अपनी समग्रता से कविप्रतिभा का विषय बनता है। कविप्रतिभाप्रसूत वाणी उसे उभारकर भावयित्री प्रतिभा के समक्ष उसे प्रस्तुत कर देती है। इसप्रकार सुकुमारताजन्य सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप रमणीयता के द्वारा जो कुछ भी वैचित्र्य काव्य मे शोभातिशयता का पोषण करता है वह सब कवि की प्रतिभा से ही उल्लसित होता है।[२]

---

[१] काव्ये यः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः। सहृदयाकाव्यार्थ-विदस्तेषामाह्लादमानन्द करोति यस्तेन स्वस्पन्देनात्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः। - वक्रोक्तिजीवित १/९ वृत्तिभाग

[२] यत् किंनापि वैचित्र्य तत्सर्व प्रतिमोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।। - वक्रोक्तिजीवित १/२८

अतः स्वभावसुन्दर वस्तु मे कवि का सर्जनात्मक वक्रव्यापार सौन्दर्यातिशय को उद्भावित कर विचित्र रमणीयता का आविर्भाव कर देता है जिसके द्वारा शब्दार्थस्वरूप काव्य मे सहृदयहृदयाह्लादन की विचित्र सामर्थ्य आ विराजती है। साहित्यमीमांसाकार वक्रता के सन्निवेश से काव्य मे विशिष्ट रमणीयता को स्वीकार करते है।[१] उनके मत मे विशेष अर्थ की लोकसीमातिवर्तिनी अतिशय उक्ति वक्रोक्ति है।[२] इस रूप मे कुन्तक इसे शब्दार्थ रूप काव्यशरीर का अलंकार मानते है। यह एकमात्र अलंकार है जो कविकर्म मे विराजमान होकर शब्दार्थ को अलंकृत करता है। शब्द और अर्थ इसके द्वारा अलंकार्य[३] क्योकि सामान्यतः तो शब्द और अर्थ पृथक्-पृथक् स्थित होकर अपने से भिन्न किसी अलंकार से युक्त किये जाते है, परन्तु वक्रता के वैचित्र्य से युक्तरूप से कथन ही इन दोनो का अलङ्कार होता है। 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' के शब्दो मे कुन्तक का आशय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है "शब्दार्थ गुम्फन मे इनसे अतिरिक्त कोई अलंकार नही, अपितु विलक्षण कविव्यापार पूर्वक इनका चारूतामय अभिधान ही अलंकार है। अतः कवि के काव्य मे उसके प्रक्रिया व्यापार की ही महत्ता है, उसी का प्राधान्य है, वही काव्य का जीवित है। कुन्तक ने वर्णन की स्वभाविकता और सुन्दरता के जिस रूप मे वस्तुवक्रता स्वीकार की है, भामह दण्डी आदि प्राचीन आलंकारिको ने उसे स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु के स्वभावसुन्दर वर्णन मे संभाव्यमान

---

[१] वक्रोक्तिविनिवेशेन काचिज्जायेत रम्यता।
साहित्य मीमांसा - पृ० १०० अनन्तशयनम् संस्कृतग्रन्थावली १९३४

[२] विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावयतिशयोक्तिः स्यादेषा वक्रोक्तिजीवितम् ।। - वही पृ० १००

[३] उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलङ्कृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीमणितिरूच्यते।। - वक्रोक्तिजीवित १/१०

वस्तुवक्रता को भामहादि आचार्य अलंकार्य नही मानते। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय विषय उपस्थित हो जाता है कि क्या कुन्तक द्वारा विवेचित सातिशयपूर्ण वस्तुवक्रता एक प्रकार से स्वभावोक्ति अलंकार ही है?

अलंकारवादी आचार्यो ने जिस रूप मे कुन्तक की स्वभावोक्ति को अलंकार्य न मानकर अलंकार कहा है वह उन्हे स्वीकार नही। उनका अपना तर्क है कि वस्तु के सामान्यधर्म मात्र को अलंकार तथा **'सातिशय स्वभाववर्णन'** को अलंकार्य मानना समीचीन नही है, क्योकि वस्तु के सामान्य धर्म का वर्णन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। उसके लिए कवित्वशक्ति की कोई आवश्यकता नही रहती, परन्तु सहृदयहृदयाह्लादकारी वर्णन करने की क्षमता तो प्रतिभासम्पन्न कवियो मे ही होती है, जिसके सातिशय स्वभाववर्णन की परमावश्यकता रहती है। महाकवियो को कभी औचित्य के अनुरोध से वर्णनीय प्रस्तुत वस्तु का स्वभाविक सौन्दर्य ही सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रकाशित करना अभीष्ट होता है, और कभी शब्द-अर्थ की विविध प्रकार की रचना के वैचित्र्य से युक्त सौन्दर्य। यहॉ पहले पक्ष मे रूपकादि अलंकारसमूह की शोभा उस स्वाभाविक सौन्दर्य की तुलना मे चमत्कृत नही होती और दूसरे पक्ष मे अलङ्काररचनावैचित्र्य ही मुख्य रूप से चमत्कृत होता है। इस न्याय से सर्वोत्कृष्टरूप से चमत्कृत स्वाभाविक सौन्दर्य रूप पदार्थ वक्रता को काव्य मे अलंकार्य मानना ही युक्ति संगत है,[१] क्योकि अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त सामान्यअर्थ को भी अलंकार्य मानने पर उसमे सुन्दर अलंकारो द्वारा सौन्दर्याधान नही

---

१ यस्मान्महाकवीनां प्रस्तुतौचित्यानुरोधेन कदाचिद् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमैकराज्येन विजृम्भयितुमभिप्रेतं भवति, कदाचिद्विविध रचनावैचित्र्ययुक्तमिति। अत्र पूर्वस्मिन्पक्षे रुपकादेरलङ्करणकलापस्य न तादृक तत्त्वम् । परस्मिन् पुन स एव सुतरां समुज्जृम्भते। तस्मादनेन न्यानेन सर्वातिशायिन स्वाभाविकसौन्दर्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्यालकार्यत्वमेव युक्तियुक्तामालम्बते। न पुनरलङ्करणत्वम् ।

- वक्रोक्तिजीवित ३/१ वृत्तिभाग

किया जा सकता, क्योकि वैसा करना अयोग्य भित्ति पर चित्रांकन के समान ही होता है। वस्तुतः सच तो यह है कि जिस प्रकार रमणियो के नवयौवन के लावण्य तथा ऋतुराज वसन्त की शोभातिशयता को अन्य अलंकार की आवश्यकता नही रहती, तद्वत् वस्तुवक्रता का स्वाभाविक सौन्दर्य किसी बाह्यालंकार की अपेक्षा नही रखता। रससिद्ध कवियो ने अपनी सहजात प्रतिभा के द्वारा चेतन प्राणियो और जड़प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन ऐसी वक्रता से किया है जिसमे अलङ्कारो का प्रयोगाधिक्य न रहने पर भी उनकी सौन्दर्याभिवृद्धि हुई है। अतः श्रेष्ठ कवि केवल प्रस्तुत अथवा वर्ण्यमान वस्तु के औचित्यानुरोध से ही सौन्दर्य का अभिव्यञ्जन करते है। जिससे वह सातिशय रमणीयता को धारण कर लेती है।

वक्रता के प्रकार एवं रचनाधर्मिता

आचार्य कुन्तक का वक्रोक्तिविषयक मत अत्यन्त व्यापक है, जिसमे सर्वत्र कवि के वक्रव्यापार कौशल का एकछत्र साम्राज्य दिखाई पड़ता है उनकी वक्रोक्ति कवि-कौशल का पर्याय कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। काव्य के शब्दो और अर्थो मे जो कुछ भी सौन्दर्य की शोभातिशयता अथवा मनोहारिता निवास करती है वह सब वक्रोक्ति की परिसीमा मे ही समाहित रहती है। उसका क्षेत्र एक ओर वर्णविन्यास से लेकर प्रबन्ध-कल्पना पर्यन्त व्याप्त है तो दूसरी ओर वह उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवो से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है। यही कारण रहा कि सम्प्रति ध्वनि-सिद्धान्त की भॉति वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी काव्यजगत् का सार्वभौमप्रभुत्वसम्पन्न सिद्धान्त रहा, जिसने कुन्तक के वस्तुपरक दृष्टिकोण मे महती प्रतिष्ठा प्राप्त की। उन्होने वक्रोक्ति के मूलतया[१] ६ भेद परिकल्पित किये जिसमे काव्य की लघुतम ईकाई वर्ण से लेकर महत्तमरूप महाकाव्य तक का विस्तार है।

कुन्तक के मत मे कवि-व्यापार की प्रथम वक्रता काव्य की सूक्ष्मतम ईकाई वर्णविन्यास मे निवास करती है जिसमे कवि अक्षरो को एक विशेष क्रम मे रखता है।[२] इस वक्रता को अन्य आचार्यो द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास अलंकार का पर्यायवाची कहा जा सकता है, क्योकि इसमे भी अनुप्रास की भॉति व्यञ्जनो का साम्य अभीष्ट है। भले ही स्वर-साम्य हो अथवा न हो। प्रतिभासम्पन्न कवियो की कृतियो मे इसके विविधरूप प्राप्त होते है। कवि

---

१ कविव्यापारवक्रत्वप्रकारा सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्ति शोभिन.।। - वक्रोक्तिजीवित १/१८

२ वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यास अक्षराणां विशिष्टन्यसन तस्य वक्रत्व वक्र भाव।
- वक्रोक्तिजीवित १/१९ वृत्तिभाग

स्वतन्त्ररूप से वर्णो के विन्यास को असंख्य प्रकार से संयोजित करता है। कुशलकवि का कर्तव्य है कि वह पूर्वावृत वर्णो का परित्याग करते हुए उसे नवीन वर्णो के पुनरावली से मनोहर बनावे। वर्णयोजना सदैव विषय के अनुकूल हो जिसमे श्रुतिपेशलता विद्यमान हो। इस प्रकार लोक, शास्त्र आदि के प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न वैचित्र्य के द्वारा गुम्फित शब्द शोभातिशय के द्वारा सहृदय को आनन्दित करते है।

पदपूर्वार्द्ध द्वितीय प्रकार की वक्रता है जिसमे सुबन्त-तिडन्त पद के प्रातिपादिक अथवा धातुरूप के पूर्वार्द्ध मे वक्रभाव अथवा विन्यास वैचित्र्य पाया जाता है। इस वक्रता के अन्यान्य भेद कुन्तक ने प्रतिपादित किये है, परन्तु उनमे मुख्य आठ है —

१. रूढिवैचित्र्य वक्रता - जहॉ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसात्मक अभिप्राय से वाच्यार्थ की प्रतीति, या तो रूढ़िशब्द से असंभव अर्थ के अध्यारोप से युक्त अथवा किसी विद्यमान अर्थ के अतिशय के आरोप से गर्भित रूप मे होती है वहॉ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है।[१]

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता मे प्रयुक्त रूढ़ि शब्द से तात्पर्य कोश तथा लोक में प्रसिद्ध शब्द के वाच्यार्थ से है जहॉ कवि अपनी सर्जनाशक्ति से रूढ़अर्थ पर किसी असंभाव्य किन्तु रमणीय अर्थ का अध्यारोप अथवा किसी उत्तम धर्म के अतिशय का गर्भितरूप से आरोप करता है, जिससे उसके अर्थ मे विचित्र सौन्दर्य या चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। यह रूढ़अर्थ अर्थान्तर मे संक्रमित

---

[१] रूढ़ेरसंभाव्यधर्माध्यारोपगर्भता।
सद्धर्मातिशयारोप-गर्भत्वं वा प्रतीयते।।
लोकोत्तरतिरस्कार श्लाध्योत्कर्षाभिधित्सया।
वाच्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता।। - वक्रोक्तिजीवित २/८-९

होने के कारण लक्षणा मे आश्रित रहता है जिसे आनन्दवर्धनाचर्या ने 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्याध्वनि' के अन्तर्गत विवेचित किया है।

२. **पर्यायवक्रता** - जहाँ पर कवि किसी वस्तु की अन्य बहुत से शब्दो द्वारा अभिधेयता संभव होने पर भी किसी अपूर्व रमणीयतायुक्त पर्यायवाची शब्द का प्रकरण के अनुकूल प्रयोग करता है। कुशल कवियो की प्रतिभा उन शब्दो के साथ साक्षात्कृत होकर उनकी प्रकरणोचित उपयुक्तता की परीक्षा करने के पश्चात् ही प्रयोग करती है जिससे काव्य मे अपूर्वचमत्कार आ विराजता है। कुन्तक ने ऐसे विशिष्ट प्रयोगो मे ही पर्यायवक्रता का निर्देश किया है। उनके मत मे पर्यायवक्रता मे प्रयुक्त शब्दो मे एक ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वाच्यार्थ का अन्तरतम भाव संस्पृष्ट हो जाता है। पर्याय शब्द वाच्य अर्थ का अत्यन्त निकटवर्ती अथवा अन्तरङ्ग होता है, जिसके कारण उसमे विवक्षित वस्तु को जिस रूप और प्रकार मे प्रकट करने की शक्ति होती है। वह किसी अन्य समानार्थक शब्द मे हो ही नही सकती।[१] अतः वह कान्ति के प्रकर्ष से रमणीय हो जाता है अथवा अलंकारो की दूसरी शोभा को उत्पन्न करने से मनोहर रचना वाला होता है। इसके अन्य अवान्तर भेद भी होते है। यथा— कारिकास्थ **'स्वच्छायोत्कर्षपेशलः'** पद से तात्पर्य ऐसी पर्यायवक्रता से है जिसमे अभिधेयार्थ की छाया, कान्ति या सुकुमारता उसके उत्कर्ष से मनोहारिणी बनकर सहृदयो को आह्लाद प्रदान करती है। उदाहरणार्थ - यदि कोई विरहातुर कामी चन्द्रिकाचर्चितयामिनी मे समुद्रवेला पर चन्द्रमा और सागरलहरियो का विलासपूर्ण दृश्य देखता हुआ अपनी मनःस्थिति के अनुरूप 'विषयकाण्डकुटुम्ब' अर्थात् ''पञ्चशरधारी कामदेव का कुटुम्बी'' पद का प्रयोग

---

१ अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशय पोषकः।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वरः॥
स्वयंविशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः।
असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भ यश्चाभिधीयते॥ - वक्रोक्तिजीवित २/१०-११

करे तो वह प्रसिद्ध होने पर भी सुन्दर सम्बन्ध के कारण प्रसिद्धि को प्राप्तकर अपनी अपूर्व कल्पना द्वारा सहृदयहृदयो को चमत्कृत कर सकेगा।

पर्यायवक्रता उस समय असंभाव्य प्रात्रत्वगर्भ होती है जब कोई कवि सामान्य शब्द से किसी असंभाव्य तुल्य अर्थ को बोधित करने के लिए किसी विशेष शब्द को पर्यायरूप मे प्रयुक्त करता है। यथा कालिदास द्वारा रघुवश के द्वितीय सर्ग के ३४ वे श्लोक मे राजा दिलीप के लिए प्रयुक्त **'महीपाल'** शब्द[१] राजा के असंभाव्यपात्रत्वर्थ को व्यक्त करता है। महीपाल दिलीप मे पृथ्वीमण्डल के परिपालन की शक्ति होने पर भी वह सिंहवशवर्तिनी नन्दिनी की रक्षा करने मे असमर्थ है। राजा के वाचक अनेक समानार्थक शब्द होने पर भी कविकुलगुरूकालिदास ने उनके लिए 'महीपाल' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है।

३. उपचार-वक्रता - जहॉ किसी अतिशयपूर्ण व्यापार को प्रतिपादित करने के लिए अत्यधिक व्यवधानवाली वर्ण्यमानवस्तु मे दूसरे पदार्थ से किञ्चिद् मात्र मे भी विद्यमान साधारणधर्म का भी आरोप किया जाता है। वहॉ उपचार-वक्रता होती है।[२] **'उपचरणं उपचारः सैव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता।'** तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत पदार्थ से अप्रस्तुत पदार्थ मे रहने वाले नाममात्र की समानता को भी, किसी धर्म के अतिशय प्रतिपादन के लिए उपचार या गौणीवृत्ति से वर्णन किया जाता है। इसके द्वारा रूपकादि अलङ्कार सरसता को प्राप्त होते है। इस प्रकार की वक्रता मे मूर्तवस्तु के वाचक शब्द द्वारा अमूर्त वस्तु का कथन सादृश्य लक्षणामूलक उपचार द्वारा किया जाता है जैसे - **'हस्तापचेययश'** 'हाथ से बटोरने योग्य यश' ससार मे केवल पुष्पादि

---

१ अल महीपाल तव श्रमेण। - रघुवंशम् २/३२

२ यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत् कांचिद्वक्तुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥ - वक्रोक्तिजीवित २/१३

मूर्तपदार्थो का अपचय संभव है, जिसके साम्य को ध्यान मे रखकर यश जैसे अमूर्त वस्तु का अपचय कवि ने पुष्पादि के समान वर्णन किया है। कवियो ने अपने काव्यजगत् मे अमूर्त अर्थ के लिए मूर्त अर्थ के वाचक अपचयादि क्रियाओ का प्रयोग किया है।

४ - **विशेषणवक्रता** - काव्यजगत् मे जहाॅ कवि विशेष के महात्म्य से क्रिया अथवा कारक के सौन्दर्य को प्रतिपादित करता है वहाॅ विशेषण वक्रता होती है। विशेषण वह भेदक धर्म है जिसके कारण विशेष्य मे अतिशयिता आती है। कुशलकवि विशेषण पदो के प्रयोग के समय प्रसङ्गौचित्य का पूर्ण ध्यान रखते है, क्योकि इससे काव्य मे वर्णित वस्तु के स्वभाव, अलंकरण व रस आदि का पोषण होता है। संस्कृत-काव्य की गद्यविधा मे इसप्रकार के विशेषण प्रभूतमात्रा मे उपलब्ध होते है, जो श्रेष्ठ कवियो के काव्यो की प्राणभूता होती है क्योकि इसके द्वारा रस को अपनी परिपुष्टि के चरम स्थिति मे पहुॅचाया जाता है। यस्मादनेनैव रस परांपरिपोषपदवीमवतार्यते।

५. **संवृतिवक्रता** - जहां किसी वैचित्र्य के कथन की इच्छा से अपूर्वता के प्रतिपादक सर्वनाम इत्यादि के द्वारा छिपाया जाता है उसे संवृतिवक्रता कहा जाता है। इसका मूलहेतु विचित्रता के प्रतिपादन की इच्छा है।[१] इस वक्रता के अनेक प्रकारो को कुन्तक ने प्रतिपादित किया है।

६. **वृत्तिवैचित्र्यवक्रता** - जिसमे अव्ययीभावादि समास, तद्धितादि वृत्तियो का सौन्दर्य प्रकाशित होता है वहाॅ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है। यथा - पाण्डुता, पाण्डुत्व आदि शब्दो के विद्यमान होते हुए 'इमनिच्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया तद्धितान्त 'पाण्डिमा' शब्द अधिक माधुर्यपरक है।

---

१ वैचित्र्यस्यविवक्षया विचित्रभावस्याभिधानेच्छया।

- वक्रोक्तिजीवित २/१६ वृत्तिभाग

७. लिङ्गवैचित्र्यवक्रता - कवि जिस वर्ण्य वस्तु के पदो मे अलग-अलग लिङ्गो के समानाधिकरण्य से अपनी उक्ति मे अद्भुत चमत्कार का उत्पादन कर देते है वह लिंगवैचित्र्यवक्रता कहलाती है।[१] कुन्तक का कहना है कि जहां अन्य लिगो का प्रयोग सम्भव होने पर भी स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग नारी की नैसर्गिक रमणीयता को ध्यान मे रखकर स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है वहां एक विचित्र प्रकार की शोभातिरेकता आ जाती है। संस्कृत मे तट आदि अनेक शब्द है, जिनका प्रयोग तटः, तटी, तटम् पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग मे होता है, परन्तु कवियो ने सुकुमार व्यञ्जकता की दृष्टि से स्त्रीलिङ्गवाची तटी शब्द का प्रयोग करना अधिक रमणीय माना है। रससिद्ध कवियो की वाणी अपनी नवनवोन्मेषशालिनीप्रज्ञा द्वारा ऐसे भाव-प्रसङ्गो की सुषमा को हृदयङ्गम कर वर्ण्यमान विषय मे लिङ्गवैचित्र्य वक्रता द्वारा चमत्कारजन्य विच्छित्ति उत्पन्न कर देती है। **'नामेव स्त्रीयेशलम्'** सिद्धान्तानुसार स्त्रियो के स्वभाव मे जो कोमल संवेदना होती है वह अन्यत्र दुर्लभ होती है। तभी तो महाकवि कालिदास रघुवंश के त्रयोदश सर्ग मे राम के मुख से यह कहलाते हुए दीख पड़ते है- **"त्वं रक्षसा भीरू यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता में"**। यहॉ लता और मृगियो के स्त्रीलिंग प्रयोग से जो भावमय वैचित्र्य आया है वह अन्य लिंगो के प्रयोग से संभव नही है।

८. क्रियावैचित्र्यवक्रता - इस प्रकार की वक्रता मे सुबन्त तथा तिडन्त पदो का जो धातुरूप पूर्वभाव संभव हो सकता है उसका विचार किया जाता है। कुन्तक ने इनके अन्यान्य भेद प्रतिपादित किये है। यथा-

जहॉ क्रिया कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्ग हो वह क्रियावैचित्र्य वक्रता ही है। जैसे कुमार संभवम् के तीसरे सर्ग के ३३ वे छन्द मे "क्या मै चन्द्रलेखा

---

१ भिन्नर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानाधिकरण्यता।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता।। - वक्रोक्तिजीवित २/२१

को धारण करने से सुन्दर लगती हूँ'' पार्वती के इस प्रकार पूछने पर भगवान् शङ्कर ने उसके उत्तर मे उस स्थान का चुम्बन कर लिया जहाँ चन्द्रिका बँधी थी। इस उदाहरण मे चुंबन रूप क्रिया कर्ता के अत्यन्त अन्तरङ्ग है इसका विमर्श करते हुए कुन्तक लिखते है कि यहां पर पार्वती के इस प्रकार की क्रिया के द्वारा कथन, चुंबन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की क्रिया के द्वारा संभव नही था अपनी किया वैचित्र्यमूलकवक्रभाव के कारण कवि ने इस युक्ति मे कर्ता के अन्तरङ्गता वश सौन्दर्याभिधान कर दिया है।[1]

३. **पदपरार्द्धवक्रता** - कुन्तकाभिमत वक्रता का तृतीय प्रकार पदपरार्द्ध वक्रता है। पद का उत्तरार्द्ध प्रत्यय हुआ करता है। इसे प्रत्ययवक्रता के नाम से भी जाना जाता है। इन प्रत्ययो मे उद्भूत वक्रता का विचार होता है। इसके काल, कारक, संख्या, पुरूष, प्रत्ययमाला आदि अन्यान्य भेदोपभेद है— यथा संख्यावक्रता के विधान मे आचार्य कुन्तक का कहना है कि वैचित्र्य-वर्णन के परतन्त्र होकर कवि सख्या अथवा वचन का परिवर्तन कर देते है वह संख्या वक्रता कहलाती है।[2] तात्पर्य यह है कि काव्य मे कवि किन्ही स्थलो पर एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग कर विशेष चमत्कार को उत्पन्न करता है। इस वचन विपर्यास का कारण वचनविवक्षा ही होता है। यथा - अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क मे शकुन्तला के ऊपर उड़ते हुए भ्रमर को देख दुष्यन्त की यह उक्ति **''वयं तत्त्वान्वेशान्मधुकर हतात्वं खलु कृती''** जिसमे दुष्यन्त द्वारा एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किये जाने से एक प्रकार का वचन वैचित्र्य आ गया है। बहुवचनान्त के प्रयोग के द्वारा राजा ने अपनी

---

१ कर्त्तुरत्यन्तरङ्गत्व कर्त्रन्तरविचित्रता।
सविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता।। - वक्रोक्तिजीवित २/२४

२ कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिता।
यत्र संचयाविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदु।। - वक्रोक्तिजीवित २/२९

विरक्ति और आत्म निन्दा की व्यञ्जना की है। कवि कालिदास की प्रज्ञा उक्त अभिप्राय की व्यञ्जना मे ही विश्रान्ति को प्राप्त हो रही है। इसीप्रकार इसके अन्यान्य भेद भी है।

४. वाक्य-वक्रता - आचार्य कुन्तक ने शब्द अर्थ वक्रता के पश्चात् वाक्य वक्रता को निरूपित किया है वाक्य-वक्रता की स्थिति अन्य वक्रताओ के सापेक्षतया भिन्न प्रकार की होती है, क्योकि इसमे शब्द, अर्थ, गुण, अलंकारो से भिन्न विशेष शैली मे काव्य वर्णना की जाती है।[१] जहाँ किसी वर्णनीय पदार्थरूप वस्तु का वर्णन अपने उदारस्वरूप की रमणीयता से किया जाता है जिसमे सुन्दर शब्दगोचरता विद्यमान रहती है। यहाँ कुन्तक का 'उदार' पद से तात्पर्य 'उत्कर्षयुक्तसर्वातिशायी' और स्वस्पन्द 'स्वभावमहिमा' है जिसके सौकुमार्यातिशय से काव्य मे शोभा का संचार होता है। इस वक्रता मे आचार्य कुन्तक ने कवि-व्यापार के कौशल को मनोज्ञ फलक पर अङ्कित चित्र के रंगो के सौन्दर्य से भिन्न चित्रकार की मनोहारिणी, अनिर्वचनीय निपुणता से उपमित किया है।[२] तात्पर्य यह है कि वाक्य-वक्रता काव्यसौन्दर्य का वह अद्भुत प्रकार है, जिसमे काव्यवर्णित पदार्थो का स्वरूप, चित्रफलक के साधन समुदाय से भिन्न, चित्रकार के कौशल की भाँति भिन्नरूप मे ही प्रस्फुरित होता है। उसमे वर्णन की सुकुमारता, रसो की संवेद्यता और अलङ्कारो की चमत्कृति का ऐसा समन्वय रहता है जिसके कारण रसिको को आनन्द की प्राप्ति होती है।

---

१ मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कार सपद.।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्व तथाभिहितिजीवितम् ।। - वक्रोक्तिजीवित ३/३

२ मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तु. किमपि कौशलम् ।। - वक्रोक्तिजीवित ३/४

अतः जिस प्रकार चित्रकार चित्रपट पर अंकित रेखाचित्र मे रंगो की कान्ति से भिन्न अपनी अलौकिक निपुणता से उसमे कुछ अनिर्वचनीयता का विधान कर देता है, उसी प्रकार शब्दो, अर्थो, गुणो एवं अलंकारो की सम्पत्ति से भिन्न, कवि अपने लोकोत्तरकाव्यकौशल से काव्य मे अपूर्वता का सचार कर देता है, जिससे उसे जीवन्तता प्राप्त हो जाती है। पदार्थो के स्वभाव की सुकुमारता का प्रतिपादन करने अथवा शृंगारादि रसो के स्वरूप को भलीभाँति व्यक्त करने मे अनेको प्रकार के अलंकारो के प्रयोग से उसके निष्पादन मे निहित उत्कर्षाधिक्य ही रसिको के आनन्द का हेतु बनता है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक वर्णनीय वस्तुओ अथवा पदार्थो के स्वभाव की सुकुमारता के वर्णन-प्रसंग मे उपमादि वाच्य अलंकारो की उपयोगिता को एक सीमा पर्यन्त ही स्वीकार करते है, क्योकि उनका विश्वास है कि अलंकारो का आधिक्य अनेकधा पदार्थो के स्वाभाविक सौन्दर्यातिशय मे मलिनता का सन्निवेश भी कर देता है। वस्तुत किसी वस्तु के स्वभाविक स्वरूप का ही सुन्दररूप मे सुन्दर शब्दो द्वारा किया गया वर्णन कुन्तक को अभीष्ट है और वे उसी मे वस्तु-वक्रता मानते है।[1] अत. किसी अनिर्वचनीय ढंग से जो अभिहिति-अपूर्वकथन है, वह जिसका प्राणसर्वस्व है उसके मूल मे कवि-व्यापार का लोकोत्तर कौशल ही निवास करता है। यही कारण है कि रसो के सम्यग् पोषण से मनोहर प्रतीति का विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के औचित्य से रहित किसी दूसरे प्रकार से उनका प्रतिपादन, वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य का बाधक बन जाता है। अत कवि, युवती की प्रथम युवावस्था के प्रारम्भ, रत्यादि एवं अतिकोमल वसन्तादि ऋतुओ के प्रारम्भ, परिपोष एव समाप्ति आदि पदार्थो के प्रतिपादन मे उनके प्राणभूत अपने

---

१ तददिमुक्त भवति भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावेभूयसां न वाच्यमलङ्काराणामुप-योगयोग्यता सभवति स्वभावसौकुमार्यातिशयम्लानता प्रसगात्।

- वक्रोक्तिजीवित ३/१ वृत्तिभाग

व्यापारकौशलप्रसूत वक्रता से भिन्न किसी दूसरे अलंकार के द्वारा अलङ्कृत नही करते और यदि अलंकारो की रचना करते भी है तो वह केवल पदार्थ की स्वाभाविक सुकुमारता के प्रतिपादन का हेतु बनता है।[१] यथा 'सरसिजमनुविद्धम' आदि श्लोको मे कवि ने उपमा के व्याज से पदार्थों के सहजसौकुमार्य को उभारने के प्रयत्न मे ही आयास करता हुआ दीख पडता है।

वस्तुवक्रमता का द्वितीय प्रकार वह है जिसमे कवि के सहजशक्तिजन्य तथा आहार्य कौशल से शोभित होने वाली ऐसी काव्य-रचना की जाती है जो अभिनव कविनिर्मित होने के कारण लोकातिक्रान्तगोचरा कही जाती है[२] तात्पर्य यह है कि कवि जिन पदार्थों का वर्णन करता है वे ऐसे नही होते कि उनकी पूर्ववर्ती सत्ता का सर्वथा निषेध कर दिया जाय। वस्तुत कवि द्वारा वर्ण्यमान पदार्थो की सत्ता उसके पूर्व भी होती है, परन्तु लोक मे केवल सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले उन पदार्थो मे कवि अपनी शक्ति से ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है जिसके कारण वे साधारण लौकिक पदार्थ भी किस अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते है। साधारण और लौकिक पदार्थो मे अलौकिक सौन्दर्य उत्पन्न करने की क्षमता रखने के कारण ही उन्हे प्रजापति से उपमित किया गया है। पदार्थो मे कविप्रतिभानिबद्ध यह अलौकिक सौन्दर्य ही उन्हे काव्यगत जीवन्तता प्रदान कर देता है। कवि अपने वर्ण्यमान भावो का उत्कर्ष संवर्द्धित करने के लिए ही ऐसी पदयोजना करता है।

---

१ एवंविधविषये स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्यवस्तुनस्तदाच्छादनभयादेव न भूयता तदकविभिरलङ्करणमुपनिबध्नते। यदि वा कदाचिदुपनिबध्नते तत्तदेवं स्वाभाविक सौकुमार्य सुतरां समुन्मीलयितु न पुनरलङ्कारवैचित्र्योपपत्तये।
- वक्रोक्तिजीवित ३/१ वृत्तिभाग

२ अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी।
निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा।। - वक्रोक्तिजीवित ३/२

सच तो यह है कि ऐसी योजनाओ मे कवि की व्युत्पत्तिजन्य काव्यशक्ति ही प्रधान कारण है, क्यो कि काव्य मे सम्पूर्ण भावबिम्ब एवं कलावैचित्र्य उसी के बल से भासता है। भामह ने इसी दृष्टि से अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति को सभी अलकारो का मूलस्रोत माना था जिसके विविध रूप विभिन्न अलंकारो मे प्रदर्शित होते है। अतः कुन्तक की वाक्य वक्रता मे लगभग सम्पूर्ण अलंकार समुदाय आ जाता है, क्योकि उसमे कविकौशल उद्भावित अलंकार चमत्कृति भी रहती है। केवल सादृश्य कथन से किसी भी उक्ति मे आह्लादमयता नही आ सकती, क्योकि कविप्रतिभा संयोग के अभाव मे मनोहर कल्पना अथवा वर्ण्यमान वस्तु के लोकोत्तर वैशिष्ट्य के लिए अवकाश ही नही रहता। यही कारण है कि कुन्तक के **"रसस्वभावालङ्काराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्"** द्वारा कविकौशल को रस, स्वभाव और अलंकार तीनो का प्राणप्रदधर्म स्वीकार किया।

रस वक्रता मे कवि अपने कौशल से रस का सौन्दर्य ऐसी विधि से निष्पन्न करता है जिसमे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो से परिपुष्ट स्थायीभाव अत्यन्त आस्वाद्यमानता को प्राप्त कर वाक्य-वक्रता रूप मे कवि-कौशल की अपूर्वव्यञ्जना करता है। वाक्य-वक्रता के बल पर सृष्टि के आदि-काल से स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार कविकौशल के द्वारा सहृदयो को आह्लादित करने वाली अलौकिक अपूर्वता को प्राप्त हो जाते है।[१] इसमे वर्णित विषयो के कुन्तक ने चेतन और अचेतन रूप से दो भेद स्वीकार किये है। ज्ञानयुक्त प्राणी चेतन तथ तद्भिन्न जड़ अचेतन, दोनो प्रकार के विषयो का वर्णन कवियो ने अपने काव्यकृतियो मे यथाप्रसङ्ग किया है, परन्तु जहाँ पर वे

---

१ रस स्वभावालङ्कारा आससारमपि स्थिता.।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ।। - वक्रोक्तिजीवित ३/४/२३ श्लोक

रत्यादि के परिपोष से मनोहर तथा अपने जातिसुलभ स्वभाव से रमणीय बन पड़े है, वही पर कवि की सफलता मानी गयी है।

५. प्रकरण वक्रता - प्रकरण वक्रता का अर्थ है— प्रबन्ध के एकदेश मे स्थित वक्रता। अर्थात् पूरे ग्रन्थ के अन्तर्गत वर्ण्यविषय के एकांश मे कवि-मनोरथ के प्रस्तुत किये जाने पर एक अनिर्वचनीय, असीम और निर्बाध उत्साह के कारण सुशोभित होने वाली और अपने आशय की उद्भावना के कारण मनोहर प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इस वक्रता मे काव्यस्त्रष्टा प्रारम्भ से ही निर्भय होकर अपने अभीष्ट वर्ण्यवस्तु मे ऐसा परिवर्तन कर देते है जिसमे वह औचित्यपूर्ण और आह्लादजनक हो जाता है। ऐसे परिवर्तन प्रकरण मे नवीन सौन्दर्य का उत्सेक करते है। इस वक्रता के अन्यान्यभेद है यथा पात्र, प्रवृत्ति उत्पाद्यकथा आदि।

उत्पाद्यकथा-वक्रता को उत्पाद्य-लावण्यवक्रता अथवा कल्पनाप्रसूत मधुर-उद्भावना भी कह सकने है। इसका विमर्श करते हुए कुन्तक लिखते है जहाँ कुश कवि इतिहास कथा के वर्ण्य वैचित्र्यमार्ग मे कल्पना प्रसूत अंश का सौन्दर्य संयोजित कर उसे लोकोत्तर रमणीता प्रदान करता है। कविकृति मे ऐसे परिवर्तन के कारण ऐसे स्थलो मे इतना अधिक काव्य सौन्दर्य आ जाता है जिसमे वह सम्पूर्ण प्रकरण चरमसीमा पर प्रतिष्ठित एवं रस से परिपूर्ण होकर काव्य-प्रबन्ध का प्राणस्वरूप बन जाता है। कवि अपनी प्रतिभा से उत्पाद्य लावण्य मे अविद्यमान की कल्पना अथवा विद्यमान का संशोधन करता हुआ कथावस्तु के प्रकरण को वक्रतामय बना देता है। यथा-

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के चतुर्थ अंक मे वर्णित दुर्वासा शाप का प्रकरण महाकवि 'कालिदास' की प्रज्ञा की वह विलक्षण उपज है जिसके द्वारा उन्होने महाराज दुष्यन्त के चरित्रदोष का प्रक्षालन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक विधि से किया है। वस्तुत महाभारत मे दुर्वासा शाप की घटना नही प्राप्त

होती है। कालिदासकृत उक्त कल्पना से नाटक का सम्पूर्ण कथानक प्रभावित हुआ है, तथा दुष्यन्त के चरित्र मे नायकोचित औदात्य का प्रस्फुटन भी हुआ है, तथा इसके साथ-साथ प्रकरण के स्पर्श से कथा ने गति भी प्राप्त की हैं।

वस्तुतः ऐतिहासिक कथानको पर काव्यबन्धो मे कवि अपने व्यापार कौशल के माध्यम से इस प्रकार से उत्पाद्य परिवर्तन के द्वारा अद्भुत चमत्कार की उद्भावना कर देते है जिनमे जीवन की सहज संवेदनीय भावनाओ का सहज संभार प्रस्फुटित हुआ करता है। इसी प्रकार 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' के तृतीयाङ्क मे 'छाया सीता' की कल्पना कवि की प्रतिभा से समुद्भूत है जो करूणरस के परिपाक को चरम पर प्रतिष्ठित कर देती है।

६. प्रबन्ध-वक्रता - जहाँ कही प्रकरण के अन्तर्गत सामाजिको के आनन्द को उत्पन्न करने मे सिद्धहस्त नटो द्वारा सामाजिको की भूमिका मे स्थित होकर दूसरे नटो का निर्माण कर उपस्थित किया गया अन्य प्रकरण प्रबन्ध-वक्रता के प्राणभूत वक्रता को पुष्ट करता है वह प्रबन्धवक्रता है।[१] यही वक्रता काव्य मे अङ्गी या मुख्य रहती है। प्रथम पाँच प्रकार की वक्रताओ का लक्ष्य समूहरूप से इसी वक्रता के उत्पादन मे है, क्योकि प्रबन्ध मे सौन्दर्य का उत्पादन कवि का प्रथम लक्ष्य रहता है। अतः जिस प्रकार अंगी की शोभा से अंगो की शोभा होती है और अंगो के सौन्दर्य से ही अंगी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, उसीप्रकार कवि व्यापार का चरमावसान प्रबन्ध-वक्रता की ही सृष्टि मे होती है— जिसके द्वारा रससिद्ध कवि अपने प्रबन्ध-रस मे अभीष्ट परिवर्तन करते हुए कथाविच्छेद, आनुषंगिक फल तथा तुल्य कथानको की

---

[१] सामाजिक जनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटै।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ॥
क्वचित्प्रकरणस्यान्त स्मृत प्रकरणान्तरम् ।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकला पुष्णातिवक्रताम् । - वक्रोक्तिजीवित ४/१२-१३ श्लोक

योजना मे वैचित्र्यपूर्ण भंगिमाओ का संचार करते है। इस वक्रता के भी अनेक भेदोपभेद है यथा, प्रबन्ध-रस-वक्रता, समापन-वक्रता कथाविच्छेदवक्रता, आनुषंगिकफल-वक्रता, नामकरण-वक्रता।

राजपुत्रादि विनेयो के लिए आनन्द की सृष्टि हेतु जहाँ इतिहास मे अन्य प्रकार के किये गये रसोत्पत्ति की उपेक्षाकर किसी अन्य रमणीय रस से कथा की समाप्ति की जाती है वहाँ पर काव्य मे प्रबन्ध-रस-वक्रता होती है।[1]

इस परिवर्तन का प्रयोजन आह्लाद होता है उदाहरणार्थ - रामायण तथा महाभारत पर आधारित 'उत्तररामचरितम्' तथा 'वेणीसंहारम्' नाटको को उद्धृत किया जा सकता है जिनकी रचना अपने उपजीव्य काव्यो के अनुसार होती तो उनका प्रधानरस शान्त ही होता, परन्तु इनके प्रणेता कवियो ने रसपरिवर्तन करते हुए क्रमश: करूणरस और वीररस की कृतियाँ इन्हे बना दी। रामायण और महाभारत के अंगीरस के विषय मे विद्वानो मे मतभेद होना संभव है, परन्तु आनन्दवर्धन ने शान्तरस की स्थिति को ही प्रधान माना है[2] परन्तु उनके साथ सहमत होते हुए कुन्तक ने इन नाटको को प्रबन्ध-रस-वक्रता के रूप मे उदाहृत किया।

इसप्रकार आचार्य कुन्तक का वक्रोक्तिविषयक चिन्तन कवि की सर्जनात्मक प्रक्रिया का सूक्ष्मान्वेषण कहा जाय तो अतिशयोकित नही होगी।

---

१ इतिवृत्तान्यथावृत्त रससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहण भवेत् ॥
तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता।। - वक्रोक्तिजीवित ४/१६-१७ श्लोक

२ रामायणे हि करूणो रस स्वमादिकविना सूचित:--।
महाभारतेऽपि ----------शान्तोरसश्चमुख्यतया विवक्षा विषयत्वेन सूचितः।
- ध्वन्यालोक ४/५ वृत्तिभाग

कवि के सम्पूर्ण सर्जनात्मक व्यापार के मूल मे कुन्तक की वक्रोक्ति निहित है, जिसे उन्होने 'विचित्रअभिधारूपिणी' कहकर लक्षणा, व्यञ्जना की सत्ता को उसके सम्मुख निरस्त कर दिया। काव्य को प्राणमत्ता प्रदान करने वाला काव्य यदि कवि के वक्रव्यापार से हीन है तो वह नीरस वस्तुकथन मात्र ही होता है, क्योकि कवि के वक्रव्यापार कौशल मे ही काव्य-सौन्दर्य का मूल अधिवास होता है।

अत. कुन्तक के मत मे शब्द और अर्थ का ऐसा परस्पर समरस योग काव्य है जो कवि के वक्रव्यापार से सुशोभित तथा सहृदयो को आह्लाद देने वाले बन्ध मे व्यवस्थित रहते है। कुन्तक का समस्त वक्रोक्ति-प्रस्थान सर्जनापक्षीय ही है उन्होने इस सिद्धान्त के विवेचन मे कवि-सर्जना को ही केन्द्र मे रखा है। उन्होने मार्ग-विभाजन का आधार कवि-स्वभाव को ही स्वीकार किया है। कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसी ही उसकी शक्ति होती है, और उस शक्ति के अनुरूप ही उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास होते है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी रूचि के अनुसार विभिन्न पदार्थो के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत कर देता है, जिस रूप मे वे मूलरूप मे नही भी होते। कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति से संभव होने वाला काव्य-सौन्दर्य ही पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। अतः कुन्तक के सिद्धान्त का सारा स्वारस्य कवि-व्यापार की वक्रता सिद्ध करने मे है। काव्यात्मा सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तो मे वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य-सर्जना के अत्यधिक निकट है और यही कवि के सर्जनपक्ष पर विधिवत विचार करने वाला सिद्धान्त है।

अध्याय-८

कवि-शिक्षा

अध्याय-६

कवि-शिक्षा

सर्जना और कवि-शिक्षा

सर्जना कवि-मस्तिष्क के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारो की चरम परिणति है। सामान्य मस्तिष्क तो स्थूल और सूक्ष्म, इह और उद्व के विभाजन मे विश्रान्ति को प्राप्त हो जाता है, परन्तु कवि-मस्तिष्क इन विभाजनो का पारगामी मस्तिष्क होता है। वह अपनी सर्जना मे जागतिक द्वन्द्व को महसूस करता हुआ रागद्वेष से ऊपर उठकर लौकिक वस्तु को अलौकिक बना देता है, पुन वैयक्तिकता से अलग होकर निर्वैयक्तिकता की ओर बढ़ता हुआ अपने साधारण भावो को असाधारणरूप मे शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। यह कवि की सहज स्वाभाविक वृत्ति है। वह अपने प्राक्तनपुण्यवशात् शब्दार्थरूप व्यापार मे परिणमित होने वाली इस दैवीय या प्राकृतिक प्रक्रिया मे प्रवृत्त होता है। रचयिता कवि की आत्मा मे सतत् उदित प्रतिभा परा वाग्देवता के अनुग्रह से काव्योचित विचित्र तथा अपूर्व अर्थ की स्फुरणा होने लगती है और काव्यजगत् क्षणभर मे निर्मित हो जाता है।

अतः समस्त आलंकारिक आचार्यो द्वारा कवि को जन्मजात प्रतिभा वाला स्वीकार किया जाना स्वाभाविक है, परन्तु यहॉ प्रश्न यह उठता है कि कवि यदि जन्मना होते है तो उनकी शिक्षा कैसी? क्या कवि को शिक्षित किया जा सकता है?

यदि कवि की शिक्षा को स्वीकार किया जाय तो उसकी जन्मजात प्रतिभारूप शक्ति पर प्रश्नचिह्न खड़ा होता है, फिर यह भी प्रश्न विचारणीय

हो जाता है कि आचार्यो ने कविशिक्षा के विषय मे विचार ही क्यो किया? क्या कवित्व को और अधिक तीक्ष्ण करने के उद्देश्य से आचार्यो ने कविशिक्षा को सामने रखा?, क्योकि कवि की सर्जनात्मक-प्रक्रिया के मूल मे निहित तत्त्वो के स्वरूप-विवेचन मे आलंकारिक आचार्यो की उक्तियां के प्रकाश मे यह तथ्य साक्षात् प्रतिबिम्बित होता है कि कवि जन्मजात ही नही होते, अपितु उनको शिक्षित भी किया जा सकता है। काव्य निरा शब्दार्थ-व्यापार ही नही, जो सुबन्तो और तिङन्तो के गढ़-अनगढ़ तालमेल से निष्पन्न हो जाय। वह तो शाश्वत, जीवन्त और विकासशील प्रक्रिया है, जिसके लिए कवि को नियमितरूप से कुछ सीखकर अपने आप को तैयार करना पड़ता है। राजशेखर स्फुटरूप से कहते है कि जो कवित्व का इच्छुक काव्य की विद्याओ तथा उपविद्याओ को प्राप्त करने के लिए गुरुकुलो का सेवन करता है। वह काव्यविद्या स्नातक है।[१] उनकी दृष्टि मे बिना शिक्षा के कवि उचित काव्य का निर्माण नही कर सकता। शिक्षा प्राप्त कर निरन्तर अभ्यास से कवियो के वाक्यो मे परिपक्वता आती है, जिससे पदगुम्फन मे कवि निष्कम्पता को प्राप्त कर लेता है।[२] इसे ही भामह ने सौशब्द्य कहा है।[३] अत सुन्दर कवित्व हेतु कविशिक्षा अनिवार्य है।

---

१ य॰ कवित्वकाम काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरूकुलान्युपास्ते स काव्यविद्यास्नातकः। -राजशेखर - काव्यमीमांसा, अध्याय-५

२ सततमभ्यासवशत॰ सुकवेः वाक्यं पाकमायाति।
पदनिवेशनिष्कम्पता पाक॰। - वही अध्याय-५

३ सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचा वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।
तदेतदाहु॰ सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।। - भामह -काव्यालंकार १/१४

कविता की उपासना करने वाला साधक अपने मनोरथ मे नि:सन्देह सिद्ध होता है। दण्डी भी सलाह देते है कि "प्रतिभा तो पूर्वजन्म की वासना के गुणो पर आश्रित रहती है यदि किसी कवि को प्रतिभा रूप जन्मना प्राप्त नही हुआ तो उसे हतोत्साहित होकर काव्य सर्जना से विमुख नही होना चाहिए, यदि शास्त्र से यत्नपूर्वक कविता की उपासना की जाय तो सरस्वती उस पर अवश्य प्रसन्न होती है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण का 'काव्यदोषविवेक', अरिसिंह और अमरचन्द्र की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन', केशवमिश्र का 'अलंकारशेखर', अजितसेन का 'अलंकार-चिन्तामणि' तथा हिन्दी मे केशवदास की 'कविप्रिया' ऐसे ग्रन्थ है जिनमे कवि की सर्जनात्मक-प्रतिभा कतिपय नियमो से अनुवर्तित होती हुई दीख पड़ती है।

अतः काव्य जो कविकर्म है उसकी एक निश्चित प्रक्रिया है, एक रचना प्रणाली है, जिससे होकर आने वाला व्यक्ति ही इस कर्म को सम्यक्रूप से सम्पादित कर सकता है। तदितर उसे नही जान सकता। कवि जिस अन्तर्दृष्टि से वस्तु मे निहित अन्तस्तत्त्व को जान लेता है वह एक क्षण मे यों ही नही प्राप्त हो जाती, वरन् उसके लिए सतत् नियमित एवं अनुशासित होकर यत्न करना पड़ता है।

कवि की सर्जनात्मकता शब्दार्थो मे जीवन्त होती है। शब्द-विन्यास कवि-सर्जना की सहजस्थिति है। प्रत्येक कवि की अपनी भाषा होती है। उसके भाषा की नूतनता ही कवि की पहचान बनती है जिसे कविमार्ग कहते है। अतः कवि द्वारा रचित काव्य के वैशिष्ट्य के व्याख्यान मे कविशिक्षा से सम्बन्धित शास्त्र या शब्द विन्यास के गुणो एवं मार्गो का आचार्यो ने निरूपण किया। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा मे संस्कृत-काव्य-सर्जना का व्याख्यान करते हुए कवि मार्ग के इस रहस्य को उद्घाटित करने वाले तीन आचार्य है दण्डी, वामन और कुन्तक।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे काव्य के प्राणभूत दश गुणो का निरूपण किया। काव्य के प्राणभूत ये गुण है - श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि।[१] दण्डी ने इन गुणो का विवेचन विशेषतः विदर्भदेश के कवियो की काव्यरचनाओ के सन्दर्भ मे किया है। जिसे उस समय वैदर्भ-मार्ग की काव्यरचना कहा जाता था। काव्य की विदग्धगोष्ठियो मे कवि इन गुणो से मण्डित अपने काव्यप्रयोग का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया करते थे। वैदर्भ-मार्ग के समकक्ष ही गौड़देशीय कवियो को भी इन गुणो का प्रयोग अपनी काव्यभाषा मे करने की सलाह दण्डी ने दी। मात्र गौडमार्ग मे इनके लक्षण बदल जाते थे।[२] इन गुणो द्वारा वैदर्भ-मार्ग का जो प्रतिमान स्थापित हुआ वह काव्य-सर्जना का स्वयभू आदर्श बन गया। कालिदास ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपने काव्य को अमर बना दिया। दूसरे भी सहज समर्थ कवियो ने काव्य सर्जना के इसी मार्ग से प्रवेश किया। वामन ने कवियो के विशिष्ट पदो (शब्द विन्यासो) की रचना का जो विधान निर्देशित किया वह 'रीति' के नाम से जाना गया। कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' तो कवि-सर्जना का आकर ग्रन्थ ही सिद्ध हुआ। उन्होंने कवियो को अपने सर्जनात्मक-व्यापार के प्रसरण हेतु तीन मार्गो का व्याख्यान किया। दण्डी द्वारा निरूपित वैदर्भ-मार्ग और गौड-मार्ग का सारगर्भित नामकरण करते हुए उन्हे सुकुमार और विचित्र-मार्ग कहकर इन दोनो के बीच मध्यममार्ग नाम से तीसरे विधान का निर्देश दिया[३]। जिसमे सुकुमार तथा विचित्र दोनो मार्गो की सम्पत्तियॉ परस्पर स्पर्धा से समानरूप मे विद्यमान रहती है, तथा कवि की प्रतिभा सहजा और आहार्या से उत्पन्न कान्ति के उत्कर्ष से

---

१ काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद कारिक - ४१, ४२

२ काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद-का ४४, ४६, ५०

३ मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारूचिमनोहरः।
स्पर्द्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥ - कुन्तक -वक्रोक्तिजीवित १/५१

शोभित होने वाली सुकुमारता एवं अपूर्वता परस्पर मिश्रित होकर निवास करती है। इस मार्ग का आश्रयणकर काव्यसर्जना करने वाला कवि आदर का भाजन बनता है और उस काव्य का सेवन करने वाला सहृदय अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करत है। कुन्तक ने उक्त मार्गत्रय से अनुवर्तित होते हुए कवियो को काव्य-सर्जना मे प्रवृत्त होने की सलाह दी। इन्ही मार्गो से कालिदासादि सत्कवि विकसित हुए फूलो के बन से गुजरने वाले भ्रमरो के समान काव्य-रचना मे प्रवृत्त हुए।[१] उनका मानना है कि जिसके भीतर अलौकिक अतिशय की उक्ति उल्लासित होती है वह अत्यन्त कठिनता से चलने योग्य विचित्र-मार्ग है, जिसका आश्रयण कर चतुर कवि लोग बडे-बड़े वीरो के तलवार की धार के मार्ग से चलने वाले मनोरथो की भॉति गुजरते है।[२] कवियो को अपनी भाषा मे जीवन्तता लाने हेतु उन्होने इन मार्गो के शब्दगुणों का व्याख्यान किया-माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। इन चारो गुणो का स्वरूप सुकुमार-मार्ग मे दूसरा है तथा विचित्र-मार्ग मे दूसरा।[३] वस्तुतः कुन्तक के गुणो का मूल व्यख्यान दण्डी के गुणो से भिन्न नही, वरन् इनमे मात्र संज्ञा का अन्तर है।

कविता का लोक कवि के ही लोक से निर्मित होता है। वह लोक जिसमे कवि सॉस लेता है, हॅसता है, दुखी होता है, नाना भावो मे निवास करता हुआ रसो से आसिक्त होता है, वह इह लोक ही है। उसकी सर्जना इस प्रपञ्चात्मक द्वन्द्व की अनुकृति होती है। इस लोक के वर्ण्य-वस्तु को,

---

१ सुकुमाराभिध सोऽयं येन सत्कवये गताः।
मार्गेर्णोफुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदा।। - वक्रोक्तिजीवित १/२९

२ सोऽति दु सञ्चरो येन विदग्धकवयो गता।
खड्गधारापथेनेव सुभटाना मनोरथाः।। - वक्रोक्तिजीवित १/४३

३ आभिजात्यप्रभृतय पूर्वमार्गोदितागुणा।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः।। - वक्रोक्तिजीवित १/११० पृ० २०

काव्यधारा के प्रस्फुटन के आदिकाल से कविजन अपने सर्जना-जगत् की आधारभित्ति पर उकेरते आ रहे है। अतः प्रश्न यह उठता है कि क्या एक ही विषयवस्तु का बार-बार वर्णन करने से वह सहृदयो को अरुचिकर नही प्रतीत होती है? इस प्रश्न के समाधान मे आचार्य राजशेखर कवि को शिक्षा देते है कि प्राचीन कवियो ने काव्यमार्ग का सम्यक् अभ्यास किया। उनसे अस्पृश्य कुछ भी नही। सारा वस्तु-जगत् उनके द्वारा जूठा कर दिया गया है। अत राजशेखर कवियों को सलाह देते है कि वे प्राचीन कवियो से अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करे, क्योकि प्राचीन कवियो की उक्तियॉ यदि अर्थान्तर मे नियोजित की जाय, कवि अपनी शक्ति से उसमे कुछ अपूर्वता उत्पन्न करे तो वे पहचानी नही जाती और सुस्वादु चर्वणीय बनकर सहृदयहृदयाह्लाद का हेतु बनती है। किन्तु उक्तियो का यथावत् हरण तो हरण से हरे गये के समान है। अतः कवि को अपनी सर्जना मे उसका निषेध करना चाहिए, क्योकि उनके मत मे - "कवि और व्यापारी चोर न हो यह बात नही। परन्तु जो उसे छिपाना जानता है वह आनन्दित होकर आनन्द प्राप्त करता है।[१]" अतः महाकवि को शब्दार्थोक्तियो मे देखी गयी नवीनता मे किसी अपूर्वता का कथन करना चाहिए, क्योकि दूसरे के प्रबन्ध का अध्ययन करने से एक ही अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से ख्यात होते है। जो यह मानते है कि महात्माओ की बुद्धियॉ समान होती है **(संवादिन्यो मेधाविन्यः)** और एक ही अर्थ को प्रकट करती है यह एकार्थता कवि के लिए त्याज्य है। इसके निषेध के लिए उसे परप्रबन्धो का अध्ययन करना चाहिए। इस सन्दर्भ मे राजशेखर अपना अभिमत व्यक्त करते है कि - "सारस्वत दृष्टि मन वाणी से अगोचर ध्यान के द्वारा दृष्ट-अदृष्ट सभी पदार्थो का विभाग कर देती है।[२]"

---

१ नास्ति चौर कविजनो नास्त्यचौर वणिगजन।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुमा। - काव्यमीमांसा अध्याय ११

२ सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वय विभजति।

राजशेखर ने कवि के द्वारा काव्य मे निबद्ध अर्थो का त्रिविध विभाजन किया है -

(१) अन्ययोनि- दूसरे के द्वारा उद्भावित

(२) निह्नुतयोनि- जिसे उत्पत्ति का ज्ञान न हो

(३) अयोनि- जिसे कवि ने स्वय उद्भावित किया हो।

पुनः अन्ययोनि के प्रतिबिम्बकल्प तथा आलेख्यप्रख्य रूप से दो भेद होते है-

जहॉ प्राचीन कवि का सभी अर्थ ले लिया गया हो और केवल वाक्य विन्यास का भेद हो तथा तात्त्विक भेद न हो, वह प्रतिबिम्बकल्प है। यह प्रतिबिम्बकल्प कवि के लिए त्याज्य है, क्योंकि यह अकवित्वदायी होता है[१] कवियो को दूसरे काव्य मे स्थित वस्तु का पार्थक्य के साथ ग्रहण नही करना चाहिए अपितु उसे मूललेखककृत ही मानना चाहिए।

जहॉ पर प्राचीन कवि द्वारा उद्भावित होकर वस्तु कुछ संस्कार कर देने से प्राचीन से भिन्न प्रतीत हो उसे अर्थचतुर लोग आलेख्यप्रख्य कहते है। यह आलेख्यप्रख्य अर्थ-समक्रम, विभूषणमोष, व्युत्क्रम, विशेषोक्ति, उत्तंस, नटनेपथ्य, एकपरिकार्य और प्रत्यापत्ति भेद से आठ प्रकार का होता है, जिनमे निबद्ध वस्तु विस्तार या पदार्थ कवियो के उक्तिवैचित्र्य से उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रूपो को धारण कर लेता है। जिस प्रकार नट रूपादि की योग्यता से विभिन्न रूपो को धारण करता है। कवि को अपनी प्रज्ञा से इन अष्टविध अर्थ-भेदो मे परिवर्तन करना चाहिए, जिससे उसके काव्य मे नवीन वैचित्र्य

-काव्यमीमांसा अध्याय १२

१ सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्प परिहरणीयः।

-काव्यमीमासा अध्याय -१२

निष्पन्न हो जाय और वह पुनरूक्त सा प्रतीत न हो। आचार्य राजशेखर कवियो द्वारा इनके ग्रहण की मान्यता प्रदान करते है,[१] परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन राजशेखर से सहमत नही है। उनके मत मे कवियो की अर्थग्रहण प्रवृत्ति तुच्छात्म है - **''तदन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यत्साम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन व्यक्तव्यम् ।''** उनके मत मे यह कविप्रवृत्ति शरीरान्तर प्राप्तकर तुच्छात्मा को धारण करने की त्यात्य वृत्ति के समान है अतः कवियो को इनका निषेध करना चाहिए।

निह्नुतयोनि अर्थ तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश भेद से दो प्रकार का होता है। जिस काव्य मे विषयभेद रहने पर भी अन्त्यन्त सादृश्यवशात् भेद प्रतीत हो उसे तुल्यदेहितुल्य कहते है। ऐसे काव्य की रचना विद्वानो को करनी चाहिए। यह अर्थ भेद पुनः विषयपरिवर्त, द्वन्द्वविच्छित्ति, रत्नमाला, संख्योल्लेख, चूलिका, विधानापहर, माणिक्यपुञ्ज और कन्द रूप से आठ प्रकार का होता है। जिसमे उसी एक ही वस्तु की विषयान्तर से योजना करने पर अन्य रूप की प्राप्ति होती हो जाती है, और काव्य मे नूतनता का सन्निवेश हो जाता है। सुन्दरानन्द नामधेय किन्ही प्राचीन आचार्य के मत मे यह उल्लेखवान प्रतिभा से उद्भावित मार्ग है। अतः कवियो के लिए अनुग्राह्य है।[२]

जहॉ मूल मे तो एकता हो पर प्रबन्ध रखना पर्याप्त रूपेण भिन्न हो उसे ''परपुरप्रवेशसदृश'' कहा जाता है। इसके भी आठ भेद प्रतिपादित करते हुए राजशेखर ने कवियो द्वारा ग्राह्य अर्थ के ३२ भेद किये है। अर्थ-ग्रहण के

---

१ ता इमा आलेख्यप्रख्यस्यभिदाः। सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः।

- काव्यमीमासा अध्याय -१३

२ ता इमातुल्यदेहितुल्यस्य परिसंख्या।

सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्योमार्ग। - काव्यमीमांसा अध्याय-१३

आधार पर कवियो के चार भेद बताये है- भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक। भ्रामक कवि प्राचीन वस्तु को दूसरे द्वारा न कही गयी बताता है, और अप्रसिद्ध आदि कारणो से लोगो को भ्रम मे डाले रहता है। चुम्बक कवि अपने नूतन, मनोहर वाक्य के द्वारा दूसरे के अर्थ को अंगीकार कर लेता है और उसमे कुछ नवीनता की उद्भावना भी करता है। कर्षक कवि किसी उल्लेखवश दूसरे से वाक्यार्थ को लेकर नवीन काव्य की रचना करता है। द्रावक कवि किसी दूसरे के मूल वाक्य को पिघलाकर उसमे नवीनता का संचार करते हुए अपने काव्य मे मिला लेता है, परन्तु इनसे भिन्न जो कवि पूर्व मे कवियो द्वारा सर्वथा अनुद्भूत अर्थ को अपने अवधान से उद्भावित कर अपनी सर्जना मे सर्वत्र अपूर्वता और रमणीयता का संचार करता है वही महाकवित्व पद का अधिकारी है। अत राजशेखर कवियो को क्या त्याज्य है, और क्या ग्राह्य है, इसके विवेकपूर्वक अर्थो के ग्रहण की शिक्षा देते है।

इसीप्रकार शब्दहरण के पद, पाद, अर्थ, वृत्त तथा प्रबन्ध की दृष्टि से पॉच भेद करते हुए उन्होने पद-हरण की भी शिक्षा कवियो को दी है। उनके मत मे एक पद का हरण दोष नही, परन्तु उसे द्वयर्थी होना चाहिए। उनका तो यहॉ तक मानना है कि जहॉ भिन्न-भिन्न अर्थो मे अन्वित होने वाले पदो मे एक पाद लेकर उससे एक अन्य पाद अन्वित कर दिया जाय वहॉ हरण न मानकर कवित्व ही मानना चाहिए।

कवि के सर्जनात्मक व्यापार मे पूर्वप्रयुक्त शब्द तथा अर्थ का उपनिबन्धन हरण कहलाता है। 'हरण' तो एक प्रकार से चोरी है। यह उपदेश की वस्तु नही। कहा भी है कि "मनुष्य की अन्य चोरियां तो समयान्तराल मे नष्ट हो जाती है, परन्तु काव्यार्थरूप वाणी की चोरी पुत्र-पौत्रो तक रहती है"[1]।

---

[१] पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्य च न शीर्यति।। - काव्यमीमांसा, अध्याय ११

अतः प्रश्न उठता है कि कवियो को इस प्रकार की चोरी का उपदेश आचार्य राजशेखर ने क्यो किया है? इसके समाधान मे उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का उत्तर है कि - काव्यार्थ का हरण यदि इस विवेक से किया जाय कि वह जिसका हरण कर रहा है वह अप्रसिद्ध है, और मै प्रसिद्ध हूॅ, वह अप्रतिष्ठित है और मै प्रतिष्ठित हूॅ, उसका विषय पूर्व मे प्रचलित है तथा मेरा नया है, वह अनादृत भाषा का कवि है मै आदृत भाषा का कवि हूॅ, उसका रचयिता विदेश मे है तथा उसकी रचना का मूल नष्ट हो गया है। इस प्रकार विवेकपूर्ण ढंग से तीन पदो तक हरण हो सकता है और वह चोरी नही।

परन्तु मेरे विनम्र विचार मे अवन्तिसुन्दरी का यह समाधान वस्तुत सत्य से परे है, क्योकि एकदानिबद्ध वस्तु मे प्रयुक्त शब्दार्थ के अन्य कवि के द्वारा पुनर्निबन्धन से काव्य मे वह रमणीयता एवं अपूर्वता नही निष्पन होती जो सहृदयो के आह्लाद का हेतु बने, वरन् उनके हृदय मे अलौकिक आनन्द के संचार हेतु पद-पद मे नूतनता अपेक्षित है शब्द-विन्यास की यह नूतनता ही काव्य मे रमणीयता का विधान करती है।[१] पदो की विच्छित्ति ही सहृदयो को अपनी मधुर आभा से आकृष्ट करती है। अत: कवि के काव्य मे नूतन पदावली पूर्वक वस्तु का वर्णन होना चाहिए, क्योकि कवियो का वस्तु जगत् तो एक ही है। ग्रथन का कौशल ही उसमे नूतनता उत्पन्न करता है। संस्कृत-कवियो की प्रतिभा ने अनेकानेक बार रामायण, महाभारत, पुराणादि महाग्रन्थो मे वर्ण्यवस्तुओ को अपनी सर्जनात्मकता का आधार बनाया, परन्तु ग्रथन-कौशल के द्वारा उसमे ऐसी अपूर्वता का सन्निवेश किया कि वे पुनरुक्त से नही प्रतीत होते। कवियो द्वारा नूतन शब्दविन्यास एवं वाक्यविच्छित्ति की मनोहारिणी छटा मे वस्तु की प्राचीनता ने ऐसी नूतनता धारण की कि सहृदय के लिए सर्वथा नूतन हो गयी। अतः वर्ण्यवस्तु का हरण तो औचित्यपूर्ण

---

१ क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। -शिशुपालवधम् ४/१७

प्रतीत होता है, परन्तु मेरे विचार से शब्दहरण तो कवित्व के अनभ्यासी व्यक्तिओ द्वारा सर्जनात्मक अभ्यास जैसा ही प्रतीत होता है।

कवि-सर्जना के परिपेक्ष्य मे लगभग समस्त आलंकारिक आचार्यो ने एकमत से कवि के लोकज्ञान को अनिवार्य कहा है, जिसे अनेक आचार्यो द्वारा 'व्युत्पत्ति' नाम से बोधित किया गया है। कवि को लोक मे स्थित समस्त स्थावर, जंगम, देश, कालादि की स्थिति का सम्यक्तया अवबोध होना चाहिए, जिससे वह उनका निबन्धन अपने काव्य मे औचित्यानुरूप करे। काव्यवर्णित वस्तु देश और काल के अनुरूप होना चाहिए। किस देश मे किस काल मे क्या होता है? यदि कवि को इसका ज्ञान है तो उसे वर्ण्यविषयो की कमी नही, वरना इसके अभाव मे वह अस्थान तथा अकाल मे ऐसे पदार्थो का वर्णन कर बैठेगा, जिसकी उस काल मे वहाॅ उपस्थिति संभव नही। इस प्रकार उसका काव्य उपहास का भाजन बनेगा।

आचार्य राजशेखर कवि को लोक ज्ञान की शिक्षा देते है कि कवि को लोक की समस्त संख्यायुक्तसंज्ञा का ज्ञान होना चाहिए। कुछ लोगो की राय मे मात्र द्यावा, पृथिवी दो ही लोक होते है, परन्तु कुछ का मानना है कि स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल तीन लोक है, तथा किन्ही के मत मे तीन लोक मे महलोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक को मिलाकर कुल सात लोक होते है। कुछ ने चतुर्दश लोक तथा एक विंशति भुवनो की स्थिति दर्शायी है। राजशेखर कवित्व के अभिप्राय से लोक का निर्देश करते हुए कहते है कि सामान्य कथन मे लोक एक रहता है तथा विशेष विवक्षा मे अनेक हो जाता है। इसी प्रकार समुद्र, पर्वत, नदी, झरने आदि कवि के वर्ण्यविषय के विशेष अंग रहे है। अतः उनकी स्थिति का सही ज्ञान कवित्व हेतु अनिवार्य है।

भारतवर्ष मे पाॅच सौ भाग जल तथा पाॅच सौ भाग स्थल है। इस क्रम मे दक्षिण समुद्र से हिमालय तक प्रत्येक देश सौ योजन वाले और अगम्य है।

कुमारी द्वीप से विन्दुसर तक एक सहस्र योजन 'चक्रवर्ति' क्षेत्र है। इसको जीतने वाला चक्रवर्ती कहा जाता है। चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व तथा गज, चक्रवर्ती के लक्षण बताये गये हैं। कुमारीद्वीप मे विन्ध्य, पारियात्र, सुक्तिमान, ऋक्ष, महेन्द्र, सह्य तथा मलय सात पर्वत है।

पूर्व तथा पश्चिम सागर एवं हिमालय तथा विध्याचल के बीच का भाग आर्यावर्त है। इस आर्यावर्त मे चार आश्रमो तथा चार वर्णो की व्यवस्था है। इन्ही वर्णाश्रम के आधार पर यहॉ सदाचार प्रचलित है। अत यही का व्यवहार कवियो का आदर्श होना चाहिए। इस आर्यावर्त मे वाराणसी से पूर्व का देश पूर्वदेश है। महिष्मती नगरी से आगे दक्षिणापथ, देवसभा से आगे पश्चिम देश तथा पृथूदक से आगे उत्तरापथ है। इनके अन्तर्गत स्थित पर्वत, नगरियो, नदियो, वेशभूषा, निवासियो एवं उनके व्यवहार तथा वनस्पतियो का ज्ञान कवित्व हेतु अनिवार्य है। इन सबके बीच मे मध्यदेश है। इसी प्रकार विनशन एवं प्रयाग तथा गंगा-यमुना के बीच अन्तर्वेदी प्रदेश है। आचार्यो की सम्मति है कि इसी को आधार बनाकर दिशाओ को विभक्त करना चाहिए। इसी प्रकार रंगो के नियमो का अनुसरण करना चाहिए। पौरस्त्य लोगो का रंग श्याम होता है। दाक्षिणात्यो का कृष्ण होता है। पाश्चात्यो का पाण्डुवर्ण होता है तथा उदीच्य गौरवर्ण के होते है, और मध्यदेशीय जनो का वर्ण कृष्ण, श्याम और गौर होता है। यथा पौरस्त्यो के श्यामता का उदाहरण स्वरूप राजशेखर कहते है कि - "गौड़ रमणियो के सूत्र मे गुॅथ हुए से सुन्दर श्याम अंगो पर कामदेव पुष्प धनुष को वृत्ताकार कर सुकरता से चलता है।" यहॉ यदि कवि द्वारा रमणियो के अंग गौरवर्ण रूप मे वर्णित हो तो वह अनौचित्य प्रसंग होगा। इसी प्रकार कवियो को अन्यान्य बातों की कल्पना करनी चाहिए। जिसके द्वारा वर्ण्य वस्तु मे किसी प्रकार का विरोध न हो। उन्हे इस प्रकार सावधान होकर वर्ण्यसामग्री का काव्य मे निबन्धन करना चाहिए, क्योकि

प्रमादी या असावधान कवि सहृदयो के मध्य शीघ्र ही तिरस्कार का पात्र हो जाता है।[१]

फिर भी काव्य-सर्जना के अपरिहार्य हेतुरूप मे कवि-प्रतिभा का अपलाप नही किया जा सकता। वस्तुतः कवित्व की मूल बीज शक्ति जन्मजात या सहजात प्रतिभा ही है। उसके बिना काव्य का स्फुरण हो ही नही सकता। प्रतिभा तत्त्व के अनुपस्थिति मे व्युत्पत्ति या अभ्यास या अन्य कोई भी कारकतत्त्व गौण है, कृत्रिम है एवं बाह्य है। अतः कविशिक्षा के संस्थापक एवं समर्थक आचार्यो ने कवि के काव्य निर्माण हेतु जो अनेक प्रकार के विधान, नियम, दिनचर्या, वाह्यपरिवेश एवं कर्तव्यकर्मो आदि का जो विस्तारपूर्वक विवरण दिया है वह इस परिप्रेक्ष्य मे बेइमानी लगता है। कवि को निरंकुश कहा गया है, और उसके साथ इतने अंकुश लगाना संभव नही है। अतः राजशेखरादि आचार्यो द्वारा कवि के लिए जो कृत्रिम कार्यशाला बनायी गयी है, राज्याश्रित कवियो को ध्यान मे रखकर की गयी होगी। सहजकवि को इतने बन्धनो मे बॉधना उचित नही। कवि को यह निर्देश भी नही दिया जा सकता कि वह अमुक विषय मे ऐसा ही लिखे। उसका रचना संसार स्वतन्त्र होता है।

---

१ तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञान विषयता भवति।

- ध्वन्यालोक - ३/२९ वृत्ति।

कविकर्म और जीवनचर्या

काव्य-सर्जना की विषयव्याप्ति मे काव्यस्रष्टा का वैशिष्ट्यपूर्ण आत्मपक्ष भी होता है। पर्यावरण, परिवेश एवं नित्यक्रियाओ से मानव का भावजगत् एवं विचारपटल पूर्णतया प्रभावित होता है। काव्य कवि-मानस का प्रतिबिम्ब होता है। जिस स्वभाव का कवि होता है, तदनुरूप उसका काव्य होता है।[1] काव्य मे कवि का जीवनदर्शन पूर्णतया आबद्ध होता है। काव्य कवि के जीवन की सूक्ष्म से स्थूल तक समस्त क्रियाओ के समन्वित योग की छाया से संक्रमित होता है। वह उसके व्यावहारिक जीवन की परिस्थितियो, परिवेश एवं पर्यावरण से पूर्णरूपेण प्रभावित होता है। वह अपने व्यावहारिक एव व्युत्पन्नज्ञान के आधार पर काव्य-रचना को बल प्रदान करता है। अत कवि का व्यावहारिक जीवन उसके काव्य को किस सीमा तक प्रभावित करता है? क्या काव्य-निर्माण का कोई विशिष्ट क्षण होता है या यो ही अक्षण मे कविता सभव हो जाती है? काव्य-सर्जना की प्रक्रिया मे उसका कर्म-कौशल किस प्रकार अभिव्यक्त होता है? इन प्रश्नो के समाधान-स्वरूप ही भारतीय काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने कविकर्म का प्रयोग, व्यावहारिक विधान एवं कविचर्या का प्रयोग पक्ष निरूपित किया है।

कवि के काव्य मे जहॉ एक तरफ उसका अन्तर्लोक व्याप्त रहता है वही दूसरी तरफ उसका व्यक्तिगत जीवन भी प्रतिबिम्बित होता है। इसीलिए आचार्यो ने कविशिक्षा के निबन्धन मे वाणी के उपासक कवियो को पवित्र आचरण की सलाह दी है। भारतीय परम्परा मे देवोपासना की सफलता मे पवित्रता, शुचिता का परम महत्त्व है। पवित्रता सरस्वती का वशीकरण का हेतु

---

१ स यत्स्वभाव कविस्तदनुरूपं काव्यम् । -काव्यमीमांसा-अध्याय १०

है। अतः कवियो के लिए मन, वचन और कर्म की शुचिता अनिवार्य है। मन, वचन की पवित्रता शास्त्रो के सेवन से लभ्य है। कायिक पवित्रता हेतु हाथ-पैर की शुद्धि, नख-छेदन, मुख मे ताम्बूल और शरीर मे इत्र इत्यादि सुगन्धित पदार्थो का लेप, स्वच्छ और उत्तमकोटि का परिधान तथा सुगन्धित पुष्प धारण करना आवश्यक है। इस त्रिविध शुचिता से जो सरस्वती की आराधना करता है वही कवि अपनी रचना मे कृतकृत्य होता है। कवि-स्वभाव के निर्माण मे उसके वातावरण का प्रभूत योग निहित है। अत कवि की दिनचर्या इतनी आदर्श और अनुकरणीय होनी चाहिए जिससे उसकी चिन्तन-वृत्ति मे औदात्य स्थापित हो सके।

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा के दशम अध्याय मे कवि की दिनचर्या और व्यावहारिक जीवन का जो स्वरूप निरूपित किया है, उससे कवि के स्वभाव, संलाप, कौशल, आवास, प्रसाधन, सहायक समुदाय आदि का सहज पता चलता है। कवि का गृह लिपा-पुता एवं पवित्र होना चाहिए। उसमे षड्ऋतुओ के अनुरूप विविध स्थल निर्मित हो। उसमे विविध प्रकार की वृक्षावली, क्रीड़ा पर्वत, पुष्करिणी तथा कृत्रिम सरिता का प्रवाह हो। मयूर तथा हरिण से रमणीय, सारस, चक्रवाक तथा हंससमन्वित वाटिका हो। अभिप्राय यह कि कवि का निवास उच्चकोटिक अभिराम प्रकृति की क्रोड मे होना चाहिए। कवि के गृह मे काव्यनिर्माण करने से खिन्न चित्त वाले कवि की खिन्नता को दूर करने के लिए परिचारकवर्ग हो जो अपभ्रंश के प्रयोग मे निष्णात हो। परिचारिकाये मागधी बोलने मे कुशल हो, तथा अन्त पुर-निवासिनी रानियाँ संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओ का प्रयोग करती हो। इतिहास मे ऐसे अनेक प्रमाण प्राप्त होते है जिनसे आभास होता है कि न केवल कविचर्या मे ही विविध प्रसाधनो की आवश्यकता होती है, वरन् उसका सम्बन्ध राजचर्या से भी रहा है। मगध के काव्यप्रेमी राजा शिशुनाग ने अपने अन्तःपुर मे कठोरवर्णो का प्रयोग निषिद्ध कर दिया था। कुन्तलदेश के राजा

सातवाहन को प्राकृत भाषा इतनी प्रिय थी कि उन्होंने उसे अन्तःपुर की भाषा निर्धारित कर दिया था। उज्जयिनी के नरेश सहसाङ्क के अन्त पुर मे केवल उन्ही व्यक्तियो को प्रवेश मिलता था जो संस्कृत भाषा के व्यावहारिक प्रयोग मे कुशल थे। राजशेखर के मत मे कवि की भाषा उसकी कवित्व वृत्ति के अनुकूल होनी चाहिए। सामान्यतया तो कवि को समस्त भाषाओं मे निष्णात होना चाहिए। कवि को पहले अपना संस्कार करना चाहिए मेरा संस्कार कितना है, मै किस भाषा मे समर्थ हूँ , लोक रुचि किस भाषा मे है, मेरा संरक्षक किस गोष्ठी मे शिक्षित है, इत्यादि का विवेकपूर्ण ज्ञान कर कवि को काव्य-रचना के लिए भाषा-विशेष का आश्रय लेना चाहिए, परन्तु यायावरीयराजशेखर के मत मे भाषाविषयक यह नियमाधीनता, एकदेशीय कवि के लिए होती है। स्वतन्त्रकवि के लिए तो एक भाषा की ही तरह सभी भाषाएँ है। देशभेद से कवियो मे भाषाविशेष मे काव्य-रचना की वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कवि को वक्रोक्तिगर्भ एवं शक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उसे उदात्त, प्रसन्नमना होकर बाते करनी चाहिए।

राजशेखर ने दिन और रात का प्रहरगत विभाजन कर कवियो के लिए चौबीस घण्टे की ऐसी समय सारणी प्रस्तुत कर दी जिसका पालन करते हुए कवि अपनी काव्यरचना मे कदापि असफल नही हो सकता। अपनी आस्तिक भावनाओ के कारण राजशेखर ने सारस्वतसूक्त के अध्ययन पर तो बल दिया ही है साथ ही साथ प्रतिभा के विकास हेतु कवित्व के बाह्य उपकरणो के योग को भी कम महत्त्व नही दिया है। उनके मत मे काव्य-रचना हेतु द्वितीय प्रहर अधिक उपयुक्त है। मध्याह्न मे स्नान करना चाहिए तथा प्रकृत्यानुकूल भोजन करना चाहिए। भोजनोपरान्त काव्यगोष्ठी करना चाहिए। काव्य समस्याओ की पूर्ति, सुन्दराक्षरो का अभ्यास, चित्रबन्धो के निर्माण द्वारा तृतीय प्रहर व्यतीत करना चाहिए। काव्य करते समय रसबाहुल्य से विवेचिकाशक्ति नष्ट हो जाती है, अतः चौथे प्रहर मे काव्य की परीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर दिन मे

निर्मित एवं परीक्षित काव्य को प्रहर रात तक लिखे। रात्रि के द्वितीय तथा तृतीय प्रहर मे भली प्रकार सोना चाहिए तथा ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर पुन काव्य-निर्माण करना चाहिए। वह क्षण अलौकिक अर्थो की स्फूर्ति करता है।

कवि का कर्तव्य है कि वह यथासंभव मौलिक सर्जना का प्रयत्न करे। परछिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से बचे। काव्य के विधान मे देश काल, पात्र, परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण होती है। अत कवि को उनका यथोचित ध्यान करते हुए ही रचनोन्मुख होना चाहिए। जगत् मे ऐसीभी रचनाएं है जो काव्यगुणो की शोभा से हीन होती हुई भी बालको, स्त्रियो एवं सामान्यवर्ग का मनः प्रसादन करती है। कवि को अपनी अपूर्ण रचना नही पढ़नी चाहिए। ऐसा करने पर उसकी पूर्णता बाधित हो सकती है। आचार्य राजशेखर के इस वक्तव्य से यह ध्वनित हो रहा है कि किसी समय काव्यचोरो का बाहुल्य रहा होगा जो दूसरो की रचना अपने नाम से विज्ञप्त करवाते रहे। कवि को अपनी नूतनरचना का प्रकाशन एकान्त मे किसी के समक्ष नही करनी चाहिए, क्योकि समयान्तर मे वह श्रोता कवि की उस रचना को अपना कहकर प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता है। उस समय मूल रचयिता को उसका साक्ष्य दे पाना कठिन होगा।

काव्य-सर्जना मे सिद्धहस्त होना कवियो के लिए सम्भव है, परन्तु उसका रागात्मक पाठ तो केवल उन्ही कवियो के भाग्य मे है जिनकी सरस्वती सिद्ध हो। काव्यशास्त्रियो ने कविशिक्षा के अन्तर्गत काव्यपाठ के विशेष नियमो का उल्लेख किया है। आचार्यो का मत है कि संस्कृत और अपभ्रंश की कविता का पाठ अत्यन्त लालित्यपूर्ण विधान से करनी चाहिए। प्राकृत और पैशाची कविता को सौष्ठवोत्तर विधि से पढ़ना चाहिए। प्रसादगुणमयी कविता का पाठ मन्द्रस्वर से तथा ओजमयी का तारस्वर से किया जाना समुचित है। काव्यपाठ करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह

न तो अतिशीघ्र हो और न अतिविलम्बित। जिस प्रकार कोई व्याघ्री अपने बच्चे को दाँतो से पकड़ती हुई उसे गिरने और कटने से भी बचाती है उसी प्रकार काव्य के पाठक को वर्णो का उच्चारण करते समय उसे ऐसी विधि से उच्चारण करना चाहिए जिससे उनमे किसी प्रकार की त्रुटि न आ सके, तथा विभक्तियो का स्पष्टीकरण, समासो की स्फुट प्रतीति और पदसन्धियो का समुचित समावेश हो सके। काव्यपाठ करते समय स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। आचार्य राजशेखर द्वारा प्रस्तुत काव्यपाठ का यह गौरव सम्प्रति काव्यगोष्ठियो मे नही रहा। आधुनिक युग के कवि-सम्मेलनो और काव्यगोष्ठियो मे भाव-व्यञ्जना ही प्रधान हो गयी है।

कवि को आत्मप्रसंशक और दम्भी नही होना चाहिए। उसे अपनी काव्य-सर्जना की परीक्षा तत्त्वाभिनिवेशी भावक से कराना चाहिए। कवि को लोकनिन्दकों की चिन्ता नही करनी चाहिए। उसे स्वयं अपने को देखना चाहिए कि क्या उचित है और क्या अनुचित है, क्योकि जगत् तो निरङ्कुश है। काव्य की पाँच महती आपत्तियां है- दरिद्रता, दुष्कर्मो मे आसक्ति, काव्यक्रिया का तिरस्कार, भाग्यहीनता एवं दुष्ट तथा दोषी व्यक्तियो मे विश्वास। इससे कवि को नितान्त दूर रहना चाहिए। वैदर्भी रीति का विचार कर माधुर्य, ओजगुणो को सम्यक् जानकर, शब्दार्थ-समूह का अनुसरण करते हुए कवि को काव्य-निबन्धन मे प्रयत्न शील होना चाहिए।

वह क्षण विशेष ही होता है कि जिसमे कवि की कारयित्री प्रतिभा भावो के उद्दाम आवेगो के स्फुटीकरण से प्रेरित हो जाती है। अतः इस विशेषक्षण के लिए कवि को तैयार रहना चाहिए। कवि को अपने कक्ष मे उन समस्त पदार्थो को यथास्थान अवस्थित रखना चाहिए, जो उसके भावो को शब्दार्थ रूप देने मे साधन बनते है। खट्टिका, लेखनी, मसिपात्र, भूर्जपत्र, तालपत्र, लिपी-पुती भित्तियाँ ये समग्र पदार्थ काव्यविद्या के परिकर है। राजशेखर के

मत मे इन समस्त नियमो की पीठिका पर अधिष्ठित होकर जो कवि काव्य-सर्जना करता है, वह अपने प्रयोजन मे सफल होता है। बाह्य साधनो की दृष्टि से उन उपकरणो का सापेक्षिक महत्त्व अवश्य है, परन्तु यदि कवि मे प्रतिभा और व्युत्पत्ति न हो तो ये सारे उपकरण व्यर्थ है, क्योकि प्रतिभाविहीन कवि मे काव्य-निर्माण की शक्ति का उन्मेष तो हो ही नही सकता।

कविचर्या की समीक्षा

आचार्य राजशेखर द्वारा कविकर्म की परिनियमावली को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रतिपादन उन दरबारी कवियो को दृष्टि मे रखकर किया गया है, जो राजा द्वारा आश्रय प्राप्त हुआ करते थे। सच तो यह हैं कि कवि का निर्माण तो किया ही नही जा सकता। कवित्व तो सहज विकास की वह धारा है जिसके मार्ग मे कसी भी प्रकार का अवरोध नहीं। भावों की अविराम तरंगो से उद्वेलित कवि-हृदय के सहज उद्गार को किसी बाह्य उपकरण की कोई आवश्यकता नही होती। वह धारा स्वत प्रस्फुटित होती है और कवि की जन्मजात प्रतिभा के द्वारा अभिनव और अपूर्व का ग्रन्थन संभव हो जाता है। इसके जीवन्त दृष्टान्त स्वयं आदिकवि महर्षि वाल्मीकि और भवभूति आदि रहे है। अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि इस प्रकार प्रवैधिक बन्धनो मे कदापि आबद्ध नही रहते। स्वतंत्र और रस सिद्ध कवि का कवित्व इनसे नितान्त परे होता है। उन्हे सभी भाषाओ पर समानाधिकार होता है, जिसके कारण उनकी रचनाएँ एकदेशीय नही होती। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि एकदेशीय कवियो के काव्य का महत्त्व कम है। भूतकाल मे गौड़देश के कवियो ने प्राकृत्त मे, मरुभूमि या पञ्चदेश के कवियो ने अपभ्रंश भाषाओ मे जिस अधिकारपूर्ण प्रणाली मे काव्यरचनाएँ की, वह एकदेशीय होने पर भी अभिनन्दनीय है। वस्तुत काव्य मार्ग मे भाषा का प्रश्न उतना महत्त्व का नही है जितना उनका अभिव्यञ्जन कौशल। इसीलिए काव्यचिन्तक आचार्यो ने कवियो से वस्तु निबन्धना मे औचित्यानुरोध किया है। मैं इस तथ्य से सहमत हूँ कि कवियो को यदा कदा जनरुचि की उपेक्षा करके भी काव्य-सर्जना करनी पड़ी, परन्तु उनकी इस सर्जना के मूल मे जनरुचि की विकृति मूलरूप मे निहित रही जिसके साथ उनका मानस- साधारणीकरण संभव नही हो पाया

और विद्रोहपूर्ण स्वर मे काव्य निनाद करना पड़ा। ऐसे कवि, समय की संक्रमणवेला मे प्रासङ्गिक रहे। वे युगविशेष मे युग के क्रान्तिस्त्रष्टा भले ही प्रतिष्ठित न हुए हो, परन्तु कालान्तर मे वे आदर के भाजन बने।

वस्तुतः काव्य-सर्जना की अवस्था कवि-मानस के चिदानन्दरूप की तन्मयदशा है जिसमे उसकी वृत्तियाँ उसके वर्ण्यविषय मे जितनी अधिक अन्तर्लीन होती है उसका निर्माण उतना ही श्रेष्ठ और सरस होता है। जगन्नियन्ता परमेश्वर ने कवि को ऐसा ज्ञानमय सारस्वतचक्षु प्रदान किया है, जिससे वह अपने मन की समाधि से इस विषय का सहज ही बोध कर लेता है। कि काव्य की परिधि मे क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य। भारतीय जीवन की आस्तिक भावना तो यहाँ तक स्वीकार करती है कि भगवती वीणापाणि के असीम अलौकिक अनुग्रह से उसके कृपापात्र महाकवियो को सुषुप्ति अवस्था मे भी काव्य-रचनानुरुप शब्दो और अर्थो का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। जिन विषयो पर अन्य कवियो ने लिखा उसे वे उच्छिष्ट समझकर त्याग देते है, उनकी दिव्यदृष्टि ऐसे नवीन तथ्यो की तरफ धावित होती है, जिसकी कल्पना राजशेखर की परिनियमावली मे आबद्ध होने वाले कवि नही कर सकते।

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के आलोक मे कविकर्म और जीवनचर्या से सम्बन्धित जिन विशेष नियमो का उल्लेख समुपस्थित किया गया है उसका मूल प्रयोजन मात्र इतना ही है कि उसे कवि की मानसिक पृष्ठभूमि के विचारपथ मे रखा जाय। यह परिनियमावली किसी विशेषयुग मे अत्यन्त महिमामय भले ही रही हो, किन्तु समयचक्र के दुर्दमनीय आवर्तन एवं प्रत्यावर्तनो ने उनके परिपालन मे इतने व्यवधान उपस्थित कर दिये है कि सम्प्रति उसका गौरवपूर्ण औदात्य ही लुप्तप्राय है। वर्तमान संघर्षपूर्ण भौतिक जीवन ने हमारे भावक्षेत्र और विचारजगत् मे ऐसी जटिल ग्रन्थियाँ उपस्थित

कर दी है कि वर्तमान युग का कवि उनकी अभीप्सा लेकर भी उस मार्ग से काव्य-सर्जना मे अपने को अक्षम पाता है। अत: कविचर्या का अतीत कालीन प्रतिमान उपस्थित कर मै केवल इतना संकेत करना चाहता हॅू कि काव्य-सर्जना के विश्लेषण मे उसका भी योग रहता है, परन्तु वह कविकर्म की समग्र आधारभूत पृष्ठभूमि नही बन सकता। राजशेखरादि आचार्यो द्वारा प्रतिपादित कविचर्या एक नितान्त कृत्रिम प्रयोग है ऐसी कृत्रिमता को कवि और काव्य के सहज संसार मे प्रविष्ट कराना बहुत वांछनीय नही है।

कवि-समय

काव्य मे कवि के लोक और शास्त्रज्ञान की प्रातिभासिक कान्ति सर्वत्र व्याप्त रहती है। लोक और शास्त्रगत अर्थ कवि-प्रतिभा के स्पर्श से अपने नूतनस्वरूप मे बिखरे रहते है, परन्तु लोक और शास्त्र मे ऐसी अनेक बातें है जो साधारणतया वास्तविकता और सत्य से परे है, किन्तु कवि लोग उनका परम्परा से प्रयोग करते आ रहे है जो काव्यगत रूढ़ियां अथवा कवि प्रौढोक्तियॉ बन गयी है। अस्तु उन्हे सत्यवत् स्वीकार कर लिया जाता है। इन परम्पराओ मे सम्भवतः सत्य का भी अंश हो, किन्तु समस्त कवि प्रौढोक्तियो को चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव मे सत् नही स्वीकार किया जा सकता। प्रत्येक युग और धारा के कवि उसके आश्रय से वीणापाणि का शृङ्गार करते रहे और वे सत्य न होते हुए भी सत्य से अधिक प्रभावशाली बन पड़े है। ऐसे वर्ण्यविषयो हेतु काव्यचिन्तकाचार्यो ने कविसमय पद का अभिधान स्वीकार किया है, जो भारतीय काव्य-परम्परा का चारुत्वाधायक तत्त्व रहा है। एतदर्थ कवि के सर्जनात्मक व्यापार मे कविसमय का योग निर्धारण प्रासङ्गिक ही हो जाता है।

भारतीय काव्य की विषय व्याप्ति के प्रसङ्ग मे आचार्यो ने अनेक ऐसी रूढ़ियो का उल्लेख किया है जो काव्य मे व्याप्त होकर अपनी परम्परा और प्रयोग को नूतन आलोक प्रदान करती है। अतः कविसमय से आशय कवियो मे परम्परागतरूप से प्रचलित मान्यताएँ, परिपाटियॉ और विचार पद्धतियॉ है। अमरकोश के अनुसार समय शब्द के अर्थ है- शपथ, आचार, सिद्धान्त और संविद् ।[१] वैदिक साहित्य के समासान्त पदो मे यह शब्द 'साथ आने' 'मिलने'

---

[१] समय: शपथाचार कालसिद्धान्तसविद: - अमरकोश २.५ १६४

अथवा 'मिलने के स्थान' के अर्थो मे प्रयुक्त है।[1] रामायण[2] और महाभारत[3] मे समझौते के नियमो के लिए इस शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। 'समय' शब्द के विभिन्नार्थो मे मौलिक एकता ढूँढने पर **'समान आचरण'** का भाव प्राप्त होता है। इस प्रकार कविसमय शब्द से अभिप्राय है- कवियो का समान आचरण। भारतीय काव्यशास्त्र मे इसका समग्र सुचिंतित एवं सविस्तार विवेचन राजशेखर ने किया है। यद्यपि राजशेखर से पूर्व वामन ने इसका उल्लेख 'काव्यलंकारसूत्रवृत्ति' मे 'काव्यसमय' शब्द से किया है। उससे वामन का अभिप्राय काव्यभाषा मे परम्परित समान सौष्ठव की रक्षा ही है। राजशेखर ने कविसमय का स्वरूप- निर्धारण करते हुए लिखा है- **अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।**[4] अर्थात् अशास्त्रीय और अलौकिक तथा केवलपरम्परा प्रचलित जिस अर्थ का उल्लेख कवि लोग करते है वह कवि समय है। उनका मानना है कि प्राचीनविद्वानो द्वारा जो अर्थ जिस रूप में उपनिबद्ध है, देशकालवशात् अन्यथा हो जाने पर भी उसका उसी रूप मे निबन्धन कवि समय है। वे इस सन्दर्भ मे अपना तर्क प्रस्तुत करते है कि "प्राचीन विद्वानो ने सहस्रो शाखाओ वाले वेदो का अङ्गो सहित अध्ययन करके, शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर तथा देशान्तर और द्वीपान्तर

---

१ मोनियर विलयम्स, पृ० ११६४

२ यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहिताः।।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रव।। - रामायण ४ ३२ ५१

३ एवं ते समय कृत्वा दासी भावाय वै मिथः।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्मह।। -महाभारत १ २० ५

४ काव्यमीमांसा- अध्याय १४

का भ्रमण कर जिन अर्थो को जानकर रचनाएँ की, देशकाल वशात् अन्यथा हो जाने पर भी उन अर्थो का उसी रूप मे निबन्धन कविसमय कहलाया।''[1]

इस प्रकार कविसमय के अर्थोपपत्ति से राजशेखर का तात्पर्य काव्य के परम्परित अर्थो की मर्यादा रक्षा ही है। जिनमे कुछ अर्थ तो आदिकाल से कवियो के समान आचरण सम्बन्धी नियिमो द्वारा व्यवस्थित हैं, और कुछ धूर्तो द्वारा परस्परिक प्रतिस्पर्धा से स्वार्थ हेतु प्रवर्तित है। अत कविसमय के मौलिक उद्देश्य को उद्घाटित करना ही राजशेखर की व्याख्या का निहितार्थ जान पड़ता है, क्योकि वे स्वयं कहते है कि ''जो कविसमय काव्य मे सुप्तदशा मे था उसे हमने अपनी बुद्धि से जागरित किया।''[2] उनके मत मे मूल को न देखने वाले प्रयोगमात्र मे तात्पर्य रखने वालो द्वारा यह अर्थ रूढ़ हो गया।[3] कविसमय को लक्षित करने के तत्काल पश्चात् उन्होने इस शंका का निवारण किया है कि क्या कवि समयगत अर्थनिबन्धन दोष है? किन्तु युक्तिसङ्गत परीक्षोपरान्त उनकी सुग्राह्यता प्रासंगिक हो जाती है।

आचार्य राजशेखर सेपूर्व कवि समय का उल्लेख काव्यशास्त्रियो के लक्षणग्रन्थो मे यत्र-तत्र प्राप्त तो होता है, परन्तु वह उस रूप मे नही जैसा राजशेखर ने प्रतिपादित किया। अतः प्रस्तुत विवेचन हेतु राजशेखर पर आश्रित रहने को बाध्य होना पड़ता है, जिन्होने कवियो द्वारा उपनिबद्ध अर्थ को अशास्त्रीय और अलौकिक तथा परम्परायात कहा। उनसे परवर्ती आचार्यो

---

१ पूर्वे हि विद्वांस सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य शास्त्राणि चावबुद्ध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्ययानर्थानुपलभ्य, प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो य स कविसमय।

- काव्यमीमासा, अध्याय-१४

२ सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्तइवास्मि - काव्यमीमांसा- अध्याय १६

३ कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभि प्रयुक्तो रूढश्च।

- काव्यमीमासा - अध्याय १४

के ग्रन्थो यथा- 'हेमचन्द्र' द्वारा 'काव्यानुशासन', 'अरिसिंह' और 'अमरचन्द्र' द्वारा ''काव्यकल्पलतावृत्ति'', 'अजितसेन' द्वारा ''अलङ्कारचिन्तामणि'', 'केशवमिश्र' द्वारा ''अलङ्कारशेखर'' तथा 'केशवदास' द्वारा ''कविप्रिया'' मे असत् निबन्धन, सत् अनिबन्धन तथा नियम निबन्धन के अन्तर्गत जिन प्रसिद्धियो का निबन्धन किया गया है। वे कविसमय मे ही अन्तर्भूत है। यद्यपि वे ज्ञानविज्ञान के अन्यक्षेत्रो तथा सामान्यलोकव्यवहार से असंपृक्त है, परन्तु इसके मूल मे उनका अशास्त्रीय और अलौकिक होने का विलक्षण स्वभाव ही निहित है। अतः यह सहजरूपेण सम्भाव्य है कि काव्यसाहित्य जगत् से ही अन्य क्षेत्रो मे इनका विस्तार हुआ होगा। ऐसी कोई कविप्रसिद्धि नही जान पड़ती जो इत्तर क्षेत्र से काव्य जगत् मे आयी हो। यही कारण है कि इन वर्ण्य-वस्तुओ मे सर्वत्र काव्यात्मक आदर्शों एवं भावनाओ के अनुकूल रमणीय रूप मे ग्रहण करने का आग्रह ध्वनित है।

वस्तुतः व्यौत्पत्तिक दृष्टि से देखने पर राजशेखर के 'अशास्त्रीय' तथा 'अलौकिक' शब्दो की मीमांसा मे ही 'कविसमय' शब्द का सारभूत अभिप्राय निहित है। संस्कृत-वैय्याकरणो ने निषेध सूचक 'अ' उपसर्ग का उल्लेख सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता और विरोध अर्थो मे किया है। कविसमयगत प्रसिद्धियों के अर्थो मे लोक और शास्त्र के सादृश्य, अभाव और अल्पत्व, विरोध की स्थिति तो असंभव सी जान पड़ती है। अन्यत्व के साथ इसका अभिप्राय ठीक बैठता है। अत कविसमय को शास्त्रीय और लौकिक अर्थो से भिन्न अर्थो का निबन्धन कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे इसे शास्त्र वहिर्भूत और लोकबहिर्भूत अथवा शास्त्रातिक्रान्त और लोकातिक्रान्त कह सकते है। प्राचीन आचार्यो ने लोक और शास्त्र शब्दो की व्याख्या मे लोक को 'देश-काल-स्वभाव' तथा चतुर्वर्ग और शास्त्र को 'विद्या' के

अन्तर्गत माना है।[1] मम्मट के मत मे "स्थावरजङ्गमात्मकवृत्त" **लोक** है और छन्द, व्याकरण, कोश, कला, अभिधान तथा इतिहासादि ग्रन्थ **शास्त्र** है।[2] यदि वामन के साथ मम्मट को रखकर देखा जाय तो लोक की व्याप्ति समस्त देशकालगत स्थावर-जंगम के स्वभाव और व्यवहार तक तथा शास्त्र की व्याप्ति समस्त विद्यास्थानो तक जाती है। अत कहा जा सकता है कि कवि-समय ऐसे अर्थो का निबंधन है, जो देशकालगत समस्त स्थावर-जङ्गम के स्वभाव, व्यवहार तथा समस्त विद्यास्थानो का अतिक्रमण करता हो। उदाहरणार्थ- अन्धकार का मुष्टिग्राह्य और सूचीभेद्य होना किसी भी देश मे किसी भी काल मे अथवा किसी भी शास्त्र द्वारा समर्थित नही है। इसी प्रकार चक्रवाक-मिथुन का रात्रि मे वियुक्त दशा मे रहने का समर्थन भी कही से प्राप्त नही होता है। अतः सहज प्रश्न उठता है कि अशास्त्रीय एवं अलौकिक कहकर राजशेखर ने इस कविसमयगत अर्थो के निबन्धन मे अदोषत्व पर बल क्यो दिया है? शायद इसका उत्तर यही हो सकता है कि शास्त्र और लोक का व्यापक अनुभव काव्य के सम्बन्ध मे ऐसे अर्थो की उपलब्धि कराता है जो शास्त्र और लोकगत अर्थो से परे हो।

परन्तु अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी कोई अर्थ तब तक कविसिमय नही कहा जा सकता जब तक कि काव्य मे उसके निबन्धन की परम्परा विद्यमान न हो। इससे कविसमय मे कवियो की साम्प्रदायिक मर्यादा एवं एकता का भाव सूचित होता है राजशेखर ने इस सन्दर्भ मे कहा भी है कि "भले ही देश भेद से पदार्थो के रूपो मे अन्तर दृष्टिगोचर हो तो भी

---

[1] देशकालकलास्वभाव विरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि।
कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि॥

- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति २.२३ २४

[2] लोकस्य स्थावरजङ्गमात्कस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान-कोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्। -काव्यप्रकाश १/३ वृत्ति

उनका वर्णन न कर कविनिबद्ध अर्थ कोही प्रमाण मानना चाहिए,''[१] क्योकि राजशेखर के मत मे वे कवियो के उपकारक ही नही, अपितु काव्यमार्ग के प्रदर्शक भी है। अत परम्पराप्रचलित कवियो द्वारा व्यवहृत अशास्त्रीय अलौकिक अर्थ कवि के द्वारा काव्य-निबद्ध हुए है। शायद यही कारण है कि आदिकाव्य रामायण मे कविसमयगत अशास्त्रीय और अलौकिक स्वरूप वाले अर्थो का उसके परवर्ती काव्यो मे वह रूप सुरक्षित है। इससे यह भी अनुमान होता है कि राजशेखर से पूर्व आचार्यो द्वारा कविसमय का उल्लेख न होने के पीछे अशास्त्रीय तथा अलौकिक रूपो का अभाव ही कारण रहा हो, परन्तु सका तात्पर्य यह नही कि राजशेखर से पूर्व ऐसे अर्थो का नितान्त अभाव रहा हो, क्योकि लक्षणग्रन्थो मे उनके स्वरूप के दर्शन तो यत्र-तत्र होते ही है।

---

१ देशेषु पदार्शाना व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।

कवि-समय के प्रकार

कविसमय को लक्षित करने वाले समस्त आचार्यो ने उनकी तीन कोटियाँ स्वीकार की है-[1]असत्-निबन्धन, सत्-अनिबन्धन और नियम-निबन्धन। आचार्य राजशेखर ने स्वर्ग्य, भौम और पातालीय रूप से कविसमय को प्रथमदृष्टया इन तीन भागो मे विभाजित किया है। पुनः उनके जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया रूप से चार भेद किये है। परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने उक्त तीन भेद ही माने है। यह सब भेद-प्रभेद राजशेखर के भौम कविसमय के ही है। स्वर्ग्य और पातालीय कविसमय का उल्लेख राजशेखर ने पृथक्-पृथक् किया है। परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने स्वर्ग्य और पातालीय को भी भौम मे ही अन्तर्भूत कर लिया है।

असत्-निबन्धन - जो पदार्थ लोक मे देखा या सुना न गया हो उसका काव्य-रचना मे उल्लेख करना असत् निबन्धन है असत् जातिगत अर्थ-निबन्धन के उदाहरण मे नदियो मे कमल, कुमुद आदि का वर्णन समस्त जलाशयो मे हंस और सारस आदि का वर्णन तथा समस्त पर्वतो मे सुवर्ण तथा रत्नादि की खानो का चित्रण। लोक मे पद्म की स्थिति कर्दम भरे पुराने सरोवरो के जल मे तो देखी जाती है परन्तु धारा रूप मे प्रवाहित नदियो के स्वच्छ जल मे उनका अभाव ही दृष्टिगोचर होता है, तथापि कवियो द्वारा अनेकधा उसकी स्थिति सरित-प्रवाह मे दर्शायी गयी है। इसी प्रकार सभी जलाशयो मे न तो हंस होते है, और न ही सभी पर्वतो मे रत्न, तथापि कवियो ने इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत कर कवि-परम्परा का निर्वाह किया है।

---

१ असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।
नियमस्य पुरस्कारात्सम्प्रदायस्त्रिधा कवे॥
- केशवमिश्र- अलंकारशेखर- मरीचि- १५

जातिगत सत का अनिबन्धन- शास्त्र और लोक मे वर्णित पदार्थ का उल्लेख न करणा सत् का अनिबन्धन है। काव्यकृतियो मे जातिगत सत् के अनिबन्धन के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है, उदाहरणार्थ वसन्त मे मालती के पुष्प का होने पर भी उसका वर्णन न करना। **"न स्याज्जातीवसन्ते"** इत्यादि कवि-सम्प्रदाय के सिद्धान्त है। चन्दन के वृक्षो मे पुष्प, फल तथा अशोक मे फल होने पर भी उनको पुष्पफलविहीन निरूपित करना।[१] ऐसे वर्णनो मे वृक्ष के पूर्ण सौन्दर्य की भावनाओ का उनके वर्णन से विघात होता है, शायद इसी हेतु उनका वर्णन कवियो ने नही किया।

जातिगत नियम अनिबन्धन- वस्तु की जातिगत नियम अनिबन्धन मे वस्तु की अनेकत्र स्थितियो का एकत्र निबन्धन रहता है। यथा- मकरो की स्थिति समुद्र के अतिरिक्त नदियो मे भी होती है, परन्तु समुद्र के गंभीर जल मे ही उनकी स्थिति दर्शाना कवियो को अभीष्ट है। इसी प्रकार मोतियो की उत्पत्ति ताम्रपर्णी नदी मे बतलाना।[२]

द्रव्यगत कविसमय- ज्योत्स्ना का घड़े मे भरा जाना, अन्धकार का मुष्टिग्राह्यत्व और सूचीभेद्यत्व द्रव्यगत कविसमय है। न तो अन्धकार को मुट्ठी मे पकड़ा जा सकता है, और न ही चॉदनी को घड़े मे भरा जा सकता है, परन्तु इस प्रकार का वर्णन कर कवियो ने सहृदय का चित्ताह्लादन किया है।

सद्द्रव्य का अनिबन्धन- सद्द्रव्य के अनिबन्धन के प्रमाण मे कृष्णपक्ष मे भी ज्योत्स्ना का अस्तित्व होने पर भी उसे केवल शुक्लपक्ष मे दर्शाना और अन्धकार का वैशिष्ट्य शुक्लपक्ष मे होने पर भी उसे केवल कृष्णपक्ष मे दर्शना।

---

१ मालत्या वसन्ते, पुष्पफलस्य चन्दनद्रुमेषु फलस्याशोकेषु हेमचन्द्र।

- काव्यानुशासन प्रथम अध्याय।

२ समुद्रेष्वेव मकरा:, ताम्रपण्यामेव मौक्तिकानि - काव्यानुशासन- अध्याय १

द्रव्यगतनियम का अनिबन्धन - मलयाचल मे ही चन्दन की उत्पत्ति तथा हिमालय मे ही भूर्जपत्रो की उत्पत्ति का वर्णन करना, जब कि लोक मे तदितर स्थलो मे भी उनकी उत्पत्ति दर्शनीय है, किन्तु हिमालय मे उनका वर्णन सौन्दर्यपूर्ण विकास प्राप्त करता है। अतः कवियो ने उनकी उत्पत्ति हिमालय मे ही नियत की है।

क्रियागत कविसमय- असत् क्रियाओ का निबन्धन कवियो द्वारा असत्यकल्पना है कविसमय की सुदीर्घ परम्परा मे रात्रिवेला मे सरित् तट पर चक्रवाक मिथुन का पृथक् हो जाना, चन्द्रिका द्वारा प्रसन्न होने वाले चकोर के द्वारा चन्द्रिकापान के विधान मे कवियो का अभिप्राय शायद उसके द्वारा पूर्णतृप्ति सम्बन्धी भावना से प्रेरित है। व्यावहारिक जगत् मे ऐसी क्रियाएँ पूर्णतया असत् है।

क्रियागत सत् का अनिबन्धन - क्रियागत सत् के अनिबन्धन मे शेफालिका पुष्प के झरने का सौन्दर्य सूर्योदय से पूर्वकाल मे कवियो द्वारा किया गया है, जब कि लोक मे सूर्योदय के बाद भी विरलरूप मे उसका झरना देखा जाता है।

क्रियागत नियम का अनिबन्धन - इसके अन्तर्गत ग्रीष्म और वर्षाकाल मे भी होने वाले कोकिला-कूजन का वर्णन केवल वसन्त मे समाविष्ट है।

गुणगत कविसमय- राजशेखर के मत मे लोक मे अविद्यमान गुणो का निबन्धन कवि-सम्प्रदाय की मर्यादा के अनुकूल है। यथा- भौतिक पदार्थो मे शुक्लत्व, नीलत्व आदि गुण देखे जाते है, परन्तु कवियो ने यश और हास जैसे अमूर्त विषयो का भी शुक्लत्व वर्णित किया है। हॅसने मे दिखाई पड़ने वाली दन्तपंक्ति के श्वेतत्व के प्रभाव से कवियो ने हास का श्वेत रंग स्वीकार किया है।

गुणगत सत् के अनिबन्धन - इसके अन्तर्गत कुन्द- कुड्मल की रक्तिमा उसका प्रकृति गुण है। कामियो के दॉत का रक्तवर्ण तथा प्रियङ्गुपुष्पो का पीतवर्ण प्रसिद्ध है, परन्तु कवियो ने उनको श्वेत रूप मे वर्णित किया है।

इसके अतिरिक्त कवि परम्परा मे स्वर्ग्य और पातालीय वर्णन पद्धतियॉ भी प्राप्त होती है, जिनके पालन से कवियो ने अपनी रचनाओ को रमणीयता प्रदान की है। कामदेव के ध्वज-चिन्ह को कही मकर, तो कही मत्स्यरूप मे चिह्नित किया गया, जो तर्क से परे है, क्योकि दोनो तो तत्त्वत एक ही है। इसी प्रकार पुराणो मे चन्द्रमा की उत्पत्ति कही अति ऋषि के नेत्र से हुई है, तो कही समुद्र से, परन्तु कवियो ने चन्द्रोत्पत्ति के वर्णन मे ऐक्य का ही अनुवर्तन किया है।

इसी प्रकार कविजगत् मे वृक्षो की दोहद-क्रिया के वर्णन मे कवि समय का विलक्षण रूप प्राप्त होता है। **"दोहदम् आकर्षं ददाति दोहदः"** अर्थात् दोहद से तात्पर्य प्रबल अभिलाषा या गर्भिणी की अभिलाषा है, परन्तु कवि जगत् मे दोहद का अभिप्राय वह द्रव्य-क्रिया है, जिसके द्वारा वृक्षो मे अकाल मे पुष्प-फलोद्गम होता है। शब्दार्णवकार के शब्दो मे इसका अभिप्राय अधिक स्पष्ट है -

तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।

पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात् तु तत्क्रिया।।

दोहद क्रिया का समुच्चयात्मक विवरण इस छन्द मे प्राप्त होता है-

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रयङ्गुर्विकसति बकुलः शीदगण्डूषसेकात् ।

पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ बीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।।

मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता

च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरोर्ननात्कीर्णिकारः।।

अर्थात् - कवि प्रसिद्धि है कि प्रियङ्गुलता सुन्दरियो के स्पर्श करने से विकसित होता है। केशर वृक्ष को कामोद्दीपक बताया गया है, जो सुन्दरियो के द्वारा मुख मे मदिरा भरकर कुल्ला करने (मुखगण्डूषसेचन) से विकसित हो जाता है।[१] इसी प्रकार रक्ताशोक मे सुन्दर युवती के वामपाद प्रहार से पुष्प निकल आते है।[२] 'तिलक' स्त्रियो के देखने से विकसित होता है। 'कुरबक' रमणियो द्वारा आलिङ्गन से विकसित होता है। 'चम्पक' सुन्दर और कोमल हास से, 'आम्र' मुख की हवा से, तथा 'कर्णिकार' सुन्दर स्त्रियो के नृत्य से विकसित होता है। कवियो द्वारा वृक्षो की दोहद-क्रिया का वर्णन कवि-जगत् मे भले ही सत्य हो, लौकिक-जगत् की दृष्टि मे सत्य से नितान्त परे है, फिर प्रश्न उठता है कि कवियो ने ऐसा वर्णन किया ही क्यो? क्या इसे कवि वर्णन की अन्धपरम्परा कहा जाय? जो लौकिक जत् मे दृष्टिगत ही नही होती, अथवा इसमे कोई वैज्ञानिक सत्य है। मेरे विनम्र विचार मे निश्चित रूप से इसमे सत्य का कुछ अंश अवश्य ही हो सकता है, क्योकि अङ्गनाओ का कोमल स्पर्श विलक्षण आनन्द का उत्पादक होता है अत: रमणियो के स्पर्श और पाद प्रहार से वृक्षो मे होने वाली अमूर्त, सूक्ष्म और विलक्षण क्रियाओ पर विज्ञान के आलोक मे प्रकाश पड़ ही सकता है, जिसके माध्यम से कवि समय की इन प्रसिद्धियो का रहस्योद्घाटन सम्भव है। वनस्पतियॉ मानव की चिरसहचरी रही है। अतः मानव के साथ उनके सम्बन्ध के साक्ष्य की आवश्यकता नही है। कुछ भी हो, पर इतना तो नितान्त सत्य है कि 'छुईमुई' के पौधे पर मानव के स्पर्श से जो संकोच होता है निश्चित रूप से उसमे

---

१ पादाघातादशोको विकसति बकुल योसितामस्यामद्यैः। - साहित्यदर्पण ७/२४

२ रक्ताशोकश्चलकिसलय: केशरश्चात्रकान्तः,
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृत्तेर्माधवीमण्डपस्य।
एक: सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी,
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरा दोहदच्छद्मनाऽस्या:।। - उत्तरमेघ १८

लज्जा का भाव निहित है, क्योकि स्पर्शन् क्रिया के कुछ ही क्षण बाद इस पौधे द्वारा पुनः अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर ली जाती है, इस साक्ष्य के आधार पर हम यह कह सकते है कि प्राद-प्रहार से अशोक के विकास मे निश्चित रूप से कोई वैज्ञानिक सूक्ष्म क्रिया छिपी है, परन्तु लौकिक जगत् मे स्थूलदृष्टि से देखने पर कवि द्वारा यह वर्णन सत्याभास भले ही हो, पर पूर्णतया सत्य नही है, क्योकि जगत् तो सत्य उसी को स्वीकार करता है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो।

इस प्रकार कवि समय भारतीय काव्यसाहित्य की क्रमागत वर्णन परम्परा ही नही,अपितु विश्वसाहित्य के विभिन्न रूपो मे भी यह प्राप्त होता है जो पश्चात्य काव्यालोचको द्वारा Poetic convention के रूप मे व्याख्यात है। इसका मूल उद्देश्य वर्ण्यवस्तु को भावानुकूल आदर्शरूप प्रदान करके उसे काव्योपयोगी चारूत्व एवं रमणीयता से मण्डित करना है। कुन्तक ने ऐसी ही वस्तु को कवि कौशलजन्य आहार्य-वस्तु कहा है। कुन्तक की दृष्टि से देखा जाय तो कविसमय मे वर्ण्यवस्तु नितान्त अस्तित्व हीन एव काल्पनिक नही होती। वह सत्तामात्र से प्रतिभासित होती रहती है। कवि अपने कौशल द्वारा उनमे कुछ अलौकिक शोभातिशयकी उद्भावना कर देता है, जिससे उसका सत्तामात्र से प्रतीत होने वाला मूलरूप आच्छादित हो जाता है। वह लोकोत्तर सौन्दर्य से सम्पन्न एक नया रूप धारण कर लेता है।[१] कुन्तक का चिन्तन कविसमय के पक्ष मे भले ही हो, परन्तु जगत् तो उसे ही सत्य स्वीकार करेगा जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष करता है। अतः कविसमय कवियो द्वारा वस्तुओ मे हृदयहारिणी रमणीयता के आविर्भाव हेतु उनकी नूतन एवं अपूर्व उद्भावना ही है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र- भारतीयकाव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० सं० २६९

कवि-समय की अवधारणा का मूल्याङ्कन

आचार्य राजशेखर द्वारा व्याख्यात कवि समय भारतीय काव्यजगत् का वह सौन्दर्याभिधायक तत्त्व है जिसके द्वारा कवि अपनी रचना मे आदर्श और रमणीयता का पुट समाहित करता है। भारतीय आचार्यो ने इसके द्वारा जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया चार प्रकारो मे वर्ण्य-विषयो मे प्रौढि प्रदान करने की चेष्टा की। अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ-निबन्धन होने के कारण इसमे वस्तु का प्रकृतगोचर से भिन्न रूप ग्राह्य होता है। शायद इसके मूल मे कवि का उद्देश्य वस्तु को अपनी भावनानुकूल रमणीय अर्थ प्रदान करने का रहता हैं। प्रातिभज्ञान और कल्पना के आश्रय से वस्तु को काव्योपयोगी बनाना कवियो का स्वभाव है। काव्य मे वस्तु के ऐसे रूप का निबन्धन जो सहृदयो के हृदय मे आह्लाद प्रदान करे आवश्यक ही है। अत कहा जा सकता है कि आदर्शात्मक भावना से प्रेरित होकर ही कविसमय का आविर्भाव हुआ जिसका अभीष्ट वस्तु-सौन्दर्य का धनीभूत एवं उत्कृष्ट रूपउपस्थित करना है।

वस्तुत काव्यकृतियो के समान सन्दर्भ मे परम्परा रूप से आवृत्त होने वाले तत्त्व रूढियाँ कहलाते है। कवि काव्य मे ऐसे-तत्त्वो का समावेश एक समान मनःस्थिति अथवा भाव को जागरित करने हेतु करता है। काव्य के एक पक्ष मे कवि अपने अमूर्त भावो एवं विचारो की अभिव्यक्ति करता है, दूसरे पक्ष मे मूर्त पदार्थो को प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत रूप मे अने भावो और विचारो का आधार बनाता है। अभिव्यक्ति पक्ष मे भाषा, छन्द, रूप विधान रचना प्रक्रिया के अंग कहे जा सकते है। अभिव्यङ्ग्य पक्ष मे वर्ण्यवस्तु सम्बन्धी रूढियो का समावेश रहता है यथा- संध्या, ऊषा नगर, उद्यान, सरित, ऋतु आदि। सामान्यतः काव्य मे औदात्य के प्रस्फुटन और प्रभावोत्पादकता की रक्षा हेतु रूढ़ियो के पालन की प्रवृत्ति अवांछित मानी जाती है, क्योकि वे

नूतन सौन्दर्यातिशय की सामर्थ्य से विहीन हुआ करती है। सहृदय की अभिरूचियॉ नित्यप्रति परिवर्तित होती रहती है। अत: सौन्दर्यानुभूति कराने वाले कौशलो और तत्त्वो मे भी परिवर्तन आवश्यक है। हॉ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उनके आश्रय से कवि जिनमे प्रातिभज्ञान का अभाव रहता है, जो नवनवोन्मेष मे अक्षम रहते है सहजतापूर्वक काव्य-सर्जना करने मे समर्थ हो जाते है।

अतः राजशेखर द्वारा स्थापित कवि समय कविशिक्षा का अभिन्न अङ्ग है, जो उनके पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यो की कृतियो मे तो किञ्चिन्मात्र ही उपलब्ध रहा हो परन्तु उनके परवर्ती काव्यशास्त्र मे विभिन्न रूपो मे दृष्टिगोचर होता है। 'हेमचन्द्र' द्वारा 'काव्यानुशासन', 'देवेश्वर' द्वारा 'कविकल्पलता' और 'अरिसिंह' एवं 'अमरचन्द' द्वारा 'काव्यकल्पलता' वृत्ति आदि मे लक्षणग्रन्थकारो ने उनके चयन मे यत्र-तत्र स्वेच्छा से काम लिया है। भाषा और व्याकरण सम्बन्धी कवि-समयगत शिक्षा का उल्लेख 'अलंकारशेखर' मे हुआ है। 'अप्पयदीक्षित' ने 'चित्रमीमांसा' मे अलङ्कार के अलंकारत्व को कविप्रसिद्धि के माध्यम से हृदयावर्जक हो जाना स्वीकार किया है।[१] कविसमय को मम्मट ने दोषपहाररूप मे वर्णित किया है उन्होने ऐसे अर्थ का जो लोकविरुद्ध होने पर भी जो कविसमय सिद्ध हो आदोषत्व स्वीकार किया है।[२] जयदेव ने विद्या विरुद्ध अर्थ की कविसमय के कारण अदोषता स्वीकार की है। विश्वनाथ ने व्याख्यातार्थ मे निर्हेतुता को दोष नही माना है।[३] उन्होने तो

---

१ सर्वोऽपि ह्यलङ्कार: कविप्रसिद्धयनुरोधेन।
हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलङ्कारता भजते।।
- बलदेव उपाध्याय 'भारतीय सा०शा० भाग १, पृ० ८

२ - काव्यप्रकाश ७/७६

३ निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषता नैव गच्छति। - साहित्यदर्पण ७/२२

कवि समयाख्यात अर्थ मे ख्यातविरुद्धता को गुण भी कहा है।[1] आचार्य मम्मट ने युवती के पादाघात से अशोक मे अंकुर फुटने के कथन को कविसमय विरुद्ध होने से दोष कहा है, क्योकि कविसमय के अनुसार उसमे पादाघात होने से पुष्पोद्गम हुआ है, अङ्कुरोद्गम नही।[2] आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा उत्तम काव्य के १२ भेदो मे से आठ भेद कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु एवं अलंकार पर आधारित है। केशवमिश्र ने 'अलंकारशेखर' मे कविसमय के अर्थ मे 'कवि-सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग किया है जिसमे उन्ही कविप्रसिद्धियो का उल्लेख किया है जिनका उल्लेख कविसमय के अन्तर्गत पहले से होता आ रहा है। केशवदास ने 'कविप्रिया' मे इसी अर्थ मे 'कविमत' शब्द का प्रयोग किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कविसमय की अवधारणा कवियो की सर्जनात्मकता के परिप्रेक्ष्य मे कविशिक्षा का अपरिहार्य अङ्ग है। इसके द्वारा कवि अपने काव्य मे वस्तु के ऐसे रूप का निबन्धन करता है, जो सहृदयो के हृदय मे आह्लाद का आविर्भाव करे। आदर्शात्मक भावना से प्रेरित होकर ही कविसमय का आविर्भाव हुआ जिसका अभीष्ट वस्तु को सौन्दर्यमय एवं धनीभूत एवं उत्कृष्ट रूप मे उपस्थित करना है। इसके मूल मे कवि का उद्देश्य वस्तु को प्रकृतगोचर से भिन्नरूप मे ग्रहण कर उसे अपने प्रातिभज्ञान और कल्पना के आश्रय से काव्य हेतु उपादेय बनाना है। कवि-पदार्थो का ग्रहण काव्य मे

---

१ कवीनां समये ख्याते गुणा ख्यातविरुद्धता। - वही ७/२२

२ अपरिसरं गोदापर्या परित्यजताध्वगा
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवाद्भरिहेक्ष्यताम् ॥
इह हि विहितो रकताशोक कयापि हताशया।
चरणनलिनन्यासोद्ञ्चन्नवाकुर कञ्चुक:॥
अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गम कविषु प्रसिद्धो न पुनङ्करोद्गम।
-काव्यप्रकाश ७/७८

सौकर्य के लिए करता है। वह पदार्थविशेष के कविसमय सिद्धरूप को लेकर उसके द्वारा अपनी प्रतिभा के बल से मार्मिक भावाभिव्यञ्जना करता है 'कविसमय' के प्रथम व्याख्याता आचार्य राजशेखर कवि की स्वतन्त्र अनुसन्धान वृत्ति के पूर्णपक्षधर थे। उनके मत मे "अनुसन्धान शून्य कवि के भूषण भी दूषण बन जाते है। अतः कविसमय मे कवि की मूलवृत्ति वस्तु को विशेष चारूत्व से मण्डित करने की रहती है। काव्य के प्राणभूत तत्त्व रस की साधना मे इसका देयांश भले ही न हो, परन्तु उसके उपादानो को यह व्यापक आधार प्रदान करता है।

अध्याय-७

उपसंहार

है, क्योकि यहाँ कवि को 'ऋषि' तथा उसकी सर्जनामूलक प्रतिभारूप शक्ति को 'आर्षज्ञान' अथवा प्रज्ञारूप स्वीकार किया, जबकि पाश्चात्त्य काव्यचिन्तको ने काव्य को अनुकरण कहा है। उनके चिन्तन मे कवि का सर्जनात्मक व्यापार एक अप्रत्याशित दैवीय एवं अलौकिक घटना के रूप मे व्याख्यात है। उन्होने कवि-सर्जना को सर्जन-प्रेरणा के प्रभाव मे भावो एवं संवेदनाओ का समन्वित प्रस्फुटन कहा है। 'प्लेटो' का मानना है कि "कवि काव्य के द्वारा भावो एवं संवेगो को द्रवित करता है, जिससे जीवन पर बुद्धि का शासन न होकर भाव का शासन हो जाता है। अतः हम लोगो को अपनी इस मान्यता पर दृढ रहना है कि गणराज्य मे केवल उसी काव्य का प्रवेश स्वीकार्य हो सकता है जिसमे ईश्वरपरक स्तुति और प्रसिद्ध व्यक्तियो की प्रशंसा हो।"[१] टी० एस० ईलियट भाव एवं संवेग को काव्य का उपादान मानते हुए भी काव्य की महत्त के मूल मे कवि के भाव, संवेगो आदि की उदात्तता को स्वीकार नही करते। उनके मत मे "काव्य मे पूर्ण मौलिक नाम की कोई वस्तु नही, क्योकि हम अतीत से सर्वथा विच्छिन्न नही है, कवि का विकास उसके आत्म त्याग और व्यक्तित्व के निर्वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया ही"।[२]

भारतीयमत मे वस्तुतः काव्य कवि के अन्तर्जगत् की बाह्य अभिव्यक्ति है। अतः विचारणीय यह है कि पाश्चात्त्य विद्वानो के मत मे कवि के अन्तर्जगत् का वह कौन सा पहलू है जो शब्दार्थ रूप मे कवि के द्वारा बाह्यरूप मे अभिव्यक्त होता है? इस विषय मे उनके मत परस्पर भिन्न है।

---

१ "... .but we must remain fiım in our conviction that hymns to the gods and praises of famous men are only the poetry which ought to be admitted in our state

— The Rebuslic X, Dialouge. vol. I. Page 364.

२ It is this depersonalization that art may be said to approch the condition of scıence. —Slected Prose- P.-26.

मारितें बुद्धि को, **सांतायना** आनन्द को, **क्रोचे**, **हेनरी**, **वर्गसां** और **ज्वायस कैरी**, अन्तःकरण को (intution), सिगमड फ्रायड दमित इच्छाओ एवं अचेतन को, **टालस्टाय** संवेग को कवि द्वारा बाह्यरूप से अभिव्यक्त मानते है। भारतीय आचार्यो ने इसे कवि की रसात्मक संविद् का बाह्यप्रकाशन कहा है। रससमाहितचेता कवि अपनी अन्तर्भावनाओ को शब्दो द्वारा मूर्त स्वरूप प्रदान करता है, जो सहज होती है। सहजानुभूति और अभिव्यञ्जना को 'क्रोचे' एक मानते है भारतीय और पाश्चात्त्य निर्वैयक्तिकता मे भी अन्तर है। **टी०एस० इलियट** कवि के मन को असंख्य भावनाओ, पदावलियो, बिम्बो के ग्रहण एवं संचयन का आधान-पात्र मानते है, जहाँ ये सारे तत्त्व मिलकर एक नूतन यौगिक पदार्थ का निर्माण करते है। भारतीय आचार्यो के अनुसार देशकाल की परिधि से मुक्त होकर कवि अपने 'स्व' के त्याग द्वारा अपने उदात्तरूप भावो का साधारणीकरण कर लेता है जो काव्य मे निर्वैयक्तिक रूप मे प्रकाशित होता है। कविवर शैली "कल्पना की अभिव्यक्ति को काव्य तथा जिसमे यह शक्ति है उसे कवि कहते है।[१]" **स्टीफन स्पेण्डर** का मानना है कि "एक कवि पारदर्शी गहन एवं सोद्देश्य प्रज्ञा की ईश्वरीय प्रतिभा से युक्त हो सकता है अथवा वह अनाड़ी तथा मन्द भी हो सकता है, महत्त्व इसका नही है। महत्त्वपूर्ण तथ्य तो उसके अभिप्राय की अखण्डता तथा उस अभिप्राय को स्वयं को तिरोहित किये बिना कायम रखने की योग्यता है।[२]" कवि के

---

१ Poetry may be defeined as the expression of imagination, Those in whom it exists are poets.

— P B. shelly "A Defence of poetry "

२ A poet may be divinely gifted with a lucid, intense and purposive intelect, he may be clumsy and slow, that does not matter. What matters is integrity of purpose and ability to maintain the purpose without loosing oneself.

—creative Process P.- 115.

सर्जनात्मक स्वातन्त्र्य को सर्जना की प्रमुख विशेषता स्वीकार करते हुए **रिचर्ड सुचमैन** का कहना है कि "सर्जनात्मक चिन्तन की दो पारिभाषिक विशेषताएँ है - प्रथम, यह स्वायत्त है, न तो यह अनियन्त्रित है और न ही किसी बाह्यशक्ति के द्वारा नियन्त्रित, वरन् पूर्णतया कवि द्वारा आत्मानुशासित है। द्वितीय, यह नवीनरूप की ओर उन्मुख होती है इस अर्थ मे सर्जक उससे पूर्व परिचित नही होता।[१]" स्नुचमैन का यह चिन्तन भारतीय आचार्यो के सर्जनापरक चिन्तन से निश्चित तौर पर मेल खाता है नवीनरूप के सर्जन से उनका तात्पर्य न तो स्थूल का अनुकरण और नही अभूत से भूत की उत्पत्ति। कुन्तक इसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए कहते है कि- "कवि वर्ण्यमान अभूत पदार्थो की सृष्टि नही करता वरन अपनी प्रतिभा से लौकिक पदार्थो के मार्मिक रूपो का उद्घाटन करता है।[२]" पाणिनि द्वारा कर्ता की परिभाषा स्वतन्त्रतामूलक है।[३] आचार्य मम्मट कविकी सर्जना को नियतिकृति के नियमो से रहित, एकमात्र आनन्दस्वभावा तथा नवरसरूचिर के योग से समन्वित होती है।[४] रचना की मौलिकता पर आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि "कवि द्वारा उसकी सर्जना मे पहले देखे हुए अर्थ भी इस के परिग्रह से

---

१ Creative thinking has two defining characteristics first, it is autonomous, that is, it is neither random nor controlled by some fixed scheme or external agent but is wholly self directed, secondly, it is directed towards the production of new form, new in the sense that the thinker was not aware of the form before he began the particular line of the thought

—Creativity It is educational implication P 89.

२ यत्र वर्ण्यमानस्वरूपा पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते।

- वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०५

३ स्त्रवतन्त्रः कर्ता - अष्टाध्यायी १/४/५४

४ काव्यप्रकाश १/१

नवीन लगने लगते है।[१]" कवि की प्रतिभा पुराने अर्थो मे भी नवीन अर्थ भर देती है। यह नवीनता और मौलिकता अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनो ही स्तरो पर लक्षित होती है। कवि छाया को ग्रहण करता है जो पुनरुक्त रूप मे अवभासित नही होती।

वस्तुतः सर्जना का वैशिष्ट्य उसकी मौलिकता एवं नवीनता मे ही निहित होता है जिसके प्रभाव से विषयवस्तु एक होने पर भी कृतियॉ परस्पर भिन्न होती हैं। सर्जना एक संश्लेष है, जो विभिन्न तत्त्वो का सम्मिश्रण होने पर भी उसका अतिक्रमण कर एक स्वतन्त्र सत्ता बना लेती है। यह किसप्रकार जागतिक नियमो से परे चली जाती है तथा मानव से संवाद स्थापित कर लेती है यह आश्चर्य का विषय है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का चिन्तन सर्जना के कुछ रहस्यो का उद्‌घटन करता है वे कहते है कि- "जब मै सर्जन शब्द का प्रयोग करता हूॅ तो मेरा तात्पर्य है उसके द्वारा कुछ अचिन्त्य अमूर्तताओ ने मूर्त्त रूप ग्रहण कर लिया है, और यह उस सर्जन तथा हमारे बीच मे घटित होता है इसका सारतत्त्व विश्लेषित तो किया जा सकता है, किन्तु वह एकता जो उसका आत्मपरिचय होती है अविश्लेषित ही रह जाती है।[२]"

पाश्चात्त्य चिन्तन मे सर्जना सर्जक के आत्म से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्तिगत है तथा संकुचित स्वार्थ, व्यक्ति सम्बन्धो एवं निज योग क्षेम की भावना से परे होकर तदनुरूप स्वतन्त्ररूप मे अभिव्यक्त होने के कारण वस्तुगत है। इसका सम्बन्ध एक ऐसे सत्य से है। जो मानव-जगत् के लिए देशकालातीत एवं सर्वव्यापी है। यह किसी तथ्य या सिद्धान्त कथन से सम्बद्ध न होकर व्यक्ति-सत्य से सम्बद्ध है, वैयक्तिक होते हुएभी निर्वैयक्तिक है,

१ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ - ध्वन्यालोक ४/४

२ Art and Aesthetics — P. 55

आत्मगत होते हुए भी वस्तुगत है, यही इसकी अलौकिकता है। इसी अर्थ मे पाश्चात्त्य काव्य-चिन्तको ने इसमे वस्तु की अपेक्षा कवि के आत्मपक्ष को ज्यादा महत्त्व दिया है। इस आत्मवादी विचारधारा को ''स्वच्छन्तावाद'' की संज्ञा मिली जिसके उद्भावक कवि **'वर्ड्सवर्थ'** का कहना है कि ''सर्जना शक्ति-सम्पन्न भावनाओ का सहज स्फुरण है।[१]''

भारतीय चिन्तन मे सर्जना का सम्बन्ध उस मनोजगत् से है जो ध्यान, धारणा और समाधि की अवस्थाओ का बोध करके योग की अवस्था मे पहुँच जाता है मनोमय रचना-संसार एक नयी सृष्टि की कल्पना के साथ 'सविकल्पक' और 'निर्विकल्पक' समाधि अवस्थाओ के बीच संकल्प बनकर प्रकट होता है। दोनो समाधियो के बीच विभाजक रेखा खीचते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते है कि **''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः''** अर्थात् परिचित शब्द बिम्बो के आधार पर प्राप्त ज्ञान का नाम ही विकल्प है और अविद्यमान वस्तु की कल्पना ही उसे सविकल्पक बनाती है यहाॅ कवि की उस शब्दार्थमयी रचनाप्रक्रिया का अन्तरंग दर्शन आभासित है जो भारतीय काव्यशास्त्र मे 'प्रतिभा' के नाम से ख्यात है।

'प्रतिभा' को पाश्चात्त्य तथा प्राच्य दोनो काव्य-चिन्तक आचार्यो ने सर्जना का मूल कारक तत्त्व स्वीकार किया है, जो ईश्वर प्रदत्त अथवा दैवीय है। पाश्चात्त्य काव्यचिन्तक **'अरस्तू'** का मानना है कि ''काव्य के लिए विशिष्ट प्रतिभा से या काव्योन्माद से अलंकृत कवि की आवश्यकता होती है।[२]'' इस

---

१ Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. it takes its origin from emotion recollected in tranquility-
Wordsworth. —lyrical Ballads P-39

२ Hence it is that poetry demands a man with special gift for it or one with touch of madness in him
Aristotle

प्रतिभा अथवा काव्योन्माद के मूल मे नैसर्गिकं प्रेरणा विद्यमान रहती है। **'राबर्टहेरिक'** का कहना है कि "जब देवदूत हमारी कल्पनाके कलेवर को अनुप्राणित करके हमे काव्योन्माद से भर देते है तो काव्य का स्वतः स्फुटित स्रोत प्रवाहित हो उठता है। इस प्रेरणा के अदृश्य हो जाने पर कल्पना निष्क्रिय हो जाती है और सर्जन तब तक के लिए अवरुद्ध हो जाता है जब तक कि यह पुनः प्राप्त नही हो जाती है।" हेरिक का यह मत भारतीय सर्जनात्मक चिन्तना का ही प्रतिबिम्बन है। जहाॅ प्रतिभा को अलौकिक एव दैवीय कहा गया है आचार्य आनन्दवर्धन के मत मे सरस्वती स्वयमेव महाकवियो के समक्ष उस रसरुप अर्थतत्त्व को प्रवाहित कर देती है।[१] पाश्चात्त्य मत मे सर्जना मे सर्जक की पूर्व इच्छाओ का कोई सहयोग नही रहता है। यह बिना चिन्तन के अचानक पूर्णता की ओर उन्मुख हो जाती है। सर्जना की स्थिति धनीभूत उत्तेजनाकी अवस्था होती है। वे इसे आनन्दानुभूति का पर्याय कहते है। यह उत्तेजना आरम्भ मे घनीभूत वेदना के गुणो से अलकृत होती पर अभिव्यक्त हो जाने के बाद कलाकार को मुक्ति का अनुभव होता है। पूर्ण हो जाने पर कलाकार को वह स्वयमेव नूतन सी प्रतीत होती है, मानो वह किसी अन्य व्यक्ति की हो। पाश्चात्त्य काव्यमीमांसको की कवि की सर्जनात्मक अवधारणा के विषय मे १८ वी सदी के पश्चात् परिवर्तन हुआ, जिसमे कल्पना की प्रधानता हो गयी और प्रतिभा को गौण माना जाने लगा। हींगेल ने कवि की सर्जनात्मकता को तीन रूपो मे देखा -कल्पना, प्रतिभा, प्रेरणा। प्रतिभा को उन्होने ऐसी निर्माणक क्रिया कहा जिसके माध्यम से कलाकार आवश्यक वैचारिक तथ्य को एक ऐसा यथार्थ कलेवर प्रदान करता है जो उसकी निर्माण क्षमता का परिचायक होता है। प्रतिभा को उन्होने ऐसे विधायक कौशल की संज्ञा दी जो कलात्मक मनःसृष्टि को भौतिक माध्यम से

---

१ सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम् ।। - ध्वन्यालोक १/६

प्रकट करने का प्रमुख साधन है। **'शापेनहावर'** का चिन्तन इस तथ्य पर बल देता है कि प्रतिभा स्वतन्त्ररूप से केवल वैयाक्तिक तथ्यो के सापेक्षिक महत्त्व से ही अवगत नही होती। यह ऐसे तथ्यो तथा विचारो से भी पूर्ण रहती है जो विशुद्ध ज्ञान के विषय है।

इस प्रकार आरम्भ मे दोनो साहित्य प्राच्य और पाश्चात्त्य कवि के सर्जन-क्रिया के मूल आश्रय को दैवीय माना परन्तु बाद मे विज्ञान के साथ पाश्चात्त्य विचारको ने दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को अमान्य घोषित कर दिया। **'गेरार्ड'** ने स्वीकार किया कि सर्जना की गति तब तक और तीव्र हो जाती है जब तक मस्तिष्क विषयाधीत होकर आनन्दमग्न नही हो जाता। इसे देखने से ऐसा ज्ञान होने लगता है मानो यह दैवीय प्रेरणा से प्रोचित है। रसगङ्गाधरकार के निम्नांकित श्लोक से गेरार्ड के चिन्तन पर प्रकाश पड़ता है-

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।

सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।।[१]

रसगंगाधरकार ने प्रतिभा को कारण तथा कवि के मन मे घटनाकुकूल शब्दो की उपस्थिति का साधन कहा है **'गेरार्ड'** ने इसे **'सर्चिंग आउट द नेसेसरी आइडिया'** (Searching out the nccessary idea) कहा है। संस्कृत-साहित्य मे आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा के कारयित्री एवं भावयित्री रूप से दो भेद किया है। पाश्चात्त्य साहित्य मे क्रिएटिव (creative) एवं क्रिटिकल जीनियस (critical Genius) का उल्लेख प्राप्त होता है। कारयित्री प्रतिभा को क्रियेटिव जीनियस (creative Genius) तथा भावयित्री प्रतिभा को क्रिटिकल जीनियस (Critical Genius) का समानार्थी माना

---

[१] रसगङ्गाधर आनन-१

जा सकता है। सहजा, आहार्या औपदेशिक के भेद से कारयित्री के तीन भेद होते है। पाश्चात्य साहित्य मे एडिशन के, जीनियस (Genius) को दो भागो मे, नेचुरल जीनियस (Natural Genius) और आर्टफुल जीनियस (Artful Genius) (नैसर्गिक प्रतिभा कलात्मक प्रतिभा)। एडिशनर के पश्चात् युंग ने शैशवीय या अपरिपक्व प्रतिभा, इन्फेन्टाइन जीनियस (Infantine Genius) परिपक्व प्रतिभा, ओरिजिनल जीनीयस (origenal Genius) का उल्लेख किया है। भारतीय वाड्मय की सहजा प्रतिभा का नेचुरल जीनियस (Natural Genius) से पर्याप्त साम्य है। आहार्या या औपदेशिकी आर्टफुल जीनियस (Artful Genius) या इनफेन्टाइन जीनियस (Infantine Genius) और मैकेनिकल जीनियस (Machainical Genius) के समान ज्ञात होती है इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य का 'पोएट' (Poet) और पोएटास्टर (Poetaster) 'क्रिटिक' (Critic) और 'क्रिटिकास्टर' (Criticaster) का विवेचन भावयित्री प्रतिभा के तत्त्वभिनिवेशी आरोचिकी, अविवेकी, सतृणाभ्यवहारी की अर्थसंगति को स्पष्ट करता है।

पाश्चात्य आलोचको के मत मे कविकी सर्जनात्मक क्रिया विभिन्न तत्त्वों को संश्लेषित कर एक समन्वित योजना की परिचायक होती है। यह सदैव नूतन सामञ्जस्य के योग से प्रारम्भ होती है, जो जटिल होता है फिर भी इसमे सरलीकरण की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

भारतीय साहित्य शास्त्रियो ने कवि की प्रतिभा को प्राक्तन तथा अद्यतन संस्कारो के परिपाकस्वरूप मे उसे 'सवासन' घोषित किया है, जबकि पाश्चात्य साहित्य-मीमांसको मे जन्मान्तरागत वासना की कल्पना प्रायः नही मिलती। भारतीय चिन्तक कवि वासना को दैवीकृपा एवं प्राक्तन पुण्यकर्मो का परिणाम मानते हुए उसे उच्चस्तरीय शक्ति रूप मे परिकल्पित करते है।

भारतीय आचार्यो की यह धारणा कि पूर्ण समाधि एवं चित्तविगलन की दशा मे काव्य-सर्जना होती है, पाश्चात्य आचार्यो मे नही मिलती। **'प्लेटो'** का मानना है कि काव्य-सर्जना तभी होती है, जब कवि आत्मविस्मृत होजाता है किन्तु आत्मविस्मृति की यह दशा सत्त्वोद्रेक की स्थिति से तुलनीय नही, क्योकि वे कहते है, कि "कवि जब तक पूर्णत प्रेरित तथा आविष्ट होकर विक्षिप्त एवं बोध शून्य नही हो जाता तब तक वह सर्जना मे समर्थ नही होता"[१] आत्मविस्मृति के क्षणो मे कवि एक आरोपित व्यक्तित्त्व धारण कर लेता है। जिसके द्वारा काव्य-सर्जना करता है। सस्कृत-काव्यशास्त्रीय अवधारणा मे काव्य-सर्जना ज्ञानात्मक एवं चैतन्यस्वरूप है, जो पाश्चात्य मत से भिन्न है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्य चिन्तन परम्परा मे विद्वानो का एकपक्ष वर्ग, संरचना एवं रुप-विधान पर बल देता है। तो दूसरा आत्मपक्ष पर। भारतीय परम्परा मे रूप तथा भाव मे अङ्गाङ्गी सम्बन्ध माना गया है जिसका मानसिक विश्लेषण तो सम्भव है पर तात्त्विक विच्छेद नही। इनके अनुसार रूप मन के संस्कार को ध्वनित करता है। इस प्रकार रूप और चित्तवृत्ति की तात्त्विक एकता स्वीकार की गयी है, जब कि पाश्चात्य चिन्तन परम्परा मे रूप को संरचनात्मक मानते हुए उसे भाव से पृथक् कल्पित किया गया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टिकोण वस्तुवादी एव विश्लेषणपरक है। यही कारण है कि कवि के सर्जनात्मक पक्ष की मीमांसा मे किसी ने बुद्धि को प्रधानता दी, तो किसी ने अन्तःकरण को, किसी ने सम्पूर्ण मानस को। वस्तुतः भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सर्जना की अवधारणा मे जो भेद परिलक्षित होता है उसके मूल मे उनकी चिन्तन प्रणाली एवं दर्शन का अन्तर है। पाश्चात्य चिन्तन विज्ञान से प्रभावित रहा है। अतः वहाॅ सर्वत्र तर्क एवं बुद्धि का

---

१ Dilouges of plato. vol. I P 855

एकछत्र साम्राज्य दिखायी देता है, जब कि भारतीय चिन्तन आस्तिकता की परिधि मे पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। यहाँ चिन्तन के मूल मे धर्म सदा से विद्यमान रहा जिसका प्रभाव भारतीयो के उदार दृष्टिकोण और भाव एवं आस्था से ओत-प्रोत होने मे परिलक्षित होता है। पाश्चात्त्य चिन्तन विज्ञान के प्रभाव से केवल बुद्धि पर आश्रित हो गया। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो पश्चिमी प्रवृत्ति वह है जिसमे प्रेरणा का मूलस्रोत आत्मा से दूर कही बाह्यबिन्दु है और भारतीय वह प्रवर्तित है जो आत्मस्थित शक्ति से प्रेरणा एवं स्वरूप ग्रहण करती है।

अतः सर्जना एक ऐसी निर्मित है जिसमे कवि का अन्तर्मन प्रतिविम्बित होता है। यह कवि की मानसीसृष्टि है जो शब्दार्थो मे रूपायित हो जाती है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे माया कहा है "मनुष्य जिन कलाकृतियो का निर्माण करता है, वे एक प्रकार की माया ही है। उदाहरण के लिए चित्रलिखित शकुन्तला वास्तव मे शकुन्तला नही है, कागज है, रंग है, रेखा है। मृगतृष्णा का पानी लौकिक पानी नही है बल्कि मानस-जगत् का कल्पित है"[१] इस प्रकार सर्जना सर्जक मन का वह व्यापार है जो स्वायत्त है, जिसमे वह अपनी सूक्ष्म, तलस्पर्शिनी व्यापक एवं असाधारण अन्तर्दृष्टि से वस्तु मे निहित सत्य एवं सौन्दर्य का पूर्ण साक्षात्कार करके उसे प्रसङ्गौचित्यरूप से अभिव्यक्त कर उसमे सहृदयो के हृदय मे आनन्दातिरेक उत्पन्न करने की सामर्थ्य भर देता है।

---

१ कालिदास की लालित्य योजना, पृ० ११४

शोध-सहायक ग्रन्थमाला

1.	काव्यप्रकाश	मम्मट, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर स0 डॉ0 नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लि0 वाराणसी, सवत् 2042 वि0, षष्टम संस्करण
2	काव्यमीमासा	राजशेखर, हिन्दी टीका, गगासागर राय चौखम्बा, सुरभारती, सन् 1982 तृतीय सस्करण
3	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ, व्याख्याकार-सत्यव्रतसिह चौखम्बा सुरभारती 1982 षष्टम सस्करण
4	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक, व्याख्याकार राधेश्याम मिश्र चौखम्बा सस्कृत संस्थान वि0सं0 2029, चतुर्थ संस्करण
5	नाट्यशास्त्र	भरत अभिनवभारती सहित सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी प्रेस 1971 चतुर्थ संस्करण
6	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, व्याख्याकार विश्वेश्वर सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र ज्ञान मण्डल लि0 वि0सं0 2042 तृतीय सस्करण
7	रसगंगाधर	पण्डितराजजगन्नाथ, हिन्दी व्याख्याकार श्री मदनमोहन झा, चौखम्बा प्रकाशन 1987 षष्ठ सस्करण
8	ध्वन्यालोकलोचन	अभिनवगुप्त
9	विक्रमाङ्कदेवचरितम्	विल्हण, व्याख्याकार डॉ0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, वि0सं0 2055 पचम संस्करण
10	अभिनवभारती	अभिनवगुप्तपादाचार्य, सं0 एम0राम कृष्ण कवि एवं के0 एस0 रामास्वामी शास्त्री शिरोमणि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, द्वितीय स0 1956
11	अग्निपुराण	महर्षि वेदव्यास, सं0 राजेन्द्रलता मित्रा, प्रका0 एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, 1976
12	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास, व्याख्याकार डॉ0 सुरेन्द्र देव शास्त्री, प्रकाशक रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद 1979
13	ईशावास्योपनिषद्	स0 तारिणीश झा : रामनारायणलाल बेनीमाधव,

		इलाहाबाद-2 तृतीय सस्करण, 1976
14	काव्यप्रदीप	महा0 श्री गोविन्द, टीकाकार बैद्यनाथ, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, तृतीयावृत्ति, 1933
15	काव्यानुशासन, 1-2	आचार्य हेमचन्द्र स0 रसिकलाल सी0 पारिख, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-7 1938, प्र0स0
16	काव्यालंकार	भामह, भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , पटना, वि0 2019
17	काव्यालकार सूत्रवृत्ति	वामन, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली, सन् 1954
18	काव्यादर्श	दण्डी, व्या0 श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास 1952
19	काव्यालकार	रुद्रट, व्या0 डॉ0 सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन दिर्ली-9, प्रथम संस्करण 1965
20.	कुमारसभव	कालिदास, स0 सूर्यकान्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली 1962 प्र0स0
21	कठोपनिषद्	भाष्यकार श्री रग रामानुजमुनि सं0 डॉ0 के0सी0 बरदाचारी एव डी0टी0 तात्ताचार्य श्री वेकश्टेश्वर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट तिरुपति, 1948
22	नीतिशतक	भतृहरि, टी0 कृष्णचन्द्र शुक्ल रामनारायणलाल वेनीप्रसाद, इलाहाबाद चतुर्थ स0
23	महाभाष्यम्	पतजलि मुनि, व्या0 युधिष्ठिर मीमांसक श्री प्यारेलाल द्राक्षा देवी न्यास (ट्रस्ट) दिल्ली, प्र0 स0 वि0सं0 2029
24	श्रीमद्भगवद्गीता	महर्षि वेदव्यास, व्याख्याकार स्वामी चिन्मयानन्द सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट कानपुर
25	मालविकाग्निमित्र	कालिदास, व्याख्याकार तारिणीश झा रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, प्र0 सं0 1964
26	मेघदूत (पूर्वमेघ, उत्तरमेघ)	कालिदास, सं0डॉ0 शिवशरण शर्मा, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, संस्करण 1969
27	व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट राजानक रूय्यक और मधुसूदनी व्याख्या

		सहित, सं0 श्री मधुसूदन मिश्र, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला नं0 121 चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1936
28	रामायण	वाल्मीकि, अनु0 चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद तृ0 स0 1958
29	वाक्यपदीयम् प्रथमभाग	भर्तृहरि स0 क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (91) वाराणसी श स0 1885
30	कवि और काव्य	डॉ0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय राका प्रकाशन इलाहाबाद 1989 प्रथम सस्करण
31	सृजनशीलता और सौन्दर्यबोध	डॉ0 निशा अग्रवाल हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1985 प्रथम संस्करण
32	संस्कृत आलोचना	पं0 बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ 1991, चतुर्थ संस्करण
33	आचार्य दण्डी एव संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	डॉ0 जयशंकर त्रिपाठी लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम सस्करण 1968
34	काव्य रचना प्रक्रिया	सं0 डॉ0 कुमार विमल, विहार हिन्दी ग्रन्थ एकेडेमी पटना
35	कवि का रचना व्यापार और साहित्य शास्त्र	डॉ0 जयशकर त्रिपाठी, स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद प्र0सं0 1977
36.	काव्यसर्जन और काव्यास्वाद	डॉ0 वेकेटशर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली प्र0सं0 1973
37.	कविरहस्य	व्या0 म0म0 गंगानाथ झा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1950
38.	अमरकोश 1-2	अमरसिंह सं0 प्रो0 ए0ए0 रामनाथन, दि आडयार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, भाग-1, 1971, भाग-2, 1978
39.	Aesthetic	B. Croce, Tr. D. Ainslie, Rupa & Co. Delhi 2nd ed. 1920
36.	Art Experience	M. Hiriyanna Kavyalaya publishers,

		Mysore. First pub. 1954
37	Aristole's theory of poetry & Fine Arts	S.H.Butcher; Dover pub. New York
38	Creative Process	Ed. Brewster Ghiselin, the new American Library of world Literature Inc. New York, 1961
39.	Creativity : its Educational Implication	Ed. J.C. Gowan, Demos & Torrence Pub. John. Wiley & Sons. Ine N.Y. Sydney London 1967
40.	Creativity	Sylvano Arieti; Basic Books, Inc. N.Y., 1976
41	The Dilogues of Plato (V0l I&II)	Tr. B. Jowett; Random House N.Y ; 3rd Ed.1920
42	Imagination	Harold Rug, Harper & Rug. N.Y. 1963